पाश्चात्य साहित्यालोचन

के

सिद्धान्त

श्री लीलाधर गुप्त

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक—

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,

इलाहाबाद

प्रथम सस्करण, मार्च १९५२

द्वितीय सशोधित संस्करण १९६७

मूल्य [illegible]२ ०० रु

मुद्रक—

आर सी राही,

वीनस आर्ट प्रेस,

३६५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

अपने मित्र और आदरणीय सहयोगी

तथा साहित्यानुरागी

प्रोफेसर सतीशचन्द्र देव, एम० ए०

को

समर्पित

प्रकाशकीय

"पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त" का यह दूसरा संस्करण है। अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ स्वर्गीय श्री लीलाधर गुप्त द्वारा लिखित इस ग्रन्थ का साहित्य-क्षेत्र मे पर्याप्त समादर हुआ है। पाठ्यक्रमो के लिए तो यह पुस्तक अनिवार्य मानी ही गयी है, साथ ही ग्रथ मे पाश्चात्य और भारतीय आलोचना के सिद्धान्तो का तुलनात्मक विवेचन होने के कारण हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे यह एक प्रामाणिक पुस्तक के रूप मे स्वीकृत की गयी है। मेरा विश्वास है, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन मे यह ग्रन्थ पहले की अपेक्षा और भी अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी,
इलाहाबाद
अगस्त १९६७

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

वक्तव्य

अन्य क्षेत्रो की भाँति आलोचना के क्षेत्र मे भी इस विषय के पश्चिमी साहित्यो से हिन्दी ने बहुत कुछ ग्रहण किया है और अब भी कर रही है, पर अभी तक पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तो का कोई प्रामाणिक ग्रथ प्रकाश मे नही आया। इसी अभाव की पूर्ति के लिए एकेडेमी ने इस ग्रथ को प्रकाशित किया है।

पुस्तक के विद्वान् लेखक बहुत दिनो से यह विषय प्रयाग विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओ मे पढाते रहे है, अत आप इस पर लिखने के सर्वथा अधिकारी है। पाश्चात्य सिद्धान्तो की विवेचना के साथ-साथ तुलनात्मक ढग से भारतीय सिद्धान्तो के दे देने के कारण पुस्तक और भी उपादेय हो गई है।

प्रस्तुत विषय पर पुस्तक लिखवाने के लिए कोर्ट आव् वार्ड्स, फतेहपुर, ने एकेडेमी को १२००) दिए थे, जो पारिश्रमिक के रूप मे लेखक को भेंट किए गए है। हम दाता के प्रति अत्यत कृतज्ञ है।

आशा है, पुस्तक एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति करेगी।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
जुलाई, १९५२

धीरेन्द्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

व्यक्तियो की रुचि भिन्न होती हे, प्रवृत्ति भिन्न होती है और उचित-अनुचित का ठीक ज्ञान सब को नही रहता है। इसलिये अध्ययन और शिक्षा की आवश्यकता होती है तथा इस शिक्षा की अपेक्षा सब को रहती हे। कुछ विरले लोकोत्तर प्रतिभा रखने वाले होते है जिनकी नैसर्गिक शक्ति उन्हे ऊँचे से ऊँचे शिखर तक पहुँचा देती है। परन्तु जैसे और शास्त्रो—गणित मे, इतिहास मे, राजनीति मे, विज्ञान मे—अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र मे भी। ससार के सभी देशो मे जहाँ भी साहित्य की रचना हुई है, वहाँ ऐसी पुस्तके लिखी गई है जिनमे यह बताया गया है कि रचना कैसे होती है और क्यो होनी चहिये, उत्तम रचना किसे कहते है, रचना को दोषो से कैसे बचाया जा सकता है, इत्यादि-इत्यादि। साहित्य-मीमासा पर ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रान्स तथा इङ्गलैण्ड मे अनेक पुस्तके लिखी गई है, और भारत मे तो इस विषय मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की सख्या बहुत है। हमारे पुराने शिष्य और मित्र श्री लीलाधर जी गुप्त ने बहुत वर्षों के परिश्रम और अध्यवसाय से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा है। विश्वविद्यालय मे पश्चिमीय साहित्यशास्त्र का बहुत दिन से गुप्तजी बडी योग्यता से अध्यापन कर रहे है। इस ग्रन्थ मे इनका उस अनुभव और गूढ अध्ययन का परिचय मिलता है।

साहित्य मे क्या गुण है, क्या दोष हे—इसी की समीक्षा आलोचना है। रस, अलङ्कार, वक्रोक्ति, ध्वनि, कल्पना, रीति, इत्यादि अनेक वादो को लेकर बहुत शास्त्रार्थ हो चुका है। गुप्तजी ने आलोचना का यथार्थ क्षेत्र निर्धारित किया है और उसका इस प्रकार विभाजन किया है —(१) रचनात्मक आलोचना, (२) व्याख्यात्मक आलोचना, और (३) निर्णयात्मक आलोचना। आइ० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्त से गुप्तजी सहमत है। इस सिद्धान्त को उन्होने सूत्ररूप मे यो लिखा है—

(१) कलाकृति मे व्यक्तित्व हो।

(२) कलाकृति का अनुभव मूल्यवान् हो। अनुभव के एकीकृत तत्त्वो में जितनी विभिन्नता होगी, कृति उतनी ही मूल्यवान् होगी।

(३) ध्यान-योग की अवस्था मे कलाकृति का रूप कलाकार और माध्यम के सम्मिश्रण द्वारा बिना किसी प्रकार की रुकावट की सफलता से निकला हो। कलाकृति से हमे अपनी निर्मायिक—प्रवृत्ति की तुष्टि प्रतीत हो।

(४) कलाकृति मे व्यापकता हो, उसमे सामाजिक झकार हो और सब सस्कृत-सहृदयो को उसकी प्रेरणा हो।

(५) कलाकार को रचना-कौशल पर पूरा अधिकार हो। वह रूपात्मक तत्त्वो को विषयात्मक तत्त्वो से ऐसा उपयुक्त करे कि दोनो का पार्थक्य नष्ट हो जाय।

आजकल तथाकथित कलाकार और समालोचक श्रृङ्खलाओ से अपने को मुक्त करना चाहते है। मैने स्वय कई वर्ष पूर्व लिखा था—"लेखक पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण अनुचित और हानिकारक है। उच्चकोटि की कला मानव के हृदय का वाह्य रूप है और किसी के हृदय पर किसका अधिकार है? कला मनुष्य की भावना से उत्पन्न होती है। भावना को वश मे कौन ला सकता है? कविता मे चित्त का उत्साह, उमङ्ग, वेदना, आनन्द, विषाद, सन्निहित रहना है, स्वप्नो की झलक मिलती है, भावो की विलक्षणता है, विचारो की विशालता है—इनको किसी 'वाद' मे जकड देना भयावह है। क्षुद्र नदी की धारा तो रोकी जा सकती है, सागर पर आधिपत्य कैसा?" फिर भी, शब्दो का ज्ञान, कोमल स्वरो का ज्ञान, पुराने ग्रन्थो का ज्ञान, इतिहास का ज्ञान तथा समसामयिक प्रगतियो का ज्ञान तो साहित्याकार के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार समालोचक के पास भी साहित्य के परखने के लिए अपनी कसौटी होनी चाहिये।

श्री गुप्तजी की पुस्तक का मै हृदय से स्वागत करता हूँ।

३०-६-५२ **अमरनाथ झा**

प्रवचन

लगभग बाईस वर्ष हुए होगे जब प्रयाग विश्वविद्यालय मे आलोचना का विषय पहले ही पहल बी० ए० ऑनर्स और एम० ए० के पाठ्यक्रम मे सम्मिलित हुआ था। तब अंग्रेजी-विभाग के तत्कालीन प्रधान प० अमरनाथ झा ने इस विषय पर दोनो कक्षाओ को भाषण देने के लिए मुझे ही नियत किया था। यद्यपि मैने दर्शन कभी किसी भी परीक्षा के लिये नही पढ़ा था, फिर भी अपनी रुचि की तुष्टि के लिये जब मुझे अवकाश मिलता था, अव्यवस्थित रूप से यह विषय पढता रहता था। अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन मे मुझे आलोचना अधिक आकर्षित करती थी। आलोचना के अध्ययन मे मुझे अपनी दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी रुचि की तुष्टि भी हो जाती थी। इसी कारण जब प्रधान ने मुझे आलोचना पर भाषण देने के लिए कहा, तो मुझे असाधारण सुख की अनुभूति हुई। मैंने समझ लिया कि अब मुझे साहित्य, कला, और सौन्दर्य शास्त्रो के अध्ययन का अवसर मिला है।

मेरे भाषणो का आधार मुख्यत पाश्चात्य, विशेषत अंग्रेजी साहित्यालोचन का इतिहास था। परन्तु इन भाषणो के प्रवेशनार्थ मैने पहले साल एक भाषण पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तो पर दिया था। पीछे से इस भाषण मे मैंने परिवर्तन की बड़ी गुञ्जाइश पाई। दूसरे साल वही एक भाषण तीन भाषणो का विस्तार पा गया। धीरे-धीरे इस विषय के भाषणो की सख्या बढती गई। सख्या वृद्धि मे एम० ए० की परीक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम मे आलोचना-सिद्धान्तो के समावेश ने भी बडी सहायता दी। कुछ वर्षों में मेरा पहला भाषण इस पुस्तक का रूप पा गया। इस प्रकार, मेरी यह पुस्तक आलोचना के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि कृति का रूप कृतिकार के सामने पहले से ही उपस्थित नही होता। पहले वह बीज के ही रूप मे होता है और फिर धीरे-धीरे वह निर्माणात्मक प्रेरणा के प्राबल्य से आन्तरिक और वाह्य क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ द्वारा अपने पूर्ण विस्तार को पहुँचता है।

मेरे पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त-प्रदिपादन मे संस्कृत और हिन्दी की आलोचना का कोई उल्लेख न था। परन्तु जब मुझे हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तो पर एक पुस्तक लिखने का आमन्त्रण मिला तो मुझे यह सूझा कि यदि प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे मैं सस्कृत और हिन्दी के आलोचनात्मक विचार और उनका तुलनात्मक मूल्याङ्कन भी प्रस्तुत करूँ तो पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ जायगी। इसी उद्देश्य से मैंने प्राच्य आलोचनात्मक विचार भी दिये हैं। ये विचार प्राय वे ही हैं जो इस अध्ययन में मुझे अपने कुछ साहित्यिक मित्रो की सहायता से

मिल सके। पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनाओ की तुलना से मुझे यह प्रतीत हुआ है कि प्राच्य आलोचना जीवन की आलोचना से इतनी सम्बन्धित नही है जितनी पाश्चात्य आलोचना। प्राच्य आलोचना अधिकतया साहित्य से ही सम्बन्धित है और इस क्षेत्र मे भी विशेषतया वाग्मितात्मक है। जब कोई पाश्चात्य आलोचना का पाठक सस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रो का अध्ययन करता है तब उसकी दृष्टि के सम्मुख सहसा एरिस्टॉटल की 'रैटरिक', सिसरो की 'डे ऑरेटोरे', क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ ऑरेटरी', विल्सन की 'दि आर्ट ऑफ रैटरिक', और हैनरी पीचम का 'गार्डन ऑफ एलोक्वेन्स' आ जाते है। इन सबके उद्देश्य अनौपनिषदिक और अभ्यासात्मक तो है, किन्तु अधिक वैज्ञानिक और आलोचनात्मक नही। यही दशा सस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रो की है। पाश्चात्य-साहित्यालोचना प्रारम्भ से ही जीवन की आलोचना से सम्बन्धित रही है। प्लैटो, लॉन्जायनस, पोप, कोलरिज और आर्नल्ड की आलोचनाएँ इस मत को पुष्ट करती है। हाँ, रस और ध्वनि के सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे प्राच्य आलोचना अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त की जो व्यवस्था की है, उस पर कीथ ने यह लिखा है —

"अब रस के महत्त्व का पूर्ण विवेक हो गया है और उस रीति का, जिससे कविता या नाटक पाठक या समाज पर अपना प्रभाव डालते है, पूरा बोध हो गया है। रस का विवेक अनुमान की किसी पद्धति से नही हो सकता, उसके सम्भाव्य का केवल यही कारण है कि मनुष्य पूर्वकाल मे रति इत्यादि भावो को अनुभव कर चुका है जिनके अवशेष सस्कारो के रूप मे उसकी आत्मा मे सुरक्षित है। जब पाठक या समाज, कविता या रङ्गमञ्च पर व्यक्त भावो और उनके परिणामो से प्रभावित होता है, तो वह उन्हे न तो वाह्य ही समझता है, न उन्हे कृति के नायक के योग्य ही समझता है और न उन्हे व्यक्तिगत अपना ही समझता है, वह उनका ग्रहण सर्वगत रूप मे करता है और इसी रूप मे वह उनमे भाग लेता है, और चाहे कृति के नायक के भाव दुःखद भी हो, वह उनके प्रभाव मे एक अद्भुत सुख की अनुभूति करता है। रस-धारण का रूप कभी-की अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाता है, परन्तु कविता के आनन्द की तात्त्विक विशेषता व्यक्त करने का प्रयास अवश्य साहसपूर्ण है और किसी भाँति असमर्थ नही है।"[१]

१ The importance of sentiment is now fully appreciated, and the mode in which poetry or a drama affects the reader or spectator can now be better understood The appreciation of sentiment cannot come by any process of influence, it is possible only because a man has in the past had experiences, e g , of love, which have left residues in the shape of impressions in his soul When he comes under the influence of the factors which excite these emotions and their consequences, expressed in poetry or on the stage, he does not regard them as external, as proper to the hero of work, nor as personal to himself; he appreciates

रस का यही सिद्धान्त एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' मे करुणा (ट्रैजेडी) की परिभाषा के चौथे खण्ड मे साङ्केतिक है। परिभाषा यह है —

"करुणा, तब, किसी ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर, समस्त और किसी विस्तार का हो— ऐसी अलकृत भाषा मे जो भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रीतियो से चमत्कृत हो— वर्णनात्मक रीति से नही वरन् कार्यात्मक रीति से— और जो (अनुकरण) करुणा और भय को जागृत करता हुआ इन भावो का सशोधन और विशिष्टीकरण करे।"[2]

इस परिभाषा मे करेक्शन ऐण्ड रिफाइनमेण्ट (सशोधन और विशिष्टीकरण) के लिए एरिस्टॉटल का शब्द कैथार्सिस है। इस शब्द के अर्थ-निर्णय मे प्रत्येक शताब्दी मे बडा वाद-विवाद रहा है। सोलहवी शताब्दी मे कैथार्सिस के तीन अर्थ प्रचलित थे। पहला अर्थ **निष्ठुरता** का था, करुणा दुःख और प्रचण्डता के दृश्य दिखाकर दर्शक की करुणा और भय की प्रवणता को सह्य कर देता है। दूसरा अर्थ **रेचन** का था, जब सामाजिक, नायक की उन कमजोरियो को देखता है जिनसे उसका पतन हुआ है तो उसे अपनी कमजोरियो का ध्यान हो जाता है और वह अपने आवेगो के दुःखद भाग से मुक्त होने का निश्चय करता है, और इस प्रकार अन्तर्वेगीय सस्कृति के लिये वह उद्यत हो जाता है। तीसरा अर्थ **होमियोपैथिक** था, करुण सामाजिक की करुणा और भय की स्वाभाविक मनोवृत्तियो का अभ्यास के द्वारा प्रवर्धन करके उन्ही मनोवृत्तियो का सशोधन करता है। इस पिछले अर्थ की पुष्टि मनोविश्लेषण भी करता है। कैथार्सिस का अर्थ **अन्तर्वेगो का शोधन** अब निश्चित ही है। करुण मे घटनाएँ दुःखद होती है क्योकि उनकी प्रेरणा करुणा और भय के प्रति होती है। परन्तु सफल कला मे वे ही सुखद हो जाती है क्योकि वे कलात्मक आवेग की तुष्टि करती हैं। दुःखद घटनाएँ समस्त करुण मे अपनी-अपनी ठीक जगह स्थित होने के कारण कल्पनात्मक मनन के विषय हो जाती है और जब कोई आवेग कल्पनात्मक मनन का विषय हो जाता है तो वह आवेग नही रह जाता, उसकी दुःखद सवेदना बिल्कुल चली जाती है, उसका साधारणीकरण हो

---

them as universal, and he shares in them in this manner, enjoying a strange pleasure, even when the emotions of the hero in the work are painful. The form given to the conception is sometimes obscure and difficult, but the attempt to express the essential character of the pleasure of poetry is daring and by no means ineffective

२ Tragedy, then, is an imitation of some action that is serious, entire, and of some magnitude—by language embellished and rendered pleasurable, but by different means in different parts—in the way, not of narration but of action,—effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions

जाता है। वह सर्वगत हो जाती है, व्यक्तिगत नही रहती । इसी विशेषता के आ जाने से वह एस्थैटिक सुख देने लगती है। साथ ही साथ करुण और भय की मनोवृत्तियो को निर्गमद्वार मिल जाने से उनका शोध भी हो जाता है। कैथार्सिस से एरिस्टॉटल का मतलब यही था और यही मतलब भरत मुनि का रस से भी प्रतीत होता है। यह बात भी ध्यान देने की है कि दोनो ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन नाटक के सम्बन्ध मे ही किया है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' के पीछे का ही लिखा हुआ दीख पडता है। इस बात का निश्चय करना कि भरत पर एरिस्टॉटल का प्रभाव पडा था या वह स्वतन्त्र रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँचा, इतिहास के विशेषज्ञो का काम है। हम यहाँ यही कह सकते है कि दोनो-ही अपनी-अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के बल से कलात्मक सुख का सार समझने मे सफल हुए।

इस पुस्तक के लिखने मे मेरा ध्यान पूर्णतया आलोचनात्मक सिद्धान्तो की ओर ही रहा है। आलोचना के इतिहास या आलोचको के अलग-अलग आलोचनात्मक मार्गों से मेरा उतना ही प्रयोजन रहा है जितना सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त था। मैंने यूनान, रोम, मध्यकाल और पुनरुत्थान के इटली, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, अमेरिका की आलोचना के प्रमाण दिये है, परन्तु अंग्रेजी आलोचना के प्रमाण अधिक सख्या मे दिये हैं। कारण स्पष्ट है। मैं अंग्रेजी आलोचना से अधिक अभिज्ञ हूँ और हमारे देश का अंग्रेजी भाषा से अधिक सम्बन्ध भी रहा है और रहेगा भी। फिर, अंग्रेजी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी है कि किसी भी भाषा का कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ इसमे प्रकाशन पाये बिना नही रहता है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रकरण चौथा है जिसका विषय निर्णयात्मक आलोचना है। मैं आलोचना का मुख्य कर्त्तव्य कला के मूल्याङ्कन को ही समझता हूँ। रचनात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओ के प्रतिपादन मे भी जो दूसरे और तीसरे प्रकरणो के विषय हैं, मैं बराबर उनकी तुलना निर्णयात्मक आलोचना से करता रहा हूँ। यही दृष्टिकोण पहले प्रकरण के विषयो के प्रतिपादन मे भी रहा है। कुछ विषय जैसे सौन्दर्य, कला, और साहित्य के साधारण परिचय का होना मैने अपने पाठको मे पहले से ही समझ लिया है।

इस पुस्तक मे इतने ग्रन्थो और विद्वान् लेखको का उल्लेख हुआ है कि पाठक मुझे पाण्डित्याभिमानी कह सकते है। परन्तु मैं निष्कपटता से बतलाना चाहता हूँ कि वस्तुत बात घमण्ड की है नही। आदर्श पाण्डित्य तो यही चाहता है कि किसी पुस्तक या लेखक का उल्लेख तभी किया जाय जब उल्लेखक उस पुस्तक या उस लेखक को आदि से अन्त तक पढ चुका हो। मैंने अपनी तुष्टि के लिये पर्याप्त पुस्तके और लेखको की रचनाएँ पढी है किन्तु पर्याप्त पुस्तको और लेखको का उल्लेख दूसरे योग्य लेखको के आधार पर भा किया है। आधुनिक संसार में जब ज्ञान की इतनी वृद्धि हो चुकी है, प्रत्येक लेखक ऐसा करने को विवश हो जाता है।

हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दों के पाने मे मुझे बडी कठिनाई हुई है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये मैने अग्रेजी-सस्कृत और अग्रेजी-हिन्दी कोषो का सहारा लिया है। अपने साहित्यिक मित्रो को भी बराबर कष्ट देता रहा हूँ। फिर भी बहुत से शब्दो मे पाठको को कदाचित् अस्पष्टता-सी प्रतीत हो। मुझे बडी प्रसन्नता होगी और मैं बडा कृतज्ञ होऊँगा यदि कोई महानुभाव किसी स्थल मे मुझे अधिक उपयुक्त शब्द का सुझाव देगे। एक पारिभाषिक शब्द **एस्थैटिक** मुझे बराबर खटकता रहा है। एस्थैटिक शब्द का यूनानी अर्थ प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) है। फिर इस शब्द का प्रयोग **सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण** के विशिष्ट अर्थ मे हुआ, और फिर इस विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण **सौन्दर्य की चेतना** के अर्थ मे हुआ। सौन्दर्य शब्द स्वय कितने ही अर्थों मे आता है। सौन्दर्य वह है जो तात्कालिक सुख दे। सौन्दर्य व्यवस्था, परम्परानुरूप्य और सुसङ्गति है। सौन्दर्य अनैक्य मे ऐक्य की अनुभूति है। सौन्दर्य वाह्य वस्तुओ मे उनकी उस सम्पूर्णता का, जिसका बोध मनुष्य को आन्तरिक चेतना अथवा वस्तुओ के रूप की सूचना से होता है, न्यून या अधिक दर्शन है। सौन्दर्य हमारे और वस्तुओ के बीच मे वह सम्बन्ध है जिसमे आने से वस्तुएँ हमारी निर्माणात्मक प्रेरणा की तुष्टि करती है। इस अन्तिम अर्थ मे जो हमे मान्य है, सौन्दर्य मनुष्य से सम्बन्धित हो जाता है। सौन्दर्य कला ही मे होता है जो मनुष्य की रचना है, प्रकृति मे नही होता। जब प्रकृति मे सौन्दर्य की अनुभूति होती है तो जिस वस्तु मे हमे उसकी अनुभूति होती है वह वस्तु हमारी निर्माणात्मक प्रेरणा की तुष्टि करती हुई प्रतीत होती है। प्रकृति मनुष्य के अनुरूप उस वस्तु की कलाकार होती है और उस दशा मे हमारी रचनात्मक प्रेरणा और प्रकृति की रचनात्मक प्रेरणा मे तादात्म्य होता है। एस्थैटिक अब ऐसे सौन्दर्य की मीमासा के अर्थ मे ही प्रयुक्त होने लगा है। इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये मैंने एस्थेटिक के लिये कलामीमासा शब्द का प्रयोग किया है। हिन्दी मे प्रचलित शब्द सौन्दर्यशास्त्र है। इसका प्रयोग एस्थैटिक के लिये उन्ही स्थलो मे हो सकता है जहाँ हमारे मान्य अर्थ के अतिरिक्त दूसरे अर्थ मान्य हो। मैंने इस पुस्तक मे एस्थैटिक को कलामीमासा कहकर फिर एस्थैटिक शब्द का ही प्रयोग किया है। और भी दूसरे शब्द है जिनके प्रयोग मे पाठको को अस्पष्टता का आभास होगा। मैंने अग्रेजी शब्द इमोशन के लिये अन्तर्वेग का प्रयोग किया है क्योकि वह अन्दर से सञ्चालित होता है। अग्रेजी शब्द फीलिङ्ग के लिये भाव शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु भाव शब्द को मैंने कही-कही विचार के अर्थ मे भी रखा है, चतुर पाठको को सन्दर्भ ही ठीक अर्थ की सूचना दे देगा। इसी प्रकार प्रत्यय शब्द का प्रयोग मैंने अग्रेजी शब्द कन्सैप्ट के अर्थ मे किया है, परन्तु कही-कही यही शब्द अग्रेजी के आइडिया के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। अग्रेजी के दो शब्द पर्सनैलिटी और इण्डीविजुएलिटी का भेद स्पष्ट है। मैंने पर्सनैलिटी के लिये व्यक्तित्व का प्रयोग किया है और इण्डीविजुएलिटी के लिये वैशिष्ट्य का।

आलोचना जैसे गूढ विषय के प्रतिपादन मे भाषा क्लिष्ट और संस्कृतमय हो ही जाती है। तथापि जहाँ तक मुझसे बन पड़ा है वहाँ तक मैंने खड़ीबोली के उस रूप का

प्रयोग किया है जो साधारण व्यवहार मे मिलता है। उर्दू के शब्द और मुहावरे जहाँ उपयुक्त होते है, वहाँ लाए गये है।

इन भाषणो को पुस्तक के रूप मे छपवाने की प्रेरणा मुझे डॉ० अमरनाथ झा से मिली थी। परन्तु मैंने इन्हे अग्रेजी मे इसलिये नही छपाया था कि छपवाने के पश्चात् मेरे विद्यार्थी मेरे भाषणो को विशेष ध्यान से न सुनते। डॉ० अमरनाथ झा के इस प्रोत्साहन के लिये मैं उनका अनुगृहीत हूँ। अब तक पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तो का कोई भी ग्रन्थ कदाचित् हिन्दी मे नही आ सका। मुझे इसके लिये जो सत्प्रेरणा अपने मित्र डॉ० धीरेन्द्र वर्मा से मिली, उसी का यह प्रथम फल है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से उनके द्वारा इस पुस्तक को लिखने के प्रस्ताव बिना शायद ही मैं यह पुस्तक हिन्दी मे लिखता। इसलिये यदि इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी पाठको को सन्तोष और सुख मिलता है तो वस्तुत उसका बहुत बडा श्रेय, मेरे विचार से, श्री वर्मा जी को है। पुस्तक लिखने मे मुझे अपने मित्रो से जो सहायता मिली है, उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रो० सतीशचन्द्र देव ने पहले तीन प्रकरणो को अग्रेजी मे पढकर अपने विचारो से मुझे लाभ पहुँचाया। इसके लिये मै उनका आभारी हूँ। मैं डॉ० माताप्रसाद गुप्त का भी, जिनका कार्य पाठालोचन मे प्रशसनीय है, आभारी हूँ। उन्ही की सहाय्ता से मैंने अपने पाठालोचन के अश को अन्तिम रूप दिया। विशेष रूप से मुझे चार महानुभावो से सहायता मिली है—डॉ० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' ने, जिनका नित्योपस्थित ज्ञान सराहनीय है, बडी सहृदयता से अपना अमूल्य समय आलोचनात्मक वादविवाद के लिये मुझे दिया। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा और डॉ० रामसिंह तोमर ने बहुत से आलोचनात्मक विषयो पर अपने विचार व्यक्त करने की ही मेरे ऊपर कृपा नही की वरन् उन्होने बडी उदारता से मुझे ऐसी-ऐसी हिन्दी की पुस्तकें पढने को दीं जिनकी सहायता के बिना इस पुस्तक का यह रूप नही निकल पाता। इसके अतिरिक्त इन दोनो महानुभावों ने इस पुस्तक को बहुत से स्थलो मे पढकर जहाँ-तहाँ अधिक उपयुक्त शब्दो की सूझ भी दी। एतदर्थ मैं इनका बडा ऋणी हूँ। मैं डॉ० बाबूराम सक्सेना और महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र का भी आभार स्वीकार करता हूँ। मिश्र जी ने मुझे संस्कृत आलोचना की कई अच्छी पुस्तके दी और दोनो महानुभावो ने कुछ विषयो पर परामर्श के लिये मुझे अपना अमूल्य समय भी दिया। मैं श्री धर्मवीर भारती का भी आभारी हूँ। उन्होने सारी पुस्तक को पाठक की हैसियत से पढा और बहुत से शब्दो, वाक्यो और मतो को सशोधित करने का सङ्केत किया। अन्त मे, मैं श्री रामचद्र टडन का आभारी हूँ जिन्होंने आदर्श सहानुभूति से मुद्रण के कार्य को ही अग्रसर नही किया वरन् साहित्यिक और आलोचनात्मक विचारो से भी मुझे लाभ पहुँचाया।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी ससार को अपने विषय से सन्तोष दे सकेगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय
मई, सन् १९५२ ई०

लीलाधर गुप्त

विषय-सूची

पहला प्रकरण

बहिष्कृत आलोचनाएँ

दूसरा प्रकरण

रचनात्मक आलोचना

तीसरा प्रकरण

व्याख्यात्मक आलोचना

चौथा प्रकरण

निर्णयात्मक आलोचना

१

बहिष्कृत आलोचनाएँ

गूढ विषयो का प्रतिपादन कभी-कभी निषेधात्मक रीति से किया जाता है। ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये यह बतलाया जाता है कि यह वस्तु ब्रह्म नही है, वह वस्तु ब्रह्म नही है। यद्यपि साहित्यालोचन का विषय इतना गूढ नही है जितना कि ब्रह्म अथवा आत्मा का, तो भी जब कोई खोज करने वाला साहित्यालोचन के अर्थ का निर्णय करता है तो रुकावट का अनुभव करता है। कारण यह है कि न तो साहित्य के अर्थ का ही कोई स्थैर्य है और न आलोचना के अर्थ का ही।

साहित्य कभी-कभी तो विषय-प्रधान माना गया है और कभी-कभी शैली-प्रधान। कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा मे जितने भी ग्रन्थ है वे सब उस भाषा के साहित्य है और कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा के केवल वे ग्रन्थ ही साहित्य हैं जो भाव-व्यञ्जना और रूप-सौष्ठव के कारण हृदयस्पर्शी होते है। न्यूमैन समझता है कि साहित्य मनुष्य के विचारो, उसकी भावनाओ और कल्पनाओ का व्यक्तीकरण है, तो श्लेजल का मत है कि साहित्य किसी जाति के मानसिक जीवन का सर्वाङ्गी सार है। एमर्सन का कथन है कि साहित्य वह प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दुर्दशाकृत क्षति की पूर्ति करता है तो यूङ्ग का कथन है कि साहित्य अचेतन मन से आई हुई प्रतिमाओ का चेतन आदर्शो के लिये प्रयोग करना है। भारतीय विचार के अनुसार साहित्य वह वस्तु है जिसमे एक से अधिक वस्तु मिली हुई हो। साहित्य शब्द 'सहित' मे 'ष्यञ्' प्रत्यय के जोडने से बना है। आचार्य भामह अपने 'काव्यालङ्कार' मे कहते है, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य अथवा साहित्य है। परन्तु इस परिभाषा मे और सब प्रकार के लेख भी आते हैं। इसी से राजशेखर ने अपनी काव्य मीमासा' मे इस सहभाव को तुल्यकक्ष कह कर काव्य को दूसरे प्रकार के लेखों से अलग किया है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।" इसी परिभाषा से प्रभावित होकर कुछ आलोचक शब्द की रमणीयता पर जोर देते है और कुछ आलोचक अर्थ की रमणीयता पर।

'रसगङ्गाधर' मे रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। बहुत से आलोचक अर्थ की रमणीयता मे शब्द की रमणीयता भी समझ लेते है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य का यह वर्णन है—"जो ससार के सभी प्रयोजनो मे मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूव आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओ के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते है, जो प्रभु अर्थात् स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रो से विलक्षण तथा मित्रो द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थो से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दो और अर्थो को गौण बना कर रसादि के प्रकट करनेवाले उपायो की ओर प्रवण करने के कारण जो उक्त प्रभु-सम्मत और सुहृत्सम्मत वाक्यावलियो से भिन्न है ऐसे रचना विशेष को काव्य कहते है।" इन पाश्चात्य और प्राच्य परिभाषाओ से जान पडता है कि साहित्य के अर्थ के निर्णय करने मे कितनी विभिन्नता है।

जिन नियमो से आलोचना सञ्चालित रही है, उनकी विभिन्नता तो साहित्य के अर्थ की विभिन्नता से कही अधिक है। कभी-कभी आलोचक आलोच्य कृति मे यह देखता है कि वह कितनी शिक्षाप्रद है और कभी-कभी वह यह देखता है कि आलोच्य कृति कितनी आनन्दप्रद और मनोहर है। कुछ आलोचक पुस्तक की सुन्दर भाषा से ही मुग्ध हो जाते है और कुछ उसकी वृत्तात्मकता से मुग्ध होते है। बहुत से आलोचक आलोच्य कृति के अङ्गविन्यास की ओर ही ध्यान देते है और उस कृति मे कहाँ तक ऐक्य है इसी से उसके साहित्यिक गुण की परीक्षा करते है। तत्त्वविद्या के एक आधुनिक आचार्य, जे० ए० स्मिथ कहते है कि आलोचक किसी कृति मे केवल यह देखे कि उस कृति ने किस बात मे विशेष व्यक्तित्व पाया है, यदि उसमे कुछ भी व्यक्तित्व है तो आदर्शवादी आलोचक साहित्यिक कृति को इस कसौटी पर चढाते है कि उसमे आलौकिक अथवा पार्थिव ऐकान्तिक सौन्दर्य की कितनी झलक है। एबरक्रोम्बी कृति की श्रेष्ठता इस मानदण्ड से निर्णय करता है कि वह कलाकार की अन्तर्प्रेरणा को अपने माध्यम द्वारा कहाँ तक व्यक्त कर सकी है। एलेग्ज़ेण्डर का मानदण्ड यह है कि कोई कृति कहाँ तक कलाकार की उस स्फूर्ति की द्योतक है, जिससे वह अपने माध्यम मे अपने को मिलाकर, उसके द्वारा ऐसी बातो का अनुभव कराता है जिनका उस माध्यम के वास्तविक गुणो से कोई सम्बन्ध नही है, जैसे चित्रकार भीत पर रगो द्वारा दरवाजे का ऐसा चित्र बनाने मे समर्थ होता है कि देखने वाला उसे सच्चा दरवाजा समझ कर उसमे से निकलने के लिये तैयार हो जाता है। एम० सी० नैह्म कलाकार, कलाकृति, और कलाग्राही इन तीनो की एक ऐन्द्रजालिक परिधि मानता है। कलाकार कलाकृति के द्वारा कलाग्राही को अपने व्यक्त भावो अथवा अन्तर्वेगो से प्रभावित करता है। उसके मतानुसार किसी कृति की श्रेष्ठता उसकी निवेदन-शक्ति पर निर्भर होती है, कितनी पूर्णता से वह कलाग्राही को प्रभावित करती है। आत्मघटन(एम्पैथी) सिद्धान्त के व्याख्याता थियोडोर लिप्स का कथन है कि सुन्दर कला के सामने ऐसी अन्तः-प्रेरित शारीरिक गतिशीलता का अनुभव होता है जिससे हम अपना अस्तित्व कलावस्तु के अस्तित्व जैसा कर लेते हैं। यह गतिशीलना स्वयं प्रवर्तक होती है, इच्छाजनित अथवा

बुद्धि सञ्चालित नही, और उसकी सिद्धि शरीर के बाहर नही होती बल्कि अन्दर ही अन्दर होती है। इस प्रकार थियोडोर लिप्स उस कलाकृति को ही सफल कहेगा जिससे हमारी अव्यावहारिक आत्मा कलावस्तु से ऐक्य प्राप्त करने के लिये गतिशील हो जाती है। प्राच्य आलोचना मे, भरत उस काव्य को श्रेष्ठ मानता है जिसमे भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावो द्वारा रस की निष्पत्ति हो। उसके मतानुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावो और अन्तर्वेगो को होती है, उसकी बुद्धि को नही। इसी प्रेरणा पर काव्य की सफलता निर्भर है। भामह, उद्भट, दण्डी, और रुद्रट का आलोचनात्मक मानदण्ड आलङ्कारिकता है। वामन का कहना है कि रीति ही काव्य की आत्मा है और रीति विशिष्ट पदरचना है। वक्रोक्तिजीवितकार साहित्य की समीक्षा वक्रोक्ति के मानदण्ड से करता है। ध्वनिकार और मम्मट, ध्वनि या व्यञ्जना को काव्य की आत्मा मानते है। इनके मत से वही काव्य उत्तम है जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो। एक और मानदण्ड जो बिल्कुल कलामीमासाविषयक (एस्थैटिक) मूल्य का है और जिस पर बहुत से प्राच्य आलोचक जोर देते है, वह सहृदय को चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द के अनुभव होने का है। जो काव्य जितना ऐसा आनन्द दे वह उतना ही अच्छा। इन पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनात्मक मानदण्डो से स्पष्ट है कि साहित्यसमीक्षा के नियम निर्धारण करना कितना कठिन है।

जब साहित्य के अर्थ को स्थिर करने मे इतनी कठिनाई है और आलोचनात्मक नियमो की विभिन्नता के कारण आलोचना के अर्थ के निर्धारण करने मे और भी अधिक कठिनाई है, तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि साहित्यालोचन का अर्थ स्थिर करना कितनी कठिनाई का कार्य है।

हम पहले ऐसी आलोचनाओ का वहिष्कार करेगे जो किसी मिथ्याभावना से साहित्यालोचन कही जाती है, परन्तु जो वस्तुत साहित्यालोचन नही है।

१

पहले हम वैज्ञानिक आलोचना का वहिष्कार करते हैं।

आलोचना के वर्गीकरण मे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग विवेकपूर्ण नही है। इस कारण कभी-कभी असावधान पाठक सम्भ्रान्त हो जाता है।

वर्गीकरण की दो विधियाँ हैं। पहिली विधि मे आलोचना के विषय-वस्तु की ओर सङ्केत होता है और दूसरी विधि मे उस पद्धति की ओर सङ्केत होता है जिसके अनुसार आलोचना की जाती है। अत. जब किसी इतिहास की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी मनोविज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी विज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। और

जब किसी पुस्तक की आलोचना मे ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना मे मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना मे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। स्पष्ट है कि वर्गीकरण की दोनो विधियो का ज्ञान 'ऐतिहासिक' 'मनोवैज्ञानिक' और 'वैज्ञानिक' इन पारिभाषिक शब्दो मे नही होता। यहाँ पर वैज्ञानिक आलोचना से हमारा अभिप्राय विज्ञान की पुस्तको की आलोचना से है।

विज्ञान जिज्ञासा-प्रवृत्ति का फल है। यह जिज्ञासा अव्यावहारिक होती है और उसका निर्देश स्वय वस्तुओ की ओर होता है। ऐसी जिज्ञासा की पूर्ति से ही सत्य की प्राप्ति सम्भव होती है।

यूनानी तत्ववेत्ता कहा करते थे कि विज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से हुई। किन्तु यह ठीक नही है। जिस क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई उस क्रम मे आश्चर्य का स्थान बाद मे हुआ है। विज्ञान की उत्पति का कारण मन की बेचैनी है। जब मनुष्य ने अपने को चारो ओर पदार्थों से घिरा हुआ पाया तो उन पदार्थो मे उसने असम्बद्धता का अनुभव किया। इस घबराहट को दूर करने की कोशिश के फलस्वरूप उसने पदार्थों को एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध किया कि वे एक-दूसरे को सुदृढ करने लगे। इस प्रवणता ने, मानसिक जीवन मे, पदार्थो का उन्ही के हेतु, अवलोकन सम्भव किया और विज्ञान के निर्माण की नीव डाली।

विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों को सुव्यवस्थित करना और उनमे एकता दिखाना है। कला का उद्देश्य भी पदार्थो मे एकता दिखाना है। विज्ञान और कला दोनो ही क्रियात्मक उद्देश्य के विचलन है। जब मन अपने ही मे से आये हुए तत्त्वो का अपने उपादान मे प्रवेश करने का प्रयास करता है तो क्रियात्मक प्रवृत्ति विकृत होकर मन को उपादान मे ध्यानपरायण कर देती है और कला निर्माण का सृजन सम्भव करती है। विज्ञान मे वही क्रियात्मक प्रवृत्ति पदार्थों मे ऐक्य स्थापित करने के उद्देश्य से विकृत होती है। अन्तर केवल इतना है कि कला मे उपादान कलाओ के आधार होते है और विज्ञान मे उपादान इन्द्रियगोचर पदार्थ होते हैं। फिर कला मे कलाकार अपने आधार मे ऐसे तत्त्वो का समावेश कर देता है जो उस आधार के स्वभाव के बाहर होते हैं, अर्थात् कलाकार अपने आधार और उपकरण को छेडता है, इसके विपरीत विज्ञान का विषय विद्यमान ससार है जिसके साथ वैज्ञानिक किसी प्रकार की छेड-छाड नही करता। इसी बात को दूसरी तरह से यो कह सकते हैं कि कला मे तो मन उपकरण मे निविष्ट हो जाता है और विज्ञान मे मन केवल साधन-रूप होता है।

सत्य भी कला है। दोनो निष्काम और कथनीय हैं। जैसे कला अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वो का एकीकरण है उसी प्रकार सत्य भी इन्द्रिय-प्राप्त तत्त्वो का एकीकरण है। अब सब विज्ञानो का एकीकरण भी सम्भव है या नही इस बात को तत्त्वविद्या के लिये छोडे देते है। शायद जगत अनेकत्व हो, एकत्व नही। जैसे कला मे सङ्गति होत है वैसे ही सत्य में भी

सङ्गति होती है। सत्य मे जो सङ्गति है वह तत्त्वो का समवर्गीय होना और उनका और उनसे निकाले हुए नियमो का तथानुरूप होना है। सत्य कला के सदृश अवश्य है। परन्तु वह ललितकला नही है। ललितकला मे मानसिक और भौतिक तत्त्वो का सम्मिश्रण और सामञ्जस्य होता है। सत्य अथाव विज्ञान मे मन पदार्थ यथार्थ रूप को देखता हुआ पदार्थ को ज्यो का त्यो छोडता है इस प्रकार विज्ञान पूर्णतया मानसिक निर्माण है और मानसिक निर्माण होते हुए कृत्रिम है।

विज्ञान और ललितकला के इस परस्पर सम्बन्ध और भेद पर बडे-बडे आलोचको के विचार प्रकाश डालते है। आई० ए० रिचर्ड्ज अपनी साहित्यालोचन के सिद्धान्त नामक पुस्तक मे लिखते है कि प्रत्येक कथन मे वस्तुओ की ओर निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुएँ सच्ची होती है और उन मे निर्दिष्ट सम्बन्ध भी सच्चा होता है तो उस कथन को वैज्ञानिक कहते है। ऐसे कथन जब तर्कपूर्ण सम्बद्ध होते हैं तो वे विज्ञान की रचना के कारण होते है। यदि किसी कथन मे निर्दिष्ट वस्तुओ का सच्चा या झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओ के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण हो वरन कथन हमारे भावो (फीलिंग्ज) और अन्तर्वेगो (इमोशन्स) को जागृत करे तो ऐसे कथन को हम साहित्यिक कहेगे। हमारे मानसिक अनुभव के दो स्रोत है। एक तो वाह्य जगत् और दूसरा शारीरिक अवस्थाएँ। विज्ञान का सम्बन्ध वाह्य जगत् से है और साहित्य का शरीरिक अवस्थाओ से। विज्ञान मे निर्देशो का वास्तविक आधार होता है। साहित्य मे यदि निर्देशो का वास्तविक आधार हो तो उन का मूल्य उन की वास्तविकता से नही बल्कि उनकी भावो और अन्तर्वेगो को जागृत करने की क्षमता से आँका जाता है। कलाकार के निर्देश बहुधा अवास्तविक होने है। किन्तु उनके निर्देश चाहे वास्तविक हो चाहे अवास्तविक, उनका आन्तरिक सम्बन्ध अन्तर्वेगीय होता है। कलाकार का तर्क अन्तर्वेगीय होता है। अन्तर्वेग मन की एक भावात्मक वृत्ति है। वह भाव के पूर्ण विस्तार मे बीच का स्थान पाती है। पहिला स्थान मूल-प्रवृत्ति का और तीसरा भावगति (मूड) का है। अन्तर्वेग और भावगति के क्षेत्रो मे भाव रचनात्मक हो जाता है और कल्पना को जागृत कर देता है। इसीलिये जैसे किसी वैज्ञानिक कृति को समझने के लिये हमे न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है उसी तरह किसी साहित्यक कृति को समझने के लिये हमे कल्पनात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है। विज्ञान और साहित्य का यही अन्तर डे क्विन्सी के दिमाग मे था जब उसने साहित्य का स्पष्ट अर्थ समझाने का प्रयास किया था। अपने साहित्य सिद्धान्त नामक लेख मे वह बताता है कि साहित्य शब्द सम्भ्रम का अविरत स्रोत है। यह शब्द दो भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है और इसका एक अर्थ दूसरे अर्थ को गडबडा देता है। प्रचलित अर्थ मे तो साहित्य किसी भाषा की सभी ज्ञानात्मक पुस्तको का द्योतक है परन्तु दार्शनिक भाव से साहित्य उन्ही पुस्तको का द्योतक माना जाता है जो शक्ति का सञ्चार करती हैं, जो अन्तर्वेगीय अन्तर्द्वन्द्व को सुलझाती हैं और जो आन्तरिक ऐक्य की स्थापना करती है। दार्शनिक अर्थ मे हम नाटक, उपन्यास, कविता, निबन्ध, और आख्यायिका को साहित्य कह सकते है, व्याकरण, शब्द-सागर, इतिहास, अर्थशास्त्र और विज्ञान को साहित्य नही कह सकते।

प्रभावोत्पादक साहित्य ही शुद्ध साहित्य है, ज्ञानात्मक साहित्य नही। प्रभावोत्पादक साहित्य मे विषय प्रभाव के अधीनस्थ हो जाता है। कभी-कभी तो विषय प्रभाव मे बिल्कुल विलीन हो जाता है। यह हमारे अनुभव की बात है कि निरर्थक शब्दो के प्रवाह से कवि ऐसी छान्दिक गति पैदा कर देता है जिसके प्रभाव से सुविकारिता, अन्तर्वेगीय प्रफुल्लता और श्रद्धा-भावो की जागृति सम्भव होती है। इस प्रसङ्ग मे सङ्गीत उदाहरणीय है। सङ्गीतज्ञ अर्थ रहित ध्वनियो से ऐसे मर्मस्पर्शी अन्तर्वेगो को उत्तेजित कर देता है जिसे कोई दूसरा कलाकार नही कर सकता। विज्ञान तो वास्तविकता के पूरे नियन्त्रण मे होता है और साहित्य मे वास्तविकता से स्वातन्त्र्य की क्षमता रहती है। इस बात पर अरिस्टॉटिल् ने भी जोर दिया था। वह अपनी 'पोइटिक्स मे कवि को इतिहासकार से पृथक् करता हुआ कहता है कि इतिहासकार का विषय अव्यापक सत्य है और कवि का व्यापक। एल्कीविग्राडीज ने किसी विशेष परिस्थिति मे क्या किया यह इतिहास है और अमुक व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति मे क्या करेगा यह काव्य है। अत कवि अपनी वस्तु आप रचता है और इसी गुण के कारण अरिस्टॉटिल् कवि के यूनानी अर्थ, रचयिता (पोइट) का समर्थन करता है। अर्थात् कवि वस्तु की रचना करता है, अत वह रचयिता है। कभी-कभी कवि जीवन-वस्तु को भी अपना लेता है जब कि जीवन वस्तु मे कल्पनात्मकता होती है। परन्तु उसे सदा उपयुक्त असम्भवता को अनुपयुक्त सम्भवता से अधिक श्रेष्ठ मानना चाहिए। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की बातो से भी यही पता चलता है कि काव्य मे वास्तविकता का कोई महत्त्व नही है। वास्तविक और अवास्तविक दोनो ही प्रकार की वस्तु काव्य मे आ सकती है। परन्तु जब वास्तविक वस्तु काव्य मे आये तो उस पर कल्पना का इतना गहरा रग चढा दिया जाय कि वास्तविक वस्तु अवास्तविक दीख पडे और जब अवास्तविक वस्तु काव्य मे आये तो उसके तत्त्वो को सावेगिक तर्क से इस प्रकार सङ्गत कर दिया जाय कि अवास्तविक वस्तु वास्तविक दीख पडे। इसी से कोलरिज ने कहा था कि काव्यग्राही मे अनास्था स्थगित करने की क्षमता होनी चाहिये। आई० ए० रिचर्ड्ज ने इसी उक्ति का सशोधन करते हुए कहा कि काव्यग्राही मे अनास्थ ही नही किन्तु आस्था को भी स्थगित करने की क्षमता होनी चाहिये। भारतीय मत भी इसी पक्ष का है। उद्भट का कहना है कि साहित्य विषय के दो प्रभेद है विचारितसुस्थ और अविचारित रमणीय। विचारितसुस्थ दल मे सभी शास्त्र आते है और अविचारित रमणीय दल मे काव्य आता है। ऐसा ही अवन्तिसुन्दरी का मत है।

वस्तु स्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणा गुणावुक्तिवशेन काव्ये।

अर्थात् कवि वस्तु-स्वभाव के अधीन नही होता, काव्य मे वस्तुओ के दोष या गुण कवि की उक्ति पर ही निर्भर होते है। साहित्य वास्तविक सत्य से विमुख होने मे जरा भी नही हिचकता क्योकि उसका लक्ष्य अधिक विस्तृत और उच्चतर सत्य है। निष्कर्ष यह है कि कला मे वास्तविकता का महत्त्व नही, वास्तविकता का महत्त्व इतिहास और विज्ञान

मे है। विज्ञान इतिहासजन्य है। जब इतिहास मे विश्लेषण, वर्गीकरण और नियमो की उपलब्धि होने लगती है तो इतिहास विज्ञान हो जाता है। कला और विज्ञान का अन्तर इन शब्दो मे दर्शा सकते है। गढे हुए अथवा परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित विषय द्वारा, सूचक (सजैस्टिव) शब्दो मे, किसी आदर्श सत्य की अभिव्यञ्जना करना तो साहित्य का सार है, और यथार्थ के तत्त्वो द्वारा, निश्चयार्थक शब्दो मे, ज्ञान की किसी स्वचालित व्यवस्था का निर्माण करना विज्ञान का सार है।

वैज्ञानिक कृतियो की आलोचना वैज्ञानिक आलोचना है और ऐसी आलोचना को हम साहित्यालोचन कदापि नही कह सकते। विज्ञान मे सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अनुभव के प्रदत्त(डेटा) वास्तविक तथ्य होते है। वे यथार्थ के अनुरूप होते है। उनका निरीक्षण काम्य बुद्धि से नही वरन् निस्सङ्ग बुद्धि से होना है। अत वैज्ञानिक आलोचक का प्रमुख धर्म यही है कि वह देखे कि वैज्ञानिक के प्रदत्त राग, द्वेष और पक्षपात रहित है, अपने प्रदत्तो तक पहुँचने तक उसने वैयक्तिक अथवा शास्त्रीय मतो का सहारा तो नही लिया। फिर उसे यह देखना है कि वैज्ञानिक के कथनो मे तर्कपूर्ण सम्बन्ध है या नही और वे कथन एक-दूसरे का समर्थन करते है या नही। अन्त मे उसे यह देखना है कि उन सब सघटित कथनो की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था मे अन्तिम नियम को निर्दिष्ट करने की क्षमता है या नही। साहित्य के आलोचक को इन सब बातो से कोई मतलब नही है। कलाकार वैज्ञानिक विश्लेषण से परे एक उच्चतर सश्लेषण की प्राप्ति का प्रयास करता है। पहले वह अपने मन को वासना रहित करता है। फिर वस्तु का सर्वाङ्ग आलिङ्गन करता है। इस क्रिया मे उसकी काल्पनिक दृष्टि इतनी प्रबल हो जाती हे कि उसे सत्य का सीधा दर्शन हो जाता है। कलाकार वस्तुमय होकर वस्तु का सत्य जानता है। और जिस सत्य का उसे प्रकाश होता है वह वस्तु का सारभूत सत्य होता हे, वह उस वस्तु के अस्तित्व के नियम की सिद्धि होती हे। जैसे कीट्स ने कहा था, कलाकार किसी पदार्थ के सत्य को उसके सौन्दर्य मे देखता है। इस विचार से यह स्पष्ट है कि साहित्य की सफल आलोचना के लिये आलोचक सौन्दर्य के रूप से और सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्तो से पूर्णतया अभिज्ञ हो।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि विज्ञान और साहित्य अलग-अलग किये जा सकते है। वास्तव मे ऐसा सर्वदा सम्भव नही है। ऐसे कवि है जिन्होने दार्शनिक व्यवस्थाओ का अपनी कविताओ मे प्रयोग किया है। ल्यूक्रेशस ने अपनी 'डे रेरम नेचरा' मे एपीक्यूरस के आणविक सिद्धान्त को ग्रहण किया है। इस कविता मे कवि ने यह सिद्ध किया है कि देवताओ का भय मिथ्या है। ससार की रचना और गति बिना उनके हस्तक्षेप के सुबोध है। डाण्टे के 'डिवायना कोमेडिया' तो सेण्ट टामस की कैथौलिक नीति का कहीं-कहीं तो केवल शब्दान्तरकरण है। ईसाई मत मे मनुष्य के पतन का जो वृत्तान्त है वह और टोलेमी की ज्योतिष-विद्या-विषयक व्यवस्था ही मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' के अधार है; हाँ कभी-कभी कापरनीकस की ज्योतिष का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। दूसरी ओर ऐसे वैज्ञानिक हुए है जिन्होने अपनी कृतियो को साहित्यक मनोहारित्व प्रदान किया है।

बेकन ने अपनी 'नोवम ऑरगेनम' मे वैज्ञानिक खोज की आगमनात्मक पद्धति का विवरण दिया है। लेखन शैली लोकोक्तिपूर्ण है और उन भ्रान्तियो का जिनसे आगमन दूषित हो जाता है, बडा सजीव चित्रण है। डार्विन की 'ऑरीजिन ऑफ स्पीशीज' उसके धैर्य और सूक्ष्म निरीक्षण का साक्षी तो है ही परन्तु जिस निर्भीक और साहसी कल्पना से उसने विकासवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है उससे कोई पढ़नेवाला अप्रभावित नही रह सकता। एच० जी० वेल्स की 'आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री' उसकी प्रतिभा के चमत्कार से दीप्त है। उसकी राजनीतिक धारणा है कि मानव जाति एक है और वह समय जल्द आ रहा है जब सम्पूर्ण मानव जाति का एक राष्ट्र होगा और जीवन की सारी असुविधाएँ दूर हो जायेगी। सस्कृत और हिन्दी मे भी ऐसे बहुत से ग्रन्थ है जिनके विषय, ज्योतिष, दर्शन, व्याकरण, वैद्यक, इतिहास और पौराणिक कथाएँ है। उदाहरण 'वैद्य जीवन,' 'गीता,' 'भागवत,' 'भट्टिकाव्य,' 'रुक्मिणी-मङ्गल,' 'भ्रमर गीत' 'पृथ्वीराज रासो,' और 'रास पचाध्यायी' है। इन सब ग्रन्थो का उद्देश्य तो ज्ञान का सञ्चार ही है परन्तु ग्रन्थकारो ने अपनी वर्णन शैली से इन्हे ऐसा रोचक बना दिया है कि पढने वाले उस आनन्द का अनुभव करने लगते है जो रसपरिपाक से उत्पन्न होता है।

चाहे कवि अपनी कविता मे किसी ज्ञान विषयक सामग्री का प्रयोग करे और चाहे कोई ज्ञान विषयक लेखक अपने लेख को कलामय रूप-सौष्ठव से सुसज्जित करे यह स्पष्ट है कि सत्य की अनुभूति उसी प्रकार सम्भव है जैसे कि सौन्दर्य अथवा कल्याण की। इसमे सन्देह नही सत्य की अनुभूति कवि को ज्यादा होती है और वैज्ञानिक या इतिहासकार को कुछ कम। टी० एस० इलियट का कथन है कि वह कवि उच्चतर कोटि का है जो अपनी कविता मे किसी दार्शनिक व्यवस्था का प्रयोग करता है। दार्शनिक व्यवस्था के उपयोग से कवि सचेत रहता है और ससारिक जीवन से पृथक् नही होने पाता। परन्तु काव्य के लिये किसी विशेष ज्ञान की सामग्री अनावश्यक है। काव्य का आनन्द तो मनुष्य केवल मानवगुण-सम्पन्न होने भर से हो पाता है और किसी विशेष दार्शनिक व्यवस्था से सकुचित होकर तो कवि अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध ही करता है। शेक्सपिअर ने कब किसी दार्शनिक व्यवस्था का सहारा लिया था और क्या वह दुनिया के कवियो मे अद्वितीय नही माना जाता? कहने का सार यह है कि साहित्य का आलोचक ऐसे कवि को जिसने ज्ञान विषयक सामग्री का उपयोग किया है और ऐसे कवि को भी जिसने ऐसी सामग्री का उपयोग नही किया है, दोनो ही को कलामीमासा (एस्थैटिक) के मानदण्डो से जाँचेगा, परन्तु उसे उस कलाकार को भी कलामीमासा के मानदण्डो से जाँचना होगा जिसका विषय तो ज्ञान-सम्बन्धी है, परन्तु जिसने उस विषय के प्रतिपादन को ओजपूर्ण और अलङ्कारयुक्त बनाया है।

इतिहास की आलोचना भी साहित्यालोचन नही है।

इतिहास की आलोचना तीन अवस्थाओ मे होकर गुजरी है। पहले वह लाक्षणिक अथवा रूपकात्मक थी, फिर नैतिक हुई, और फिर धीरे-धीरे तार्किक हुई। इतिहास को

जीवन के अलौकिक सिद्धान्तो से और उसे नैतिक और ईश्वर-शास्त्रविषयक विचारो से मुक्त करने मे और फलत उसे वैज्ञानिक रूप देने मे तीन ओर से सहायता मिली। भौतिक विज्ञानो से इतिहासकारो को नियम और व्यवस्था की बुद्धि आई, तत्त्वज्ञान से उन्हे ऐक्य की सूझ हुई, और प्रजातन्त्रवाद से उन्हे स्वमत्तासक्त (डागमैटिक) आदेशो के असहन की सीख मिली। धीरे-धीरे अनुसन्धान की तुलनात्मक पद्धति ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को उत्तेजना दी। भाषा-विज्ञान और उत्क्रान्तिवाद ने भी बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओ मे तार्किक सम्बद्धता दिखाई। दो आधुनिक सिद्धान्त और, सामान्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन आफ एव्रे जैज) और निर्णायक उदाहरणो का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ क्रूशल इन्सटैन्सैज), भी इतिहास को वैज्ञानिक बनाने मे भारी महत्त्व के साबित हुए। समान्य के सिद्धान्त ने ही इतिहास के निश्चल (स्टेटिक) तत्त्वो को स्पष्ट किया, और भौतिक परिस्थितियो का जो प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पडता है उसे उदाहरणीकृत किया, और निर्णायक उदाहरणो के सिद्धान्त ने मालिन क्विगनान की खोपडी के अकेले उदाहरण द्वारा इतिहास-पूर्वकालीन पुरातत्त्वविद्या (प्रीहिस्टॉरिक आरकिओलाजी), एक नये विज्ञान की स्थापना मे मदद दी और वह स्थिति साक्षात् की जब मनुष्य पाषाण-काल मे मैमथ और ऊनी गैडो का समकालीन था।

इतिहास मे हेतुवादी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण दैनिक पत्रलेखन-कला के विकास से किया जा सकता है। पत्र पहले समाचार देता था, फिर समाचारो का सग्रह और सम्पादन धीरे-धीरे पूर्वनिश्चित विचारो से नेतृत्व मे होने लगा। अब प्रत्येक पत्र की एक नियत नीति हो गई है। इसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओ का सग्रह और उनका सम्पादन भी इतिहासकारो ने पहिले नैतिक और फिर वैज्ञानिक विचारो के नेतृत्व मे किया। शुरू से ही इतिहास के विषय मे दो मत रहे है। पहला मत तो यह है कि इतिहास एक कला है, जिसके अन्तिम हेतु उसके बाहर है। ससार की छोटी से छोटी और बडी से बडी घटनाओ के पीछे दैविक प्रेरणाएँ निहित है। यह प्लेटो का मत है। दूसरा मत यह है कि इतिहास एक सुसङ्गठित शरीर की भाँति है, जिसके विकास के नियम उसके भीतर ही है और जो अपनी साधारण गति ही मे अपनी सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। यह अरिस्टॉटल् का मत है। आधुनिक काल मे प्रकृतिवाद की वृद्धि के कारण इतिहास का दूसरा मत ही ग्रहणीय है। इस मत का इतिहासकार प्रत्येक अवसर पर बौद्धिक और प्राकृतिक हेतुओ की खोज मे रहता है। वह छोटी से छोटी वस्तु को महत्त्वपूर्ण समझता है। उसका क्षेत्र कोई विशेष जाति अथवा देश नही होता। वह अपने को सारी मानवजाति और सारे ससार का व्याख्याता मानता है। वह समझता है कि ससार मे कोई ऐसी बात नही जिसका असर सारे इतिहास पर न पडता हो और इसी कारण वह विशेष झक की उपेक्षा करता हुआ व्यापक नियमो का आदर करता है और प्रधान हेतु को गौण हेतु से पहिचानता है। वह जानता है कि जीवन के सब पाठ इतिहास मे निहित है और उन्ही को प्रकट कर दिखाना उसका कर्तव्य है। इस प्रकार लिखा हुआ इतिहास ही वैज्ञानिक इतिहास है।

वैज्ञानिक साहित्य का आलोचक दो सिद्धान्तो पर चलता है। पहला सिद्धान्त है सत्याभास का और दूसरा है सम्भाव्य का। वह आशा करता है कि इतिहासकार कट्टर सत्यवादी है। सत्यवादी होने का मतलब स्पष्ट ऐतिहासिक अभिज्ञता ही नही है वरन् ईमानदारी भी। इतिहास का पाठक इतिहासकार मे पूरी श्रद्धा रखता है और यदि इतिहासकार पाठक के मत को प्रभावित करने का प्रयत्न करे तो वह घोर पाप का भागी होता है। इसी से तो इतिहासकार को पहले से ही अधिक से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य पाने के उद्देश्य से लिखित पत्रो और प्रमाणो की पर्याप्त परीक्षा करना आवश्यक है। सब से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य उस व्यक्ति का माना जाता है जिसने घटनाओ को स्वय देखा था, जिसकी स्मृति पक्की थी, और जिसे तथ्यो को झूठा करके रखने मे कोई स्वार्थ न था। इसी से तो कहा जाता है कि आदर्श इतिहासकार का अस्तित्व असम्भव है। आदर्श इतिहासकार की दृष्टि के सामने भूतकाल का सच्चे रूप मे होना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक इतिहास का आलोचक साक्ष्य की छानबीन मे दक्ष हो। वह फौरन समझ ले कि इतिहासकार कहाँ वास्तविकता से हट गया है और किस व्यक्ति अथवा पार्टी के अनुराग मे उसने अपने वर्णन को सुदृढ और सुचित्रित किया है। इस बात को ध्यान मे रख कर हम यह कह सकते है कि अग्रेजी गृहयुद्ध का गार्डीनर का लिखा हुआ इतिहास बहुत कुछ निर्दोष है और मैकॉले का इगलैण्ड का इतिहास इतना निर्दोष नही है।

वास्तव मे वैज्ञानिक इतिहास इतिहास नही है। विज्ञान आध्यात्मिक विषय है और प्रत्यय और नियम पर आधारित है। इतिहास मे प्रत्यय और नियम को कोई स्थान नही। इतिहास निगमन और आगमन दोनो से इधर की ओर है। कला की तरह उसका आधिपत्य 'यह' और 'यहाँ' पर है। इतिहास मूर्त और वैयक्तिक है, जैसे प्रत्यय अमूर्त और व्यापक है। इसी से इतिहास कला ही के व्यापक प्रत्यय मे सम्मिलित है। कभी-कभी यह कुतार्किक बात सुनने मे आती है कि इतिहास का उद्देश्य भी व्यक्ति के प्रत्यय की स्थापना करना है, उस व्यक्ति का केवल वर्णन नही। परन्तु प्रत्यय व्यापक होता है, क्योकि वह बहुत से व्यक्तियो के सामान्य गुणो से स्थापित होता है। इतिहास व्यक्तियो से परे जाता ही नही। भला अशोक अथवा नैपोलियन का, पुनरुत्थान (अँग्रेजी, रिनेसैन्स) अथवा धार्मिक सशोधन (अँग्रेजी, रिफौर्मेशन) का फ्रेन्च क्रान्ति अथवा भारतीय स्वतन्त्रता का क्या प्रत्यय? इतिहासकार इनकी वैयक्तिकताओ का वर्णन ही दे सकता है। नाप-तौल और व्यापकता किसी विषय को वैज्ञानिक व्यवस्था देते हैं और ये दोनो इतिहास मे असङ्गत है। वास्तव मे इतिहास कला और विज्ञान के मध्य मे हैं। इतिहास को हम विज्ञान कह सकते हैं, क्योकि उस पर विज्ञान की तरह वास्तविकता का नियन्त्रण है, और उसको हम कला भी कह सकते है, क्योकि वह व्यक्तियो और व्यक्तीकरण से निर्दिष्ट है। जब इतिहास वास्तविकता का परित्याग करके मनगढ़न्त और काल्पनिक तथ्यो से किसी व्यक्ति अथवा घटना का चित्रण करता है तो वह कला हो जाता है। सच्चा इतिहास तो किसी व्यक्ति अथवा घटना का विश्वसनीय और यथाभूत चित्रण ही कर सकता है।

सच्चे इतिहास के आलोचक का कर्तव्य यही है कि वह यह बात देखे कि साहित्यकार कहाँ तक अपने विषय को वास्तविक तथ्यो से चित्रित करके उसे मूर्तता और व्यक्तित्व प्रदान कर सका है। साहित्यलोचक इस बात से उदासीन होता है कि तथ्य वास्तविक है या मनगढन्त और काल्पनिक। अन्यथा सच्चे इतिहास का आलोचक साहित्य के आलोचक के सदृश ही होता है ।

२

द्वितीयत हम पाठालोचन (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) का वहिष्कार करते है।

पाठालोचन शब्दाकारशास्त्र-सम्बन्धी विषय है। उसका प्रयोग बहुधा ऐसे ग्रन्थो के लिए किया जाता है जो मुद्रण यन्त्र के आविष्कार से पहले लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त उसका प्रयोग ऐसे ग्रन्थो के लिए भी किया जाता है जो उस काल से पहले लिखे गये थे जब प्रकाशन के आधुनिक नियमो की स्थापना हुई। अंग्रेज़ी मे प्रधानत चासर, स्पेसर, और शेक्सपिअर की ध्यानपूर्वक पाठालोचना हुई है।

पहले कई सौ वर्ष तक कैक्सटन, टाइन, स्टो, स्पेट और यूरी इत्यादि सम्पादको ने चॉसर का पाठ अनालोचनात्मक वृत्ति से स्वीकार किया। इसके पश्चात् अठारहवी शताब्दी के पिछले भाग मे टरहिट ने अँग्रेजी साहित्य-प्रेमियो को चॉसर का आलोचनात्मक सस्करण दिया। टरहिट ने इस कार्य को बडे परिश्रम से किया। पहले उसने चॉसर के पाठ की जितनी प्रतियाँ और प्रतिलिपियाँ मिल सकती थी इकट्ठा की। फिर उसने चॉसर का और चॉसर के समकालीन और पूर्ववर्ती लेखको का सचेष्ट अध्ययन किया और इगलैण्ड के लेखको का ही नही वरन् फ्रान्स और दूसरे देशो के लेखको का भी। उसके परिश्रम का अन्दाजा लगाने के लिए यह याद रखने की बात है कि यह सब अध्ययन हस्तलिखित प्रतियो मे हुआ। अन्त मे उसने बडी सावधानी से चॉसर के पद्यो का संवेदनशील और सुशिक्षित श्रवणेन्द्रिय द्वारा अध्ययन, किया। टरहिट के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ही साधारण पाठक चॉसर को उसके असली रूप मे देख सका और जहाँ तक 'कैण्टरबरी टेल्स' की बात है टरहिट के सस्करण मे उस काव्य की पाठक को ठीक प्रतिभा मिली। टरहिट का सबसे बडा अनुसन्धान यह था कि अन्तिम 'ई' (e) का उच्चारण होता है और वृत्त मे उसकी गणना होती है। टरहिट की विद्वत्ता का लाभ अँग्रेजी अलोचको ने जल्द नही उठाया। परन्तु धीरे-धीरे निकॉलस, राइट, मॉरिस, स्कीट, फर्नीवाल क्रमश उत्तेजित हुए, और चॉसर सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी ने एक ऐसा मान निश्चित किया जिससे चॉसर का पाठ पूर्व स्थित दशा मे लाया गया और जिसने उसे पाठक के लिए समझे जाने और सराहने के लिए सुगम बनाया।

'फेअरी क्वीन' का तृतीय फोलियो १६७९ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर १७१५ ई० मे ह्यूज का प्रथम आलोचनात्मक सस्करण निकला। स्पेसर की कृतियो के और बहुत से सस्करण निकल चुके है जिनमे से डॉक्टर ग्रोसर्ट का सस्करण, और ई० डी० सेलिंकोर्ट का सस्करण उल्लेखनीय हैं।

शेक्सपिअर की कृतियो मे से 'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'ल्यूक्रेसी' उसकी आज्ञा से प्रकाशित हुईं। इनके बहुत से सस्करण कवि के जीवन-काल ही मे निकले। इन दोनो कविताओ के अतिरिक्त कोई दूसरी कृति कवि की स्वीकृति अथवा आज्ञा से प्रकाशित नही हुई। टॉमस थॉर्प ने १६०९ ई० मे शेक्सपिअर के 'सॉनैट्स' को छाप डाला। परन्तु यह सस्करण टॉमस थॉर्प का अनधिकृत साहस था। शेक्सपिअर को इसका पता भी न था, छपाई के पर्यवेक्षण की तो बात ही क्या। -उपर्युक्त दोनो कविताएँ और 'सॉनेट्स' पहले-पहल १७९० ई० मे मैलोन ने अपने आलोचनात्मक सस्करण मे शामिल किए थे। 'रोमियो एण्ड जूलियेट'' 'हैनरी द फिफ्थ', 'द मैरी वाइव्ज़ ऑफ विण्डसर', और 'हैमलेट' का नाटकमण्डली ने स्मृति से पुर्निमाण किया। और इन पुर्निर्मित नाटको को अभिनेतओ ने मुद्रको और प्रकाशको के हाथ बेच डाला। पीटर एलेक्जेंडर का कहना है कि 'द टेमिंग ऑफ श्रू' और 'हैनरी द सिक्स्थ' के पिछले दोनो भाग भी इसी प्रकार छपे थे। ये सस्करण अपूर्ण और क्षत-विक्षत थे। इनका प्रचलन रोकने के लिये वे ही नाटक नये सस्करणो मे प्रकाशित हुये जो शेक्सपिअर की हस्तलिखित प्रतियो से या नाट्यशाला की प्रतियो से तैयार किये गये थे। ऐसे क्षत-विक्षत नाटको की बिक्री रोकने के लिये ही 'रिचर्ड द सेकिण्ड,' 'रिचर्ड द थर्ड,' 'लब्ज लेबर ज लॉस्ट,' द 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस,' 'मिड समर नाइट्स ड्रीम,' 'मच एडो अबाउट नथिंग,' 'फर्स्ट हनरी द फोर्थ,' और 'सैकण्ड हैनरीदफोर्थ' नकले। वे सब क्वार्टो मे छापे गये। जिन क्वार्टो मे क्षत-विक्षत पाठ थे वे 'बैड क्वार्टो' कहलाये और जिनमे यथाभूत पाठ थे वे 'गुड क्वार्टो' कहलाये। टाइटस एण्ड्रोनीकस,' 'किग लीअर,' 'पेरीक्लीज,' 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा', और 'ऑथेलो ये पॉच अधिक नाटक क्वार्टो रूप मे निकले। इनके पीछे १६२३ ई० का फर्स्ट फोलियो' प्रकाशित हुआ। 'पेरीक्लीज' को छोड कर जो नाटक क्वार्टो मे निकल चुके थे उन सब को 'फर्स्ट फोलियो' ने छापा। जो नये नाटक 'फर्स्ट फोलियो' ने छापे उनके नाम ये ह 'द टैम्पेस्ट,' 'द टू जेटिलमैन ऑफ वेरोना,' 'मैजर फॉर मैजर,' 'द कॉमेडी ऑफ ऐरर्स,' 'ऐज़ यू लाइक इट,' 'ऑल इज वेल दैट एण्ड्ज़ वेल,' 'ट्वेल्फथ नाइट,' 'द विण्टर्स टेल,' 'द थर्ड पार्ट ऑफ हैनरी द सिक्स्थ,' 'हैनरी द एट्थ,' 'किग जॉन,' 'कोरायोलैनस,' 'टाइमन ऑफ एथेन्स,' 'जूलियस सीज़र,' 'मैक्बैथ,' 'एण्टनी एण्ड किलयोपैट्रा,' और 'सिम्बैलीन'। फर्स्ट फोलियो' १६३२ मे फिर से छापा गया। १६६३-६४ मे जब 'फर्स्ट फोलियो' तिबारा छापा गया तो उसमे 'पैरिक्लीज' भी छापा गया और इसके अतिरिक्त छ और नये नाटक छापे गये। उनके नाम ये है 'द लण्डन प्रॉडीगल' 'द हिस्ट्री ऑफ टोमस लॉर्ड क्रॉम्वैल,' 'सर जौन ओल्डकासिल,' 'द प्यौरीटन विडो,' 'ए योर्कशायर ट्रैजैडी' और 'द ट्रैजैडी ऑफ लौक्रीन,'। ये छ नाटक प्राय शेक्सपिअर के नही माने जाते यद्यपि कुछ भद्दे प्रकाशक इन नाटको को शेक्सपिअर का कह कर छाप दिया करते थे। चौथी बार फर्स्ट फ़ोलियो १६८५ मे छापा गया और इसमे तीसरे सस्करण के बढाये हुये नाटक भी थे। प्रत्येक नया सस्करण अपने पूर्ववर्ती सस्करण से छापा गया था, जिसने पहिले की कुछ अशुद्धियो को सशोधित किया और अपनी ओर से नई अशुद्धियाँ बढा दी। चौथे फोलियो की कुछ विशेषताएँ है। इसने

अक्षर-विन्यास मे आधुनिकता ला दी और वाक्य के आरम्भिक बडे अक्षरो की सख्या बढा दी। अब तक शेक्सपिअर के नाटको का पाठ मुद्रको के हाथ मे था। उसकी कृतियो का आलोचनात्मक सस्करण निकालने का पहला गम्भीर प्रयास १७०६ मे रो का था। यदि ऐसे सशोधनो की सख्या से जिन्हे आधुनिक सम्पादको ने स्वीकार कर लिया है उसकी योग्यता का निर्णय किया जाय तो उसका स्थान १६३२ वाले फोलियो के सम्पादको से द्वितीय ही माना जायगा। रो के कार्यक्षेत्र मे उसके प्रमुख अनुगामी अठारहवी शताब्दी मे पोप, थिओबोल्ड, जौन्सन, कैपेल, स्टीवेन्स, और मैलोन थे, उन्नीसवी शताब्दी मे बौसवैल, फरनैस, क्लार्क औ राइट थे और बीसवी शताब्दी मे क्विलरकूच और डोवर विल्सन है।

भारतीय भाषाओ मे सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो का अध्ययन कुछ देर से आरम्भ हुआ। किन्तु जितना भी कार्य हुआ है वह कम महत्त्वपूर्ण नही है। सस्कृत के कई ग्रन्थो के प्रामाणिक पाठ स्थिर हुए—हर्टेल तथा एजर्टन ने 'पञ्चतन्त्र' के पाठ का गहरा अनुसन्धान किया, पिशेल ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तला' (बँगला रूपान्तर) का, स्टेन कोनोव् ने राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' का, मैक्समुलर ने 'ऋग्वेद' का, लड्विग ऑल्सडोर्फ ने 'हरिवश' का प्रामाणिक सस्करण प्रस्तुत किया। प्रो० जैकोबी और डॉ० रुबेन ने वाल्मीकि 'रामायण' की पाठसमस्यायो का अध्ययन आरम्भ किया। पाश्चात्य विद्वानो से प्रेरणा पाकर कुछ भारतीय विद्वानो ने भी इस दिशा मे चिरस्मरणीय कार्य किया। 'महाभारत' के आदिपर्व का सम्पादन डॉ० सुकथाङ्कर के हाथो पूरा हुआ। डॉ० पी० एल० वैद्य और डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने कुछ ग्रन्थो के प्रामाणिक सस्करण निकाले जिनमे पुष्पदन्त का 'आदिपुराण' और भवभूति का 'मालती-माधव' विशेष उल्लेखनीय है। डॉ० ए० एन्० उपाध्ये ने योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' का वैज्ञानिक सम्पादन किया।

इनमे सबसे अधिक प्रशसनीय कार्य डॉ० सुकथाङ्कर का रहा। 'महाभारत' के अध्ययन मे उन्होने अपना सारा जीवन और धन उत्सर्ग कर दिया, उन्होने भारत जैसे विशाल देश के कोने-कोने मे बिखरी हुई 'महाभारत' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र की, जो इस देश की विभिन्न लिपियो मे लिपिबद्ध हुई थी। शारदा, देवनागरी, नेपाली, मैथिली, बगाली, तेलेगू, ग्रन्थ तथा मलयालम आदि प्राय सभी प्रमुख लिपियो मे 'महाभारत' की प्रतियाँ उन्हे मिली। कई अन्य विद्वानो के सहयोग से उन्होने इन सभी प्रतियो के पाठो का मिलान करवा कर 'महाभारत' के वैज्ञानिक सम्पादन के सिद्धान्त स्थिर किए। उनके द्वारा सम्पादित 'आदिपर्व' मे विभिन्न लिपियो की लगभग साठ प्रतियो का उपयोग किया गया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होने यह भी दिखाया कि पश्चिम मे पाठनिर्धारण के जो सिद्धान्त स्थिर किए गए है, उनसे भारतीय ग्रन्थो के सम्पादन का पूरा-पूरा काम नही निकलता और फलस्वरूप उन्होने पाठनिर्धारण के कई नवीन सिद्धान्तो

का उपस्थापन किया। इस क्षेत्र मे डॉ० सुकथाङ्कार·ने जो कार्य किया वह वास्तव मे कभी भुलाया नही जा सकता।

हिन्दी मे प्राचीन तथा मध्यकालीन कवियो की रचनाओ के प्रामाणिक सस्करणो का अभाव विद्वानो को समय-समय पर खटकता अवश्य रहा है, किन्तु ठोस कार्य अभी थोडे ही दिनो से आरम्भ हुआ है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे डॉ० ग्रियर्सन और प० सुधाकर द्विवेदी ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल से बिहारी की 'सतसई' और मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' के कुछ अश कई प्राचीन प्रतियो के आधार पर सम्पादित करके प्रकाशित करवाए। डॉ० ग्रियर्सन ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का भी पाठ सम्पादित करके खड्गविलास प्रेस, बॉकीपुर से प्रकाशित कराया। पुन बीसवी शताब्दी की कुछ आरम्भिक दशाब्दियो मे इण्डियन प्रेस ने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के तत्वावधान मे कई विद्वानो द्वारा तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का और गङ्गा-पुस्तकमाला, लखनऊ ने श्री जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' से 'बिहारी-सतसई, तथा श्री कृष्णबिहारी मिश्र से 'मतिराम-ग्रन्थवाली' का सम्पादन कराकर प्रकाशित किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी कई विद्वानो से 'तुलसी-ग्रन्थावली,' 'सूर-सागर,' 'सुन्दरग्रन्थावली' 'कबीर-ग्रन्थावली,' 'ढोला मारू रा दूहा, के 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन,प्रयाग ने डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल से'गोरख-बानी' के, प्रयाग विश्वविद्यालय ने प० उमाशकर शुक्ल से नन्ददास के काव्यग्रन्थो के, और वहाँ के हिन्दी परिषद् ने सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' के, तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग ने 'बेली किसन रुकमनी री' के सुपाठ्य सस्करण सम्पादित करा कर प्रकाशित किए। किन्तु ये सभी कार्य वैज्ञानिक दृष्टि से पूरे खरे नही उतरते। प्रामाणिक पाठ-निर्णय के सम्बन्ध मे सम्पादन विज्ञान के जो सिद्धान्त है, उनसे ये सभी विद्वान अपरिचित ज्ञात होते है।

हिन्दी मे वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वप्रथम इस प्रकार का कार्य आरम्भ करने का श्रय डॉ० माताप्रसाद गुप्त को है। उन्होने, तुलसीदास के रामचरितमानस' का प्राचीनतम प्रतियो के आधार पर केवल सम्पादन ही नही किया है, वरन् उसके पाठ की समस्याओ को लेकर 'रामचरितमानस का पाठ' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ दो जिल्दो मे प्रकाशित करवाया है। इसी प्रकार उन्होने 'जायसी ग्रन्थावली' का भी प्रचीनतम प्रतियो के आधार पर सम्पादन किया है, और उसकी भूमिका के रूप मे उसके सम्पादन मे प्रयुक्त प्रतियो और पाठनिर्धारण-सम्बन्धी सिद्धान्तो का विस्तारपूर्वक वैज्ञानिक विवेचन किया है। इसमे 'रामचरितमानस' का पाठ और 'रामचरितमानस' सन, १९४९ मे साहित्य-कुटीर, प्रयाग, से और 'जायसी-ग्रन्थावली' सन् १९५१ मे हिन्दुस्तानी एकडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित नरपति नाल्हकृत बीसलदेव रासो का भी प्रकाशन हो गया है। डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित् और अनेक पुस्तकें प्रकाश मे आई है। कबीरदास की रचनाओ का भी सम्पादन प्रयाग-विश्वविद्यालय के तत्वावधन मे डॉ पारसनाथ तिवारी ने किया है जो 'कबीर ग्रन्थावली' शीर्षक से हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, द्वारा प्रकाशित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई जागृति के साथ हिन्दी वालो ने इस दिशा मे अपना उत्तरदायित्व भलीभाँति समझ लिया है।

हिन्दी मे 'रामचरितमानस' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमे उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ कला का अत्यन्त रोचक समन्वय है। इसमे प्रधान रसो की शिष्टतापूर्ण सफल अभिव्यञ्जना है और रचनाकौशल, भाषा प्रयोग तथा प्रबन्धपटुता मे 'मानस' तुलसी की प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी मे ऐसे बहुत कम ग्रन्थ है जिसमे अनेक साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गुणो का एक साथ ही ऐसा उत्कृष्ट समन्वय हो सका हो जेसा 'रामचरितमानस' मे हुआ है। इन गुणो के कारण 'मानस' भारत की ही नही, अखिल विश्व की उन गिनीचुनी पवित्र पुस्तको की कोटि मे आ जाता है। जिन्होने मानव जाति को सदैव कल्याणमय माग की ओर अग्रसर किया है, अत स्वाभाविक रूप से इस ग्रन्थ के मूल पाठ का निर्धारण बडा ही महत्त्व रखता है।

अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण 'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ और उनके आधार पर सम्पादित सस्करण उत्तरी भारत मे इतने अधिक है कि उन सबका लेखा लगाना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नही है। इनमे जो पठान्तर मिलते है वे भी कम नही है, अत 'मानस' प्रेमियो के मस्तिष्क मे उसके मूल पाठ तक पहुँचने की समस्या सदैव ही गूँजती रही है। स० १९९९ मे स्व० प० शम्भूनारायण चौबे ने 'मानस-पाठभेद' शीर्षक एक लेख मे बडे ही परिश्रम से 'मानस' की कई प्रतियो के पाठान्तर दिए, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, 'मानस' की पाठसमस्या का सबसे अधिक वैज्ञानिक और सन्तोषजनक सुलझाव डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत हुआ है।

'मानस' के पाठनिर्धारण में गुप्त जी ने छोटी-बडी लगभग बीस प्रतियो का उपयोग किया है। पुष्पिकाओ की परीक्षा के अनन्तर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि लिपिकाल की दृष्टि से उनमे केवल चार प्रतियाँ वास्तव मे प्राचीन कही जा सकती है, शेष सभी प्रकट या अप्रकट रूप से प्राय· आधुनिक है। इन चार प्रतियो मे एक स० १६६१ मे लिखी गई थी और इस समय श्रावणकुञ्ज अयोध्या मे है। दूसरी स०१७०४ मे लिखी गई थी जो काशिराज के पुस्तकालय मे है, तीसरी और चौथी क्रमश. स० १७२१, स० १७६२ मे लिखी गई थी, और इस समय भारत-कलाभवन, काशी, मे हैं। इन प्रतियो के अतिरिक्त निम्नलिखित मुख्य-मुख्य प्रतियाँ और है, जिनका उपयोग गुप्त जी ने अपने अध्ययन मे किया है—एक छक्कनलाल की प्रति कही गई है, जो स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकार द्विवेदी के वशजो के पास है; दूसरी मिर्जापुर की प्रति, तीसरी कोदवराम की प्रति जो 'बीजक' के नाम से गोस्वामी जी की एक शिष्य-परम्परा मे बहुत दिनो तक सुरक्षित रही, और जिसे कोदवराम जी ने पहले-पहल स० १९५३ मे वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित करवाया था, और चौथी राजापुर की प्रति कही गई है जो वहाँ के प० मुन्नीलाल उपाध्याय के वशजो से उन्हे प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त कई प्रतियाँ भी उन्हे मिली थी, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नही है। सवत् १६६१ वाली प्रति की पुष्पिका मे सं० १६६१ की तिथि दी हुई है, जिसे डॉ० गुप्त ने गणना तथा निरीक्षण के आधार पर जाली ठहराया है। डॉ० गुप्त ने कई प्रतियो की पुष्पिकाओ का निरीक्षण करके यह दिखाया है कि प्रतियो का महत्त्व बढाने के अभिप्राय से

लिपिकाल बदल कर उन्हे तुलसी के जीवन-काल तक खीच ले जाने का इस प्रकार प्रयत्न बहुत हुआ है।

डॉ० गुप्त ने पाठान्तरो का अध्ययन कर उक्त प्रतियो को चार मुख्य शाखाओ मे विभाजित किया है और उनकी विशेषताओ के आधार पर प्रत्येक की ठीक स्थिति का पता लगाकर उनकी प्रतिलिपि-शृङ्खला और वश-परम्परा निर्धारित की है। इस प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उन्होने कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थिर किए है, जिनके अनुसार निर्मित पाठ को हम निरपवाद रूप मे तुलसीदास द्वारा प्रदत्त मूल पाठ अथवा उसका निकटतम पाठ मान सकते है।

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' मे भी कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ है, जिनसे उसने लोकरुचि को विशेष रूप मे आकर्षित किया है। इस ग्रन्थ के भी अनेक सस्करण हिन्दी और उर्दू मे निकल चुके है, जिनमे अब तक ग्रियर्सन तथा प० रामचन्द्र शुक्ल के सस्करण ही विशेष प्रामाणिक माने जाते रहे है। किन्तु उनके सम्पादन मे कुछ ऐसी सैद्धान्तिक भूल थी जिनके कारण पाठ-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियो का निराकरण नही हो सका था। इनमे मूल मे सम्मिलित अनेक अश ऐसे है जो वास्तव मे प्रक्षिप्त है और जायसी की कलम से कभी नही लिखे गए। शुक्ल जी के सस्करण मे ऐसे तैतालीस छन्द है जो वास्तव मे प्रक्षिप्त है। इनमे से एक वह भी हे जो ग्रन्थ के अन्त मे सारी कहानी का गूढार्थ प्रस्तुत करता है, और जिसमे चित्तौर को तन, राजा को मन, सिहल को हृदय, पद्मिनी को बुद्धि आदि, बताया गया है। इस छन्द को लेकर अब तक आलोचको मे बडा वितण्डावाद चलता रहा है। पुस्तको के अध्याय के अध्याय केवल इसी के लिये लिखे गए है। किन्तु डॉ० गुप्त ने 'पदमावत' की पाठ-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियो के साथ ही साथ इस भ्रान्ति का भी निराकरण कर दिया है। उनके अनुसार यह छन्द जिन दो एक प्रतियो मे मिलता है, पाठ कीदृष्टि से उनकी स्थिति निम्नतम कोटि की है, और अन्य दृष्टियो से भी यह छन्द निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हे।

'पदमावत' के पाठ-सशोधन मे अनेक उलझनो का सामना करना पडता है। उसकी अधिकतर प्रतियाँ फारसी लिपि मे मिलती हे, जिनमे लिपि दोष के कारण अनेक भ्रान्तियाँ समय-समय पर घुसती गई है। उर्दू मे 'किलकिला' का 'गिलगिला' 'गिरहि' का 'करहि' 'फेरि' का 'बहुरि' 'जाइ' का 'बाइ' 'रही' का अही' बडी आसानी से हो सकता है,फलत पदमावत मे इस प्रकार की सहस्रो विकृतियाँ मिलती है। दूसरी कठिनाई यह है कि प्रतियो मे सशोधन अत्यधिक हुए है कही मिटाकर कही कलम फेर कर और कही हाशिए पर लिख कर। अधिकतर प्रतियाँ सशोधनो से भरी पडी है। इससे मालूम होता है कि 'पदमावत' के प्रतिलिपिकारो के सामने प्राय उसके एक से अधिक आदर्श रहते थे। इन कठिनाइयो के रहते हुए भी डा० गुप्त ने उसके प्रामाणिक सम्पादन मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। वे मूलतम प्रति के कितने अधिक निकट पहुँच सके हे, इसका पता केवल एक ही बात से भली-

भाँति लग जाता है। 'पदमावत' की प्राप्त प्रतियो मे केवल तीन को छोडकर सभी फारसी या अरबी लिपि मे है। इन तीन प्रतियो से भी, जो नागरीलिपि मे है, लगभग डेढ सौ उदाहरण देकर उन्होने यह सिद्ध किया है कि इनके भी आदर्श फारसी या अरबी लिपि मे थे। किन्तु अरबी या फारसी की सभी प्रतियो मे ऐसे अनेक सङ्केत विद्यमान है जिनके आधार पर उन्होने सिद्ध किया है कि 'पदमावत' की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—चाहे वे नागरी की हो या फारसी-अरबी लिपि की—सब का मूल आदर्श अर्थात् कवि की प्रति नागरी लिपि मे थी। यह एक ऐसा सत्य है जो इत पूर्व 'पदमावत' के सम्पादको मे से किसी को नही ज्ञात था। यह निर्णय उन्होने एक-दो के आधार पर नही, लगभग सत्तर प्रमाणो के आधार पर किया है, जिनमे से केवल दो नीचे दिए जाते है। 'पदमावत' की एक पक्ति का निर्धारित पाठ है —

जनु भुइँचाल जगत महि परा। कुरुँम पीठ टुटिय हियँ डरा।

उसकी समस्त प्रतियो मे 'कुरुँम' के स्थान पर 'कुरुँभ' है। ऐसी विकृति केवल नागरी मूल रहने से ही हो सकती है, क्योकि उर्दू-फारसी के 'म' और 'भ' मे बडा अन्तर होता है, और इसके विपरीत नागरी मे उनमे परस्पर अत्यधिक साम्य होता है। 'पदमावत' की एक अन्य पक्ति का निर्धारिन पाठ है —

रातिहुँ देवस इहै मन मोरे। लागौ कत 'छार' जेउ तोरें।

'छार' के स्थान पर समस्त प्रतियो मे पाठ 'थार' या 'ठार' है, जो निरर्थक है। पहले देवनागरी मे 'छार' ही रहा होगा, फिर 'छ' का 'थ' (जो रूपसाम्य के कारण बहुत ही सम्भव है) और फिर उर्दू 'थ' का 'ठ' हुआ होगा।

'पदमावत' का यह सम्पादन गुप्त जी ने सत्रह प्रतियो के आधार पर किया है, जिनमे से कई विदेशो से प्राप्त की गई है और पाठ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पाठालोचक के बहुत से काम हैं—पाठालोचक किसी कृति का रचनाकाल स्थिर करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य का उपयोग करता हे। अन्तर्साक्ष्य मे समकालीन घटनाओ का सङ्केत रहना है और उस तिथि को नियत करता है जिसके पीछे ही कृति की रचना हुई होगी। उदाहरण के लिये 'मैक्बैथ' को लीजिये। उसमे जेम्स प्रथम के राज्याभिषेक सम्बन्धी बहुत से सङ्केत है। यह राज्याभिषेक १६०३ ई० मे हुआ था। स्पष्ट है कि नाटक १६०३ ई० के पश्चात् ही लिखा गया होगा। बहिर्साक्ष्य मे उन पुस्तको की ओर सङ्केत होता है जिनमे कृति का उल्लेख होता है और जिनका रचनाकाल हम जानते हैं। यह साक्ष्य ऐसी तिथि स्थिर करती है जिससे पहले कृति किसी न किसी रूप मे अवश्य वर्तमान थी। उदाहरण के लिये फिर 'मैक्बेथ' को लीजये। डॉक्टर साईमन फोरमैन

ने अपनी दिनचर्या मे लिखा है कि उन्होने इस नाटक को ग्लोब थियेटर मे १६१० ईस्वी की २० अप्रैल को रङ्गमञ्च पर देखा। इस सङ्केत से हम कह सकते है कि नाटक १६१० ई० से पहले वर्तमान था। 'द प्योरीटन' जिसका रचनाकाल १६०७ ई० है बैको के भूत का उल्लेख करता है। यह सङ्केत 'मैक्वेथ' के रचनाकाल को और नीचे खसका देता है। दो और साक्ष्य है. पहला, विचारो की पक्वता का, और दूसरा, शैली की प्रौढता का। ये दोनो साक्ष्य पहले दोनो साक्ष्यो की परिपुष्ट करते है। उदाहरण के लिये शेक्सपिअर को लीजिये। शेक्सपिअर के पूर्ववर्ती नाटककारो के पद लग गणो के बने होते थे। गैस्कोइन ने इसका बडा विरोध किया था, फिर भी इसी गण का प्रयोग चलता गया। शेक्सपिअर ने भी इसी प्रथा का अनुगमन शुरू मे किया। पर जैसे-जैसे उसकी पदयोजना सम्बन्धी प्रतिभा का विकास हुआ वह लग की जगह गल, गग, लल, सगण, और भगण गणो का प्रयोग करने लगा। एक ही गण का निरन्तर प्रयोग पद्य मे अरुचि पैदा करता है। शेक्सपिअर ने इस लग को जहाँ-तहा बदलकर अपने पद्य को धीरे-धीरे रुचिकर बनाया। पहले-पहले शेक्सपिअर अर्थघटित पद लिखता था। धीरे-धीरे वह प्रवाहक पद लिखने लगा। अपनी पिछली कृतियो मे तो प्रवाह बढाने के लिये वह पद के अन्त मे सहायक क्रिया, सर्वनाम, और सम्बन्धसूचक शब्दो का भी प्रयोग करने लगा। शेक्सपिअर के प्रारम्भिक नाटको मे ऐसा भी देखा गया है कि या तो पात्र विस्तारपूर्वक कथन करते है या वे जल्दी-जल्दी बोलते है और प्रत्येक पात्र का कथन एक पूरे पद का होता है। यह व्यवहार शीघ्र छूट गया और पर्याप्त विस्तार के कथन व्यवहृत होने लगे। एक और रोचक परिवर्तन उसकी पदयोजना मे आया। वह था पद का ही जहाँ-तहाँ बदल देना। पञ्चगणात्मक पद की जगह षड्गणात्मक पद का प्रयोग बढता गया और कही-कही तो एक पद दो पात्रो मे बँटने लगा। यदि पहला पात्र अपने कथन का अन्तिम भाग द्विगणात्मक पद मे समाप्त करता है तो आगामी पात्र अपना कथन त्रिगणात्मक पद से आरम्भ करता है। शेक्सपिअर की पदयोजना का यह विकास उसकी कृतियो के क्रमिक-प्रवाह को निर्धारित करने मे बडा सहायक साबित हुआ है। शेक्सपिअर की निर्मातृ-प्रतिभा का विकास भी इस सम्बन्ध मे उतना ही सहायक सिद्ध हुआ है। मिडिल्टन मरे ने अपनी 'शेक्सपिअर' नामक पुस्तक मे यह सिद्ध किया है कि कवि के विचारो और अन्तर्वेगो मे पहले विभाजन था। इसके अनन्तर विचारो और अन्तर्वेगो का एकीकरण कल्पना की अनात्मचेतन स्वय-प्रवृत से हुआ। उदाहरणार्थ, 'हैनरी' द सिक्स्थ,' 'रिचार्ड द थर्ड' और 'द टू जेण्टिलमैन ऑफ वैरोना' असहज रूपको और वाग्मितापूर्ण कथनो से भरे पडे है, स्वजन्य जीवो और घटनाओ से अपनी अन्तरात्मा का सायुज्य करने मे कवि असमर्थ था, वह उनका साक्षी सा बना रहता था, उनमे विलीन नही हो पाता था। पीटर एलेक्जेण्डर शेक्सपिअर के इस रचनाकाल को रोमन शैली से प्रभावित मानता है। इस काल मे कवि ने नाटकीय घटनाएँ रोमन अथवा ब्रिटेन के अर्द्धपौराणिक इतिहास से ली, और अपने पात्रो की रचना इन्ही घटनाओ के आधार पर की। जेसे-जैसे उसकी प्रतिभा का विकास हुआ वैसे-वैसे असहजरूपक सहज होते

गये और वाग्मितापूर्ण कथन स्वाभाविक होते गये। धीरे-धीरे काव्य और नाटक का ऐसा सामञ्जस्य हुआ कि सजीव पात्रो और विश्वास्य घटनाओ की सृष्टि हुई और समस्त कृत्रिमता लुप्त हो गई। इसी तरह नाटकीय द्वन्द्व-निरूपण धीरे-धीरे आध्यात्मिक गहराई पाता गया। नाटक मे परिस्थिति और पात्र मे द्वन्द्व होता है। जब पात्र परिस्थिति पर विजय पा लेता है तो हास्य (कॉमेडी) की सृष्टि होती है और जब परिस्थिति पात्र को परास्त कर देती है तो करुण (ट्रैजेडी) की सृष्टि होती है। यह द्वन्द्व शेक्सपिअर के 'हास्य' मे पहले तो कायिक स्तर पर है, फिर शनै-शनै नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर आ जाता है। शेक्सपिअर के पिछले हास्यो मे नायिका द्वन्द्व को आशा, श्रद्धा, और प्रेम से अपने सुख मे परिणत कर लेती है। ऐतिहासिक नाटको मे शेक्सपिअर पहले मानव-सङ्घर्ष का प्रदर्शन करता था। धीरे-धीरे उसे ऐतिहासिक घटनाओ मे सवेगो मे सम्भवनीयता का आभास हुआ और मानवीय समस्याओ मे सार्वभौमिक समस्याएँ और सासारिक योजनाओ मे विश्व-योजनाएँ प्रतिबिम्बित देखने लगा। इसी तरह करुण द्वन्द मे परिस्थिति के अपार बल से परास्त नायक को व्यथित देखकर धीरे-धीरे उसकी अन्तरात्मा ऐसी प्रभावित हुई कि वह जीवन और भाग्य के गूढतम रहस्यो तक पहुँच गया।

भारत मे अन्तरग परीक्षा तो प्राय ग्रन्थ के मर्म, रहस्य, मथितार्थ, और प्रमेय ढूँढ निकालने तक सीमित रही है। ग्रन्थ का काल-निर्णय बहिरग परीक्षा से किया जाता है। इस उद्देश्य से यह देखा जा है कि ग्रन्थ की भाषा की ऐतिहासिक दशा कैसी है। उसमे किन-किन मतो, घटनाओ, और व्यक्तियो का उल्लेख है। उसमे व्यक्त विचार स्वतन्त्र हैं, अथवा बाहर से लिये गये है, और यदि बाहर से लिये गये है तो कहाँ से। उसमे लेखक की शैली प्रौढ है अथवा अप्रौढ। इस प्रकार 'भगवदगीता' के आर्ष प्रयोगो पर ध्यान जाने से कुछ आधुनिक पण्डितो का अनुमान है कि 'गीता' की रचना ईसा से कइ सौ वर्ष पहले हुई होगी। क्योकि 'गीता' मे नास्तिक मत का उल्लेख है, कुछ पण्डित समझते हैं कि 'गीता' बौद्ध धर्म के पीछे लिखी गई होगी। युद्ध क्षेत्र मे सारी 'गीता' सुनाना असम्भव सी बात है; श्रीकृष्ण ने थोडे से श्लोकों का भावार्थ अर्जुन से कह दिया होगा, और वे ही श्लोक पीछे से विस्तार पा गये होगे। 'गीता' मे 'ब्रह्मसूत्र' का भी उल्लेख है; इसलिये 'गीता' 'ब्रह्मसूत्र' के बाद बनी होगी। परन्तु क्योकि 'ब्रह्मसूत्र' मे कई जगह 'गीता' का आधार लिया गया है 'गीता' ब्रह्मसूत्र' के पहिले ही का ग्रन्थ होगा पीछे का नही। ऐसे विचार 'गीता' का रचना-काल स्थिर करने मे सहायक होते है।

तुलसीदास की रचनाओ का काल-क्रम विद्वानो ने अपने-अपने विचारो के अनुसार भिन्न-भिन्न दिया है। तुलसीदास की रचनाओ मे आठ तो प्रबन्ध-ग्रन्थ हैं और पाँच सग्रह-ग्रन्थ है। इनमे से चार प्रबन्ध-ग्रन्थो का कालस्वय तुलसीदास ने दे दिया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' मे सं० १६२१, 'रामचरितमानस' मे सं० १६३१, 'सतसई', में स० १६४१ और 'पार्वतीमङ्गल' मे स० १६४३ दिए हुए हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने डी० लिट्० के निबन्ध 'तुलसीदास' मे छन्दयोजना, वक्ता-श्रोता-परम्परा तया कथावस्तु के मूलभूत आधारो की दृष्टि से 'रामचरितमानस', का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि ग्रन्थ का जो

स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम से कम तीन विभिन्न प्रयासो का परिणाम है। ग्रन्थ भर मे कुछ अश ऐसे हैं जो कथा-क्रम मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और अन्य अशो से इतने भिन्न जान पडते है कि उनमे विभाजक रेखाएँ सरलता से खीची जा सकती है। डॉ० गुप्त का विचार है कि प्रथम प्रयास मे बालकाण्ड का उत्तरार्द्ध और अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण लिखा गया था। द्वितीय प्रयास मे पहले बालकाण्ड की प्रथम पैंतीस चौपाइयो को छोडकर लगभग शेष सभी चौपाइयो की रचना हुई, फिर अरण्यकाण्ड और किष्किधाकाण्ड की रचना होकर क्रमश सुन्दरकाण्ड, लङ्काकाण्ड, और उत्तरकाण्ड के अधिकाश लिखे गए होगे। तीसरे और अन्तिम प्रयास मे बालकाण्ड की पहली पैंतीस चौपाइयाँ जोड कर सारे ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के लिये पहले के आधार मे कुछ घटा-बढी की गई होगी।

शेष ऐसे ग्रन्थो का जिनमे कवि ने किस तिथि का स्पष्ट उल्लेख नही किया है रचनाकाल निर्धारित करने के लिए उन्होने अपने उपयुक्त निबन्ध-ग्रन्थ मे विभिन्न युक्तियो का आश्रय लिया है। कुछ रचनाओ के निर्माण-काल का अनुमान उन्होने ज्योतिष-सम्बन्धी उल्लेखो अथवा तत्कालीन ऐतिहासिक वृत्तो के विवरणो से लगाया है। उदाहरण के लिए 'दोहावली' मे रुद्रबीसी का उल्लेख है, जो गणना से स० १६५६ से स० १६७६ तक के बीच पडती है। 'कवितावली' मे इसी प्रकार रुद्रबीसी के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है, जो ज्योतिष के अनुसार स० १६६९ अथा स० १६७१ के बीच मे घटित होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न रचनाओ की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियो मे दी हुई तिथियो, विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन के सहारे तथा अन्य अनेक दृष्टियो से प्रत्येक रचना का विश्लेषण करके उन्होने कालक्रम तथा अवस्थाक्रम के अनुसार कवि की रचनाओ को निम्नलिखत चार समूहो मे विभाजित किया है। (जैसा हम ऊपर देख चुके है 'रामाज्ञाप्रश्न', 'रामचरितमानस' 'सतसई' तथा 'पार्वतीमङ्गल' के अतिरिक्त सभी ग्रन्थो की तिथियाँ इस प्रकार केवल अनुमानसिद्ध हैं) —

अ प्रारम्भिक (स० १६११–२५)

(१)	रामलला नहछू	स० १६११	अवस्था	लगभग	२२ वर्ष
(२)	वैराग्यसन्दीपनी	स० १६१४	,,	,,	२५ ,,
(३)	रामाज्ञाप्रश्न	स० १६२१	,,	,,	३२ ,,

आ मध्यकालीन (स० १६२६–४५)

(१)	जानकीमङ्गल	स० १६२७	,,	,,	३८ ,,
(२)	रामचरितमानस	स० १६३१	,,	,,	४२ ,,
(३)	सतसई	स० १६४१	,,	,,	५२ ,,
(४)	पार्वतीमङ्गल	स० १६४३	,,	,,	५४ ,,

इ उत्तरकालीन (स० १६४६–६०)

(१)	गीतावली	सं० १६५३	,,	,,	६४ ,,

(२) विनयपत्रिका स० १६५३ अवस्था लगभग ६४ वर्ष
(३) कृष्णगीतावली स० १६५८ " " ६६ "

ई अन्तिम और अपूर्ण (स० १६६१–८०)
(१) बरवा
(२) दोहावली
(३) कवितावली (हनुमान बाहुक सहित)

पाठालोचक किसी कृति के आधारो का पता लगाता है। यह बडा मनोरञ्जक विषय है कि शेक्सपिअर के 'टेमिंग ऑफ द श्रो' का 'द टेमिंग ऑफ ए श्रो' से क्या सम्बन्ध है। क्या पिछला नाटक पहिले नाटक के आधार पर लिखित है अथवा वह एक पुराना नाटक है जिसे शेक्सपिअर ने अपने हास्य के लिये आधार रूप मे ग्रहण किया। यह अध्ययन बडा मनोरञ्जक है कि 'मैक्बेथ' मे शेक्सपिअर कहाँ तक मौलिक है, कहाँ तक वह केवल इतिहास का प्रयोग करता है, और कहाँ तक वह पौराणिक इतिहास, हालि-शेड, और स्कॉटलैण्ड के मौलिक इतिहासकारो का ऋणी है। यह भी बडा रोचक होगा कि शेक्सपिअर के 'हैम्लेट' का सैक्सो, बैलफौरेस्ट', किडकृत हैम्लेट और जर्मनी के अपरिष्कृत नाटक 'डर बैस्ट्राफ्टे ब्रूडरमोड' से सम्बन्ध स्थापित किया जाय और पिछले नाटक के आलोचनात्मक अध्ययन से हैम्लेट के चरित्र की इस असङ्गत बात का स्पष्टीकरण किया जाय कि वह स्वभाव से निराशावादी होता हुआ क्यो पोलोनिअस के मारने मे इतनी तत्परता का प्रदर्शन करता है। पाठालोचक यह भी निश्चित करता है कि कृति का लेखक कौन है, और यदि उसके निर्माता बहुत से लेखक है तो यह निश्चित करता है कि प्रत्येक लेखक का उस सयुक्त निर्माण मे क्या भाग है। हमे हेन्सलो का साक्ष्य प्राप्त है और आधुनिक अनुसन्धान भी इस बात को पुष्ट करता है कि एलीजैबेथ के समय मे एक ही नाटक के रचयिता तीन या चार हुआ करते थे। सयुक्त रचना स्वाभाविक सी बात थी। कारण ये थे कि नाटको की बडी माँग थी प्रत्येक नाट्यशाला अपना स्वतन्त्र नाटककोष रखती थी कम्पनियो मे बडी होड रहती थी और दर्शको की सख्या सीमित थी। यह बात अब सर्वमान्य है कि शेक्सपियर ने अपना जीवन पुराने नाटको के पुनर्निर्माण से प्रारम्भ किया और समकालीन नाटककारो के सहयोगी के रूप मे समाप्त किया। फिर भी बहुत दिनो तक सन्देह के रहते हुए भी 'फर्स्ट फोलियो शेक्सपियर की प्रामाणिक ग्रन्थावली मानी जाती थी। जे० एम० रौबर्टसन का ही पहला प्रगल्भ कार्य था जब उसने इस प्रामाणिक ग्रन्थावली का विश्लेषण किया और क्षेपको का निर्देश किया। शेक्सपिअर के पाठ मे बहुत ऐसे अश हैं कि जिनको देखकर आलोचक लोग कह देते थे कि इसमे या तो शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारो का अनुकरण किया है या वे कवि की अपरिपक्व प्रतिभा के कारण निम्न श्रेणी के प्रतीत होते हैं। परन्तु रौबर्टसन ने अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता से यह दिखाया कि इन अशो पर दूसरे लेखको की लेखन-शैली की पूरी छाप है। और यदि हम शेक्सपिअर का विश्लेषण न करें तो हम

उसे अपमानित करने के अपराधी होगे। रौबर्टसन एक सूक्ष्मदर्शी पाठालोचक है। एक शैली को दूसरी शैली से पहचान लेने मे बडा दक्ष है। शेक्सपिअर की कृतियो का और उसके समकालीन तथा पूर्ववर्ती लेखको का उसे बडा सही और विस्तृत ज्ञान है। तनिक से सादृश्य के सङ्केत पर ही अन्य नाटककारो के समरूप उदाहरणो का उसे स्मरण हो जाता है। बस, पद्यात्मक आसामान्यता, वाक्सरणि, और विचार-सम्बन्धी विशेषताओ के आधार पर रौबर्टसन यह निर्णय करता है कि 'टाइटस एण्ड्रोनीकस' पील, ग्रीन, किड और मार्लो का मिश्रित काम 'है। शेक्सपिअर तो केवल पुनर्निरीक्षण का उत्तरदायी है। 'टाइमन' मे जो भाग शेक्सपिअर लिखित नही मालूम होता है वह चैपमैन लिखित है। उसका निर्णय रौबर्टसन यो करता है कि 'टाइमन' मे ससार पर दोषारोपण करने वाली अन्योक्तियाँ, कृत्रिम रूपक और वाक्यरचना-सम्बन्धी पद-शून्यताओ की भरमार है और ये सब ऐब चैपमैन के है। 'ट्रोयलस और क्रेसिडा, मे भी जहाँ यूलीसिस के लम्बे-लम्बे कथन आते हैं वहाँ चैपमैन का ही हाथ मालूम होता है क्योकि चैपमैन अपने नाटको मे कार्यगति को भूलकर प्रबन्ध-व्याख्याओ मे विलीन हो जाता है। शेक्सपिअर के चौदह हाम्यो मे रौबर्टसन 'ए मिड समर नाइटस ड्रीम' को ही उसका पूरा लिखा हुआ मानता है यद्यपि डोवर विल्सन इनमे भी तीन भिन्न व्यक्तियो की रचनाओ का समन्वय समझता है। पुरानी कृतियो मे मिश्रित रचना तो है ही, इसके अतिरिक्त उनमे अनधिकृत क्षेपक भी है। शेक्सपिअर स्वय इस बात का सङ्केत करता है जब हैम्लेट फर्स्ट प्लेअर को 'मरडर ऑफ गॉनजेगो' मे अपने हाथ की लिखी हुई बारह या सोलह पक्तियाँ मिला देने का आदेश देता है। इसी तरह 'डॉक्टर फॉस्टस' मे वर्ड और रोली के क्षेपको का समावेश है, और 'मैक्बैथ' मे कनिंघम के मतानुसार, मिडिल्टन और शायद रोली या जार्ज विल्किन्स के क्षेपक है। स्वजनित रचना को क्षेपको से अलग करना भी पाठालोचक का ही काम है।

आलोचनात्मक वार्तालाप मे एक ख्यातिप्राप्त आलोचक ने लेखक से कहा कि यदि हिन्दी से सस्कृत का इतिवृत निकाल दिया जाय तो हिन्दी का प्रबन्ध-काव्य करीब-करीब अस्तित्वहीन हो जाय। यद्यपि इस कथन मे अत्युक्ति है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि प्राचीनकाल से अब तक हिन्दी सस्कृत की ऋणी रही है। इतिवृत्ति बाहर से लेने की प्रथा सस्कृत से ही चली आ रही है। कालीदास-कृत 'शकुन्तला' और हर्ष-कृत 'नैषध' को कथावस्तु 'महाभारत' से आई है, हिन्दी मे 'भ्रमरगीत' 'सूर-सागर' और 'रास-पञ्चाध्यायी' का वस्तु-निर्वाचन 'भागवत' से हुआ है, 'रत्नाकर' कृत 'गङ्गावतरण' और 'हरिश्चन्द्र' वाल्मीकीय 'रामायण' पर आधारित है और मैथिलीशरण कृत 'जयद्रथ-वध' 'महाभारत' पर अवलम्बित है। तुलसीदास स्वय स्वीकार करते हैं कि उनकी 'रामचरितमानस' पुराने ज्ञान का निष्कर्ष है। उन्होने वाल्मीकोय 'रामायण' 'अध्यात्म-रामायण' 'श्रीमद्भागवत' 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का विशेष सहारा लिया। इनके अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रन्थो के स्फुट श्लोको के छायानुवाद भी उनकी रचना मे मिलते है। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के कारण इसके सस्करण बहुतायत से हुए, और सम्पादकगण अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थ मे क्षेपक लेते गये। इन क्षेपको का आलोचनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक है। अयोध्याकाण्ड के तापस-

विषयक क्षेपक को सुलझाना बडी कठिन सामस्या का सामना करना है। यह क्षेपक शैली मे तुलसीदास का सा मालूम होता है और समस्त प्रामाणिक प्रतियो मे मिलता भी है। परन्तु इससे कथा-प्रवाह मे रुकावट पडती है, और एक रचना-कौशल-सम्बन्धी नियम को भी यह भङ्ग करता है। अयोध्याकाण्ड मे आमतौर से छन्द पच्चीसवें दोहे के बाद आता है, और इस स्थल पर छन्द छब्बीसवे दोहे के बाद है। अत अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह प्रसङ्ग स्वत. कवि द्वारा ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर मिलाया गया था।

पाठालोचक का मुख्य काम पाठ का ऐसा सशोधन करना है कि फिर से मूलपाठ स्थापित हो जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आलोचक हस्तलिखितप्रतियो के साक्ष्य का सहारा लेता हे। इस साक्ष्य को आलोचक पाठक के सामने इस तरह उपस्थित करता है कि वह उन प्रमाणो को जिन पर पाठ आधारित है भलीभाँति समझ जाय और सम्पादक की निर्णयात्मक पटुता का उसे पूरा भरोसा हो जाय।

उन्नीसवी शताब्दी तक सम्पादक सबसे अच्छी हस्तलिखित प्रति की खोज मे रहता था। जब उसे ऐसी प्रति मिल जाती थी, तो उसके आधार पर वह पाठ का मनमाना सशोधन कर डालता था। इस प्रक्रिया मे सबसे अच्छी प्रति की शुद्धियो अथवा अशुद्धियो की कोई परीक्षा नही की जाती थी, और यद्यपि बहुत से टोल सीधे पड जाते थे, बहुत से बेतुके भी जाते थे। सन् १८४२ ई० मे काल लैकमैन ने 'न्यू टैस्टामेण्ट' के सस्करण मे पाठपरीक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रतिपादित की। इस पद्धति के अनुसार पहले पाठ की प्रतियो का पुनर्निरीक्षण किया जाता है, फिर पाठ की शुद्धि की जाती है।

पहले सम्पादक जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ पा सकता है इकठ्ठा करता है। उनकी तिथियो का अन्वेषण करता हे। प्रतियो के पाठ की कडी जाँच करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म मिटे हुए शब्दो, शून्य स्थानो, खरोचे या दुबारा लिखे हुए अक्षरो को ध्यान से देखता है।

इस प्रकार पाठान्तरो की परीक्षा करता हुआ प्रतियो का सन्तुलन करता है। हस्तलिखित प्रतियाँ सन्तुलन के पश्चात् कुछ एक कक्षा मे, कुछ दूसरी कक्षा मे, कुछ तीसरी कक्षा मे, और अन्य प्रतियाँ अन्य कक्षाओ मे बँट जाती हैं। हर एक कक्षा की सन्तुलित प्रति हस्तलिखित असली प्रति की नकल मानी जाती हे। इन सन्तुलित प्रतियो का फिर वर्गीकरण होता है, और ऐसे वर्गीकरणो द्वारा मूल प्रति से उत्पन्न कल्पित वशो का अनुमान लगाते हुए, सम्पादक कवि की प्रति के पाठ तक पहुँचने का प्रयास करता है।

'कैण्टर्बेरी टेल्स' की मूल प्रति इसी प्रकार निर्णीत हुई। यह पुस्तक सत्तर से अधिक हस्तलिखित प्रतियो मे वर्तमान है, जिनमे से बहुत सी अपूर्ण है। इन सत्तर मे से केवल सात प्रतियाँ मुद्रित हुई है, और इन सातो मे से भी तीन प्रतियाँ बेकार सी हैं। चार अच्छी प्रतियाँ एल्समेअर, कैम्ब्रिज, हैङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ है। इन चारो मे से कैम्ब्रिज, हैङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ भी बहुत सन्तोषजनक नहीं हैं, परन्तु उनमे जहाँ-तहाँ पाठ श्रेष्ठतम है, जिनकी सहायता से चौथी प्रति, एल्समेअर

प्रति, का पाठ ठीक किया गया है। एल्समेग्रर प्रति ही सर्वोत्तम प्रति है। इस प्रति मे शब्दो की वर्णरचना शुद्ध है, यही प्रति अत्यन्त होशियारी से सम्पादित है, और इन दोनो गुणो के कारण यही प्रति आजकल के सब सस्करणो के पाठ का आधार है। पुनर्निरीक्षण से प्राप्त मूलप्रतियो के 'कैण्टर्बेरी टेल्स' से भी अधिक सुन्दर उदाहरण लैकमैन सम्पादित 'न्यू टैस्टामेण्ट' रोबिन्सन सम्पादित टैसीटस की 'जरमैनिका' और पैरी सम्पादित 'फेबिल्स' है।

मूल प्रति को पाकर उसका असली रूप निश्चित करने के उद्देश्य से सम्पादक फिर उसकी परीक्षा करता है। वह प्रमाण से बताता हे कि मूल प्रति के वशज किस प्रकार विकृत हो गये, कहाँ पाठ परिवर्द्धित है और कहाँ पाठ सक्षिप्त है, मूल प्रति स्वयम् कैसे अक्षरो मे लिखी हुई थी, अक्षर छोट थे या बडे, मूल प्रति का विषय अर्थानुसार विभाजित हुआ था या सारा विषय अखण्ड लिखा हुआ था, क्या मूल प्रति के हाशियो पर अथवा पक्तियो के बीच मे पाठार्थ पर टीका-टिप्पणियाँ तो नही लिखी हुई थी? इस जाँच के बाद सम्पादक यह देखता है कि पाठ कहाँ मौलिक और कहाँ अमौलिक है।

मौलिक पाठ के निर्णय मे 'कठिनतर पाठ' का सिद्धान्त बडा सहायक होता है। नकल करने वाला सादृश्य के आधार पर कठिन शब्द को आसान शब्द मे बदल देता है। ऐसे मौके पर सम्पादक को बिना खटके कठिनतर पाठ ग्रहण करना साधारणत उपयुक्त माना गया है। उदाहरण के तौर पर 'बुक ऑफ कॉमन प्रेअर्स' के प्रचलित 'पाठ "टिल डैथ अस डू पार्ट" को लीजिये। यहाँ डू पार्ट का पाठ नकल करने वाले ने विकृत कर दिया है। असली पाठ डिपार्ट है। नकल करने वाला डिपार्ट के प्राचीन अर्थ को नही समझता था। पहले पार्ट के अर्थ मे डिपार्ट का प्रयोग होता था।

कुछ अन्य उदाहरण डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसीग्रन्थावली' से लीजिए। 'पदमावत' के पैंतालीसवे दोहे की एक पक्ति है—

गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं।

'पब्बै' प्राकृत का शब्द है, जिसका अर्थ 'पर्वत' होता हैं। शब्द के इस प्राचीन रूप से अपरिचित होने के कारण लिपिकारो ने, यहाँ तक कि सम्पादको ने भी, इसका पाठ विकृत कर दिया है। कुछ प्रतियो मे 'पब्बै' के स्थान पर 'परबत' कुछ मे 'परवै' और किसी-किसी मे बिलकुल ही न समझने के कारण 'हस्ती' पाठ मिलते हैं। इसी प्रकार उसके अठत्तरवें दोहे की एक पक्ति का निर्धारित पाठ है—

कहेसि पखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसुखवा।

इसमे मानवा' (,मानव) और'मँसुखवा'(माँस खाने वाले) के ठीक अर्थों से अपरिचित होने के कारण लोगो ने इन शब्दो की बडी कपालक्रिया की है। कुछ प्रतियो मे इनके पाठ

क्रमश 'खाधुक मन लावा' 'मँसुखावा', कुछ मे 'खाधुए मावा' 'खावा' कुछ मे 'का दुक्ख जनावा', 'खावा', और कुछ अन्य मे 'खाधुक मनावा', 'खावा' मिलते है, दो-एक मे तो 'खाधुक मन लावा', 'निठुर अहा तो प्रेम सतावा' तक मिलते है। पुन इसी प्रकार उसके एक सौ पचपनवे दोहे की एक पक्ति मे 'महनारभ' (मन्थनारम्भ) के स्थान पर 'मथन अरभ', 'महा अरभ', तहाँ अरभ', 'महनामथ', 'महतारभ' आदि अनेक भ्रमात्मक पाठ मिलते है। ऐसी विकृतियो का कारण यही है कि प्रतिलिपिकार अनुरूप सरल शब्द को लिखने की चेष्टा करता है।

इस पुनर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त पाठ को भी मूल पाठ नही माना जायगा, और अब सम्पादक को यह देखना होगा कि पाठ कहाँ सत्य है और कहाँ असत्य, और जहाँ असत्य है, वहाँ वह उसे ठीक करे। यही सशोधन-क्रिया है।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग ने अपने 'प्रिन्सिपिल्स ऑफ एमेण्डेशन' नामक व्याख्यान के शुरू मे कहा है कि सशोधन का केवल एक सिद्धान्त है, और वह यह है कि उसका कोई सिद्धान्त नही है। सशोधन बहुधा आकस्मिक सूझ है। 'मैक्बेथ' मे 'फर्स्ट फोलियो' का यह पाठ है—

> **आई डेयर डू आल दैट मे बिकम ए मैन**
> **हू डेयर्स नो मोर इज नन।**[१]

रो ने दूसरी पक्ति मे नो (no) की जगह डू (do) पढा और एक अक्षर बदलने से शेक्स-पिअर के भाव को व्यक्त कर दिया। 'एण्टनी और क्लोपैट्रा' मे फोलियो का पाठ यह है।

> **फार हिज बाउण्टी,**
> **देयर वाज नो विण्टर इन्'ट; ऐन एण्टोनी इट वाज**
> **दैट ग्र्यू दि मोर बाई रीपिंग।**[२]

थियोबोल्ड ने 'ऐन एण्टोनी इट वाज' (an Anthony it was) की जगह 'ऐन आटम ट्वाज (an autumn t'was) पढा, और एक निरर्थक पाठ को सार्थक बना दिया। इसी प्रकार 'हैमलेट' मे 'फोलियो' पाठ था—

> **फॉर इफ दि सन ब्रीड मैगॉट्स इन ए डेड डॉग, बीइग ए गुड किसिंग**
> **कैरियन,—हैव यू ए डॉटर?**[३]

---

[१] I dare do all that may become a man,
who dares no more is none

[२] Far his bounty,
There was no winter in't, an Anthony it was
That grew the more by reaping

[३] For if the sun breed maggots in a dead dog, being a good kissing carrion,—Have you a daughter?

वार्बर्टन ने गुड (good) की जगह गॉड (God) पढा । इस सशोधन पर जॉनसन ने वार्बर्टन की आलोचन-शक्ति की बडी प्रशसा की । जानसन बॉसवेल की आलोचनात्मक प्रेरणा से भी बहुत आश्चर्यचकित हुआ । जॉनसन ने बॉसबेल से सर मैकेन्जी की कृतियो की पहली पुस्तक मे एक जगह गलती पाने के लिए कहा । गद्याश वह था जहाँ कहा गया है की शैतान जवाब देता है, 'इविन इन एञ्जिन्स' (even in engines) बॉसबेल ने झट से इविन (even) की जगह एवर (ever) और एञ्जिन्स (engines) की जगह एनिग्माज (enigmas) किया । जॉनसन ने विस्मय मे कहा, 'महाशय, आप श्रेष्ठ आलोचक है । यदि आप किसी पुराने ग्रन्थ मे ऐसी पाठ-शुद्धि करते, तो आपके लिये यह एक बड़ी बात होती ।'

यद्यपि पाठ-शुद्धि किन्ही स्पष्ट नियमो का पालन नही करती तो भी उसे बिल्कुल बिना अटकल का टोल नही कह सकते । कभी-कभी ध्वनि-सादृश्य ही से सम्पादक को सङ्केत मिल जाता है । उदाहरणार्थ, 'मैक्बेथ' के 'फोलियो' पाठ वेवार्ड (wayward) ने थियोबोल्ड को वीयर्ड (weird) का सङ्केत दिया । वीयर्ड (weird) एलीजैबैथ के काल मे वेवार्ड (wayward) के समान दो अशो का माना जाता था, और दोनो शब्दो का उच्चारण एक सा ही था । उन सम्पादको को जी 'फोलियो' के वेवार्ड (wayward) पाठ का पोषण करते है कनिंघम यह उत्तर देता है कि शेक्सपिअर की जादूगरनियाँ वैसी ही थी जैसी वे हॉलिन्शैड ओर विण्टून मे वर्णित है, थ्री वीयर्ड सिस्टर्स (three weird sisters) । इस तरह की दूसरी प्रसिद्ध पाठशुद्धि बुलेन की है, जहाँ एक अक्षर का भी परिवर्तन नही करना पडा । 'फ़ॉस्टस' के सबसे पहले सस्करण का ऑनकेमियान (oncaimion) पाठ बाद के सस्करणो मे ऐकोनोमी (oeconomy) प्रकट होता है । इस स्थल पर मनन करने से बुलेन को यह सूझा कि पाठ मे कोई अशुद्धि नही है । यह वास्तव मे अरिस्टॉटल् का वाक्याश 'ऑन कि मि ऑन' (on ki mi on अर्थात् सत् और असत्) है जिसे उसने अपनी एक कृति के नाम के लिए प्रयोग किया था । यही वाक्याश अज्ञानवश साथ-साथ लिख गया ।

कभी-कभी कवि की पदयोजना सम्पादक को पाठ-शुद्धि मे सहायक होती है । 'रिचर्ड द सैकिण्ड' मे एक स्थल पर ऐसा पाठ है—

द सेटिंग सन एण्ड म्युजिक ऐट द क्लोज'
ऐज द लास्ट टेस्ट ऑफ स्वीट्स इज स्वीटेस्ट लास्ट,
रिट इन रिमैम्ब्रन्स मोर दैन थिंग्स लाग पास्ट ।[1]

---

[1] The setting sun and music at the close,
As the last taste of sweetest last,
Writ in remembrance more than things long past.

रोबर्टसन ने दूसरी पक्ति मे अन्त के अर्द्ध-विराम को हटा कर 'स्वीटेस्ट' (sweetest) के बाद रख दिया और उस पक्ति का प्रवाह तीसरी पक्ति मे कर दिया, जिससे लास्ट (last) रिट (writ) का क्रियाविशेषण हो गया। इस प्रकार शेक्सपिअर का लय और उसका भाव दोनो ठीक हो जाते हैं। 'फोलियो' के अनुसार लास्ट (last) को स्वीटेस्ट (sweetest) से सम्बन्धित करने मे पुनरुक्ति दोष आ जाता है, क्योकि लास्ट (last) का भाव स्वीटेस्ट (sweetest) मे उपस्थित है। कुछ सम्पादक 'फोलियो' पाठ की रक्षा इस अनुमान पर करते हैं कि शेक्सपिअर इस समय पदयोजना मे अर्थघटित था और प्रवाहित पक्तियाँ नही लिखता था। यह अनुमान निराधार है।

कभी-कभी प्रसङ्ग से पाठ-शुद्धि की सूचना मिलती है,जैसे कि थियोबोल्ड ने 'मैक्बेथ' मे शोल (shoal) के स्थान मे स्कूल (school) से पाठ-शुद्धि की है। फिर भी केवल प्रेरणा ही ठीक पाठ शुद्धि के लिए काफी नही है। जिस शब्द या जिन शब्दो से पाठ-शुद्धि की जाय वे विकृत पाठ को भलीभाँति स्पष्ट कर दें। जॉनसन के 'सिजानस' का १६१६ के 'फोलियो' से आगे यह पाठ था :—

हिज् स्माइल इज मोर दैन ए'र पोयेट्स फेण्ड
ऑफ् ब्लिस, एण्ड शेड्स, नेक्टार।[1]

रौबर्टसन का विचार है कि यथास्थित पाठ के अनुसार अर्थ और वृत्त दोनो असम्भव हैं और शेड्ज नेक्टार (shades, nectar) की जगह हैबिज नेक्टर (Hebe's nacter) पढने की योजना करता है। उने दिनो की अंग्रेजी की लिपि मे 'H' और 'b' का 'sh' और 'd' पढा जाना बडा आसान था। पाठालोचक को किसी विशेष काल की प्रचलित लिपी-शैलियाँ परखने मे बडी होशियारी होनी आवश्यक है। 'हैनरी द फिफ्थ' मे जहाँ मिसिज़ क्विकली फाल्सटाफ की मृत्यु का वर्णन करती है वहाँ पाठ है, 'एण्ड ए टेब्ल ऑफ ग्रीन फील्डस, (And a table of green fields) इस पाठ के लिये थियोबोल्ड की पाठ-शुद्धि 'एण्ड ए बैबल्ड ऑफ ग्रीन फील्डस' (and a babbled of green fields) सर्वमान्य है। शेक्सपिअर ने कई जगह वह के लिये अ (a) का प्रयोग किया है और उस समय की लिपि शैली मे 'babld' असानी से टेब्ल 'table' पढा जा सकता था।

डोवर विल्सन सम्पादकीय काम बडी ईमानदारी से करता है। सशोधन करने से पहले पाठ की पुरानी सब प्रतियो का निरीक्षण अच्छी तरह कर लेता है। हैमलेट के स्वगत-वचन मे 'फोलियो' का पाठ 'टू, टू सौलिड फ्लेश' (too, too solid flesh) है और हैमलेट के पहले दोनो 'क्वार्टो' मे सौलिड (solid) के स्थान मे सैलीड (sallied) पाठ है। क्योकि दूसरे 'क्वार्टो' मे एक जगह सलीज (sullies) के बजाय सैलीज (sallies) का पाठ मुद्रित है, यह अनुमान होता है कि दोनो क्वार्टो मे सलीड (sullied) के बजाय

---

[1] His smile is more than e'er poets feigned
Of bliss, and shades, nectar,

सलीड (sallied) छप गया है। बस शुद्ध पाठ सलीड (sullied) बैठता है और सलीड (sullied) का 'फर्स्ट फोलियो के सम्पादको ने सौलिड (solid) कर दिया। नीचे वाले उदाहरण मे पोलोनिअस के एक कथन मे फोलियो का पाठ यह है—

हैज़र्ड सो नीअर अस ऐज डथ आवार्ली ग्रो
आउट ऑफ हिज़ ल्यूनसीज़ ।[1]

ल्यूनेसीज (lunacies) की जगह डोवर विल्सन ब्रोल्स (browls) पढने का प्रस्ताव करता है क्योकि 'क्वार्टो मे पाठ ब्राउज (browes) है। एक और दूसरे उदाहरण मे 'फोलियो' पाठ यह है—

आर ऑफ अ मोस्ट सिलैक्ट ऐण्ड जैनेरस चीफ इन दैट ।[2]

आफ ए (of a) पाठ की पुष्टि दोनो क्वार्टो करते है। परन्तु डोवर विल्सन का खयाल है कि यहाँ असली पाठ ऑफिन (often) था और अक्षर जोडने वाले ने इसे आफ ए (of a) कर दिया। रूप-सादृश्य और वृत्त-विचार से ऑफिन (often)का पाठ बिल्कुल ठीक पडता है। सम्पादन-कार्य मे डोवर विल्सन की निष्पक्षता सराहनीय है। सम्पादक को ऐसे विचारो से पथभ्रष्ट न होना चहिये कि अमुक पाठ सुगम होगा अथवा श्रवणप्रिय होगा अथवा भाव मे सुन्दर होगा। जहाँ पर पाठ अशुद्ध है वहाँ पर सम्पादक का कार्य सुधार नही वास्तविक पाठ का प्रत्यानयन है। 'मैक्बेथ' के प्रथम अङ्क मे रोस के कथन मे यह पाठ है—

ऐज़ थिक ऐज़ टेल
कैन पोस्ट विद पोस्ट एण्ड ऐव्रीवन डिड बीयर
दाइ प्रेजेज़ इन हिज़ किंगडम्स ग्रेट डिफेंस ।[3]

यहाँ कैन (can) का सशोधन रो केम (came)करता है। यह माननीय है। परन्तु उसका टेल (tale) के स्थान मे हेल (hail) पढना माननीय नही, क्योकि टेल (tale) से उतना ही सन्तोषजनक अर्थ निकलता है जितना हेल (hail) से 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा, मे 'फोलियो' पाठ के अनुसार क्रेसिडा कहती है—

सी, सी, योर साइलेन्स
कम्मिग इन डम्बनेस ।[4]

---

१ Hazard so near us as doth hourly grow
Out of his lunacies.

२ Are of a most select aud generous chief in that.

३ As thick as tale
Can post with post, and every one did bear
Thy praises in his kingdom's great defence.

४ See, see your silence,
Comming in dumbness .,

पोप यहाँ कमिङ्ग (comming) के स्थान मे कनिङ्ग (cunning) पढता है । यह व्यर्थ है । कमिङ्ग (comming) शेक्सपिअर के समय मे 'कपटी' और 'ढीठ' के अर्थ मे प्रयोग किया जाता था । 'ट्वेल्फ्थ नाइट' मे कैप्टिन का कथन है—

फ़ॉर हूज डीयर लव
दे से शी हैथ एब्ज्योर्ड द शाइट
एण्ड कम्पनी आफ मेन ।[१]

यहाँ न तो लव (love) के लिये वॉकर का सशोधन लॉस (loss) ग्राह्य है और न हैन्मर का साइट एण्ड कम्पनी (sight and company) के लिये सशोधन कम्पनी एण्ड साइट (company and sight) ग्राह्य है । कारण यह है कि यथास्थित पाठ सुबोध है ।

परन्तु हस्तलिखित पाठ का सुबोध होना भी इस बात का निश्चय नहीं कि पाठ ग्रन्थकार सम्मत है । आर० डबल्यू० चैपमैन इसके परिपोषण मे जॉनसन के 'जरनी टू द वैस्ट्रन आइलैण्ड्ज' से दो उदाहरण प्रस्तुत करता है । पहला गद्याश इस प्रकार छपा है—

टु डिसार्म पार्ट आफ द हाइलैण्ड्स, कुड गिव नो रीजनेबिल अकेजन आफ कम्प्लेण्ट । एव्री गवर्नमेण्ट मस्ट बी एलाउड द पावर ऑफ टेकिंग अवे द ट्रीजन दैट इज लिफ्टेड अगेंस्ट इट ।[२]

यहाँ पर ट्रीजन (treason) पाठ सुबोध है, परन्तु यह जॉनसन का प्रयुक्त शब्द प्रतीत नही होता । चैपमैन की राय मे जाँनसन का शब्द वैपन (weapon) था । जॉनसन के हाथ की लिखावट मे वैपन (weapon) असानी से ट्रीजन (treason) पढा जा सकता था । दूसरा गद्यांश इस तरह छपा है—

वालण्टैरी सालीटयूड वाज द ग्रेट आर्ट ऑफ प्रोपिशिएशन, बाइ ह्विच क्राइम्स वेयर एफेस्ड ऐण्ड कान्शेन्स वाज अपीज्ड ।[3]

यहाँ चैपमैन का विचार है कि जॉनसन ने ऐक्ट ऑफ प्रोपिशिएशन (act of

---

[१] For Whose dear love
They say she hath abjur'd the sight
And company of men

[२] To disarm part of the Highlands, could give no reasonable occasion of complaint Every Government must be allowed the power of taking away the treason that is lifted against it

[3] Voluntary solitude was the great art of propitiation, by which crimes were effaced and conscience was appeased,

propitiation) लिखा था न कि आर्ट ऑफ प्रोपिशिएशन (art of propitiation) क्योकि एकान्तवास को वह कला नही कह सकता था। उसका कहना है कि सी (c) मे और (r) की भ्रान्ति होना बडी साधारण सी बात है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि पाठ नकल करने वालो और सम्पादको द्वारा विकृत और भ्रष्ट होता है और विकृत और भ्रष्ट अज्ञानवश ही नही परन्तु दुरुपयुक्त-ज्ञानवश भी होता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' अवधी भाषा मे लिखा था और उसी भाषा के शब्द, वाक्यरचना-सम्बन्धी नियमो और मुहावरो का प्रयोग किया था। उनके बहुत से शब्द अर्द्धतत्सम है। उन्हे नकल करने वालो ने और सम्पादको ने तत्सम कर दिया है, जैसे स्रुति को श्रुति, महेस को महेश, बरखा को वर्षा, कारन को कारण, जोनि को योनि, जस को यश, दसरथ को दशरथ और कौसल्या को कौशल्या। प्राचीनता की रक्षा बहुत कम प्रतिलिपिकारो और सम्पादको ने की है। इस तरह की पाठ-शुद्धि ज्ञान के दुरुपयोग से हुई है।

नीचे 'रामचरितमानस' तथा 'पदमावत' से कुछ स्थल दिये जाते हैं, और उनके स्थलो पर पाठ-निर्धारण के अन्य सिद्धान्त स्पष्ट किये जाते हैं। ये सभी उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित दोनो ग्रन्थो से दिये गये हैं।

'रामचरितमानस' की स० १७२१ वाली ऊपर बताई गई प्रति मे बालकाण्ड की एक चौपाई का पाठ है—

हंसहि बक गादुर चातक ही। हसहि मलिन खल बिमल बतकही।

शेष प्रतियो मे 'गादुर' के स्थान पर 'दादुर, पाठ मिलता है। 'हस' से तुलना के लिए जिस प्रकार पक्षिवर्ग से 'बक' लिया गया है उसी प्रकार 'चातक' की तुलना के लिए पक्षिवर्ग के 'गादुर', अर्थात 'चमगादर' का लिया जाना समीचीन जाना पडता है। 'चातक' और 'गादुर' की परस्पर विपरीत रहन-सहन और आचरण प्रसिद्ध है. चातक मरते समय तक अपनी चोच ऊपर आकाश की ओर उठाए रहता है, उसकी वृत्ति ऊर्ध्वमुखी रहती है, और गादुर सदैव अपना मुँह नीचे की ओर लटकाए रहता है, उसकी वृत्ति इसीलिये अधोमुखी मानी जाती है। 'चातक' और 'दादुर' मे इस प्रकार की समानता और विपरीतता नही है, समानता इन दोनो मे यही है कि दोनो वर्षा के जल से सुखी अन्यथा उसके लिये पिपासार्त रहते हैं, और विषमता यह है कि चातक की बोली मधुर और दादुर की कर्कश होती है। इस प्रकार 'गादुर' पाठ ही अधिक समीचीन है।[1] बालकाण्ड की एक अन्य चौपाई का सामान्य पाठ है—

झाँझ भेरि डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहि सहनाई।

---

१ डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'रामचरितमानस का पाठ', भाग १, पृ० ३१

'भेरि' के स्थान पर छक्कनलाल की प्रति का पाठ 'बीन' है। बीन के साथ झाँझ, डिंडिभी, और सहनाई जैसे शोर करने वाले बाजे ग्रन्थ मे कही नही आए है, यह तो भेरी के साथ ही मिलते हैं थलय। तुलनी निम्नलिखित है—[1]

बिना बेनु सख धुनि द्वारा। २-३७-५।
बार्जाह ताल पखाउज बीना। ६-१-६ ।
झाँझ मृदग सख सहनाई। भेरि ढोल डिंडिभी सुहाई। १-२६३-१।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। ३-३८-६ ।
मुर्खाहि निसान बजार्वाह भेरि। ६-३६-१०।
बार्जाह भेरी नफीरी अपारा। ६-४१-३।
भेरि नफीरि बाज सहनाई। ६-७६-६।

बालकाण्ड की एक और चौपाई लीजिये, जिसका सामान्य पाठ है—

कर कुठारु मै अकरुन कोही।

स० १६६१ की प्रति मे 'कर' के स्थान पर 'खर' पाठ मिलता है। 'खर' पाठ से कुठार की स्थिति कहाँ है, अथवा वह किसका कुठार है, इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता, और प्रसङ्ग मे ही 'कर' कुठार' का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, 'खर कुठार' का नही। यथा—

कटि मुनि बसन तून दुई बांधे। धनु सर कुठार कल काँधे।१-२६७-४

इसलिये 'कर' पाठ 'खर' की अपेक्षा अधिक प्रासङ्गिक और प्रयोगसम्मत प्रतीत होता है।[2] अयोध्याकाण्ड की एक चौपाई का सामान्य पाठ है—

कैकेई भव तनु अनुरागे। पावर प्रान अघाई अभागे।

स० १७६२ की प्रति मे 'पावर' के स्थान पर 'पावन' पाठ आता है। अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रसङ्ग 'पावर' शब्द ही, आया है, जैसे—

औसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहि पावर प्रान। २-६७

और 'पावर' का यह प्रयोग 'प्रान की ही भाँति 'जीव' 'नर' आदि समानार्थी प्रयोगो के साथ भी मिलता है, इसलिये उसकी समीचीनता प्रकट है। किन्तु 'पावन का प्रयोग कही भी 'प्रान' या उसके समानार्थियो के विशेषण रूप मे नही हुआ है। इसलिए वह प्रयोगसम्मत

---

[1] डॉ० माताप्रासद गुप्त रामच रितमानस का पाठ, भाग २, पृ० २६५

[2] वही, भाग २, पृ० ३०६

नही है। इसके अतिरिक्त प्रान तनु अनुरागे कहे गए है, इसलिए उनका 'पावर' होना ही अधिक युक्तियुक्त है, पावन होना नही। अयोध्याकाण्ड की ही एक दूसरी चौपाई का सामान्य पाठ है—

चदिनि कर कि चडकर चोरी

छक्कनलाल की प्रति मे 'चडकर' के स्थान चदकर पाठ है। चदकर चोरी' का अर्थ होगा चन्द्रमा की चोरी किन्तु इस प्रकार के अर्थ के लिए 'कर' के स्थान पर 'कै' या 'कइ' प्रयोग होना चाहिए था, क्योकि 'चोरी स्त्रीलिङ्ग है । इसलिए 'चदकर' पाठ शुद्ध नही है। चडकर चोरी' मे समास है, यथा नीचे के 'परत्रिय चोरी मे—

हमहु सुनि कृत परत्रिय चोरी। ६-२२-५

इसलिए उसमे यह अशुद्धि नही है। दूसरे चद की चोरी की अपेक्षा चडकर, अर्थात्, सूर्य की चोरी कुछ और असम्भव भी है, इसलिए प्रसङ्ग मे असम्भवना की ध्वनि के लिए वह उसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्ति भी है।[1] लङ्काकाण्ड की एक पंक्ति का सामान्य पाठ है—

कोटिन्ह आयुध रावन डारे।

'डारे' के स्थान पर कोदवराम वाला प्रति मे 'मारे' पाठ है। 'डारना' के प्रयोग 'आयुध' कर्म के साथ अन्यत्र भी मिलते हैं—

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना
डारइ परसु परिध पाषाना। लागेउ बृष्टि करइ बहु बाना। ६-७३-३२

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्री रघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं। ३-२०

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। ३-१६-१
अस्त्र सस्त्र सब आयुध डारे। ६-५१-६

'मारना' का प्रयोग एक मात्र बाण के साथ हुआ है—

दस दस बिसिख उर माझ मारे। ३-२०
सत सर पुनि मारा उर माहीं। ६-८३-७
तब सत बान सारथी मारेसि। ६-६१-२[2]

---

[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त . रामछरितमानस का पाठ, भाग २, पृ० ३३४
[2] वही, पृ० ५२०

उत्तरकाण्ड की एक चौपाई का पाठ कोदवराम की प्रति के अतिरिक्त सब मे इस प्रकार है—

मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई ।

कोदवराम की प्रति मे 'मुधा' के स्थान पर 'मृषा' पाठ है। 'मृषा' का प्रयोग 'भ्रमपूर्ण असत्य'के आशय मे हुआ है

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू । मुधा मान ममता मद बहहू ।

६-३७-५

मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया

७-७८-८

बचन के प्रसङ्ग मे मृषा, अर्थात् झूठ का ही प्रयोग मिलता है, और शिव के वचन के प्रसङ्ग मे भी वह मिलना है—

सभु गिरा पुनि मृषा न होई । १-५१-३

पुनि पति बचन मृषा करि जाना । १-५९-२

सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार । १-१३२

होइ न मृषा देवरीसि भाषा । ७-६८-४

इसलिए 'मृषा' निश्चय ही अधिक प्रयोगसम्मत है ।[१]

कुछ उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' से भी दिए जाते है ।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस समय 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फारसी या अरबी लिपियो मे ही मिलती हैं, साथ ही यह भी प्रमाणित हुआ है कि उक्त ग्रन्थ की मूल प्रति देवनागरी लिपि मे थी । इसलिए 'पदमावत' मे लिपि-सम्बन्धी अशुद्धियाँ दो प्रकार की मिलती हे—पहली वे जो देवनागरीलिपि के दोषो के कारण घुस गई थी, और दूसरी वे जो बाद मे फारसी या अरबी लिपि के दोषो से पैदा हुई । लिपि-सम्बन्धी 'पदमावत' के पाठ की इस विषशेता को ध्यान मे रखते हुए 'रामचरितमानस' की तुलना मे कही अधिक सशोधन-क्रिया डॉ० गुप्त को 'पदमावत' मे करनी पड़ी है ।

नागरी लिपिजनित पाठ-विकृतियो के केवल दो उदाहरण नीचे दिये जाते है—

उस समय की नागरी लिपि के 'ब' और 'व' मे विशेष अन्तर नही था । फलत. नागरी लिपि मे लिखी हुई मूल प्रति के उर्दू प्रतिलिपिकार प्राय. 'ब' के लिए 'बे' न लगाकर उर्दू 'वाव' ही लगा दिया करते थे, जिससे उसका उच्चारण 'व' या 'ओ-औ' मे परिवर्तित हो जाता था । 'पदमावत' की प्राय समस्त प्रतियो मे 'जबहिं', 'तबहिं', 'कबहूँ'

---

[१] डॉ० माताप्रसाद गुप्त रामचरितमानस का पाठ, पृ० ५२७

के क्रमश 'जौहि', तौहिं', 'कौहु' मे परिवर्तित हो जाने का यही रहस्य है। इसी प्रकार 'म' और 'भ' के लेखन-साम्य के कारण जहाँ-जहाँ 'कुरुँम' (कूर्म, अर्थात् कछुआ) शब्द होना चाहिये, वहाँ-वहाँ 'पदमावत, की प्राय समस्त प्रतियो मे 'कुरुँभ' पाठ पाया जाता है। इस प्रकार की विकृति ग्रन्थ के नागरी मूल होने के कारण ही हुई है, और प्रकट है कि इस प्रकार के समस्त स्थलो पर सशोधन-क्रिया ही कवि के अभीष्ट पाठ को दे सकती थी।

फारसी या अरबी लिपि के कारण उत्पन्न हुई विकृतियाँ तो 'पदमावत' की प्रतियो मे हज़ारो पडी है। केवल निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा। निर्धारित पाठ के एक सौ सत्तरहवे छन्द की अन्तिम पक्ति का पाठ है —

तेहि अरधानि भँवर सब लुबधे तर्जाहिं न 'नीवी' बंध।

एक प्रति मे इस पक्ति के दूसरे चरण का पाठ है, 'लुबधे तर्जाहि न तेहि सनमध' एक दूसरी प्रति मे 'बार बुध तरुनौ बध' है, किसी प्रति मे 'लुबुधे तर्जाहिं न सोई बध' है, तो किसी मे 'लुबुवे तर्जाहि न ताकर रध' है, किसी मे 'लुबुधे तर्जाहि न देई बध' है, तो दूसरी मे 'तपही नीमी बध' है, किसी दूसरी प्रति मे 'लुबुधे तर्जाहि न पीवी बध' है तो अन्य मे 'लुबुघे तर्जाहि न तेहि सँग बध' है, किसी मे 'लुबुघे तर्जाहि न अपने बध' है, तो किसी मे 'तर्जाहि न तिन वै बध' है, केवल एक प्रति मे 'तर्जाहि न नीवी बध' है। डॉ० गुप्त ने 'नीवी वाले पाठ को ही प्रामाणिक माना है, क्योकि प्रसङ्ग-सम्मत होने के साथ एक मात्र वही ऐसा पाठ है जिसके उर्दू लिपि मे होने पर 'तरुनौ', 'नीमी', 'पीवी', 'तेवै', आदि पाठ-विकृतियाँ सम्भव हैं।

उर्दू लिपि-जनित पाठ विकृतियो के इस प्रकार के स्थलो पर भी प्रकट है कि सम्बोधन-क्रिया ही हमे कवि का अभीष्ट पाठ देने मे ससर्थ हुई है।

पाठ-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान की सहायता से पाठालोचन ने निस्सन्देह साहित्य की बडी अमूल्य सेवा की है। यह पाठालोचको के अश्रान्त परिश्रम का ही फल है कि पुराने पाठ पश्चादागत पाठको के लिये सुबोध हो गये है, विशेषतया ऐसे पाठको के लिये जिनमे आलोचना की क्षमता न थी। 'फोलियो' मे शेक्सपिअर का पाठ कितना अशुद्ध और अव्यवस्थित था इसकी कल्पना हम तब कर सकते है जब हमारा ध्यान उन अनेक सम्पादको पर जाता है जिन्होने उसके पाठ को फोलियो की विकृतियो और अविधियो से बचाया। फिर भी पाठालोचन एक निम्म श्रेणी की आलोचना है। पाठालोचन पुस्तको के निर्माण की तिथि निर्धारित करती है, उनके इतिवृत्त की खोज करती है, वास्तविक लेखक को निश्चित करती है, और परम्परागत प्रयुक्त विकृत पाटो को शुद्ध करती है। पाठालोचन की ये समस्याएँ साहित्यालोचन के क्षेत्र से बाहर है। साहित्यालोचन किसी पुस्तक का मूल्याङ्कन कलामीमासा के सिद्धान्तो के अनुसार करती है।

३

तृतीयत हमे पुस्तक-परिचय (अँगरेज़ी, रिव्यू) का बहिष्कार करना चाहिये, यद्यपि यह वैज्ञानिक आलोचना अथवा पाठालोचन की तुलना मे साहित्यालोचन के अधिक समीप है।

पुस्तक-परिचय समाचारपत्र के साथ आया। समाचार पत्रलेखन की उत्पत्ति मुद्रणयन्त्र से पहले हुई। अगिनकोर्ट और दूसरी मध्यकालीन लडाईयो के बाद जो परिपत्र (अँगरेज़ी, सरक्यूलर लेटर) भेजे जाते थे उनमे समाचारपत्र का पहला रूप मिलता है। समाचारपत्र-लेखक के व्यवसाय की तिथि उसी दिन से है जिस दिन से पत्रवाहन सस्था की स्थापना हुई। इससे पहले राजनीतिज्ञ खबर पाने के जरिये स्वतन्त्र और निजी रखते थे। उदाहरणार्थ, एलीजेबैथ के समय मे एसेक्स बहुत से योग्य आदमी अपनी नौकरी मे केवल समाचार प्राप्ति के लिये रखता था। ये आदमी जनता के लिये नही लिखते थे वरन् अपने स्वामी के लिए, वे उसके राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति मे मदद करने के लिये लिखते थे। धीरे-धीरे समाचार प्रसार के लिये मुद्रणयन्त्र की सहायता ली जाने लगी। राजविद्रोहो के कारण १६२१ ई० तक खबर आने-जाने पर सरकार का कडा नियन्त्रण रहा। १६२२ ई० से साप्ताहिक 'कोरेण्टो' मे वैदेशिक समाचार जनता को मिलने लगे। ये समाचार प्राय वैदेशिक पत्रो से लिए जाते थे। अग्रेजी पत्रलेखनकला के विकास मे इन्ही पत्रो का पहला स्थान है। इनके पश्चात् साप्ताहिक 'न्यूजबुक्स' निकली जिनमे राजकीय अथवा जनता-सम्बन्धी समाचार रहते थे। 'न्यूजबुक्स' के बाद १६६५ ई० मे 'ऑक्सफोर्ड गजट' निकला। मडीमैन, एलस्ट्रेञ्ज, और हैनरी केअर बहुत दिनो तक समाचार पत्रिकाओ और समाचार पुस्तको से समाचार वितरण करते रहे। १७०४ ई० मे डेफो ने 'रिव्यू ऑफ द एफेअरज ऑफ फ्रास' की स्थापना की। इसमे अन्ताराष्ट्रीय नीति और व्यापार विषयक विचार रहते थे। परन्तु इसमे 'मरक्यूरे स्कैण्डले और एड्वाइस फ्रॉम द स्कैण्डलस क्लब' एक ऐसा विभाग था जिसमे गप-शप और नैतिक आलोचना भी रहती थी। इसी विभाग मे हमे सामयिक आलोचना और पुस्तक-परिचय के अकुर मिलते है। १७१२ ई० मे 'रिव्यू' का अन्त हो गया। डेफो से स्टील को प्रेरणा मिली। स्टील ने १७०६ ई० मे 'द टैटलर' की नीव डाली। यह सामयिक पत्र सप्ताह मे तीन बार निकलता था और जनवरी १७११ मे इसका अन्त हो गया। इस पत्र ने सामयिक निबन्ध का विकास किया। इसके अनन्तर 'द स्पैक्टेटर' निकला जो एडीसन और स्टील का सयुक्त कार्य था। एडीसन ने पहले ही 'टैटलर' मे साहित्य पर कुछ आलोचनात्मक लेख निकाले थे। 'स्पैक्टेटर' ने एडीसन की साहित्यालोचनात्मक लेखनी को और तेजी से अभ्यस्त कर दिया। मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' पर एडीसन के लेख इस पत्र मे नियमबद्ध आलोचना के बडे उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'टैटलर' और स्पैक्टेटर' इतने सर्वप्रिय सिद्ध हुए और उनसे इतनी आय हुई कि इनके देखादेखी बहुत से साहसी लेखको और सम्पादको ने स्वतन्त्र अपनी-अपनी पत्रिकाएँ निकाली। 'द गार्जियन', 'दि इगलिशमैन', 'दि एग्ज़ामीनर',

'द जैन्टिलमैन्स मैगजीन', 'द चैम्पियन', 'द बी,' 'द फ्री थिङ्कर,' 'द फीमेल स्पैक्टेटर' 'द रैम्बलर,' उदाहरणीय हैं। इन नियतकालिक पत्रिकाओ को प्रसिद्ध लेखक अपने लेख भेजने लगे और इन्ही के द्वारा अपने विचारो को साधारण जनता तक पहुँचाने लगे। 'द जैन्टिलमैन्स मैगजीन' को छोड कर ये सब पत्रिकाएँ थोडे-थोडे दिनो तक ही जीवित रही। जैसे ही उनके जन्मदाता लेखक उन्हे इस्तेमाल करना छोड देते थे, उनका अन्त हो जाता था। इन पत्रिकाओ की एक विशेषता स्मरणीय है। जैसे ही इनका निकलना प्रारम्भ हुआ था, १७१२ ई० का स्टाम्प एक्ट लागू हो गया था। इसके कारण पत्र निकालने का खर्चा बढ गया था और पत्रसञ्चालक राजनैतिक दलो का सहारा लेने लगे थे। यह प्रवृति इतनी प्रबल हो गई थी कि पत्रिकाओ का उद्देश्य राजनैतिक स्वार्थपरता को उन्नत करना हो गया था। इस प्रकार कुछ पत्रिकाएँ टोरी हित मे, कुछ पत्रिकाएँ ह्विग हित मे, तथा कुछ पत्रिकाएँ हाईचर्च हित मे, और कुछ पत्रिकाएँ ईवैंजेलीकल हित मे प्रकाशित होती रही। अठारहवी शताब्दी के अन्त की ओर औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव साहित्य रचनाओ के बाहुल्य मे दृग्गित हुआ। अतएव इस बात की आवश्यकता जान पडी कि पत्रिकाएँ और उनके सम्पादक साहित्यक और वैज्ञानिक विषयो मे जनता के मस्तिष्क-नियन्ता बने। इसी उद्देश्य से १८०२ ई० मे 'दि एडिन्ब्रा रिव्यू एण्ड क्रिटीकल जरनल' की स्थापना हुई। अठारहवी शताब्दी की पत्रिकाओ मे से 'द स्पैक्टेटर' और 'द रैम्बलर' पुराने साहित्य की परीक्षा उन परिवर्तित शास्त्रीय मानदण्डो से किया करते थे जो नवीन साहित्यिक कृतियो की विशेषताओ से प्रभावित हो चुके थे। वे शुद्ध आलोचना का प्रकाशन करते थे। 'द एडिन्ब्रा रिव्यू' ने भी ऐसे ही मानदण्डो का प्रयोग किया परन्तु अधिकतर उसने नई पुस्तको की जाँच की। पुस्तको के विवरण लम्बे होते थे और देर से निकलते थे। वे शुद्ध नही दूषित होते थे, या पुस्तक-परिचय के लेख असाहित्यक पक्षपातो से भ्रष्ट रहते थे। नाम-गोपन की प्रथा ने जो पुस्तक-परिचय मे बडी प्रचलित थी 'एडिन्ब्रा रिव्यू' को सबल व्यक्तित्व प्रदान किया। यह व्यक्तित्व राजनीति मे ह्विगपक्षीय था और धर्म मे उदारपक्षीग था 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की यह विशेषता पुरानी पत्रिकाओ की राजनीतिक और धार्मिक विशेषताओ का अविच्छिन्न प्रसार है। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' ऐसे लेखको का जो राजनीति मे टोरी और धार्मिक विचारो मे कट्टर होते थे शत्रु था और उनकी रचनाओ को कुदृष्टि से देखता था। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की प्रतिक्रिया मे १८०९ ई० मे 'द क्वार्टरली रिव्यू' निकाला गया। उसका उद्देश्य राजनैतिक तथा सुधार-सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्तों के खतरे से राष्ट्र और धर्म की रक्षा करना था। क्योकि 'क्वार्टरली रिव्यू' धर्म सम्बन्धी विषयो मे यथेष्ट रूढिवादी न था और राजनीतिक मामलो मे यथेष्ट स्थितिपालक न था, अत वह १८१७ ई० मे 'ब्लैकवूड्ज मैकज़ीन' के उत्थान का कारण बना। १८२० ई० मे 'क्वार्टरली रिव्यू' का प्रतियोगी 'द लन्दन मैगज़ीन' अस्तित्व मे आया। जब पहले पहल 'रिव्यू' और 'मैगजीन' चले तो उनमे यह अन्तर था कि 'रिव्यू' मे साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, समाज ऐसे विषयो का समन्वय होता

था। वह लेखको और राजनीतिज्ञो के गुण और दोष अपने पाठको के सामने लाता था। उसमे मौलिक लेखो का समावेश नही था। वह प्राय लेखको की कृतियो का परिचय और उनकी समीक्षा ही दिया करता था। इसके विपरीत मैगजीन सब प्रकार के लेख छापता था उसमे रिव्यू की तरह पुस्तको का परिचय और उनकी समीक्षा और पार्लियामेण्ट की बहसो के हाल तो रहते ही थे, और साथ ही साथ वह मौलिक लेख भी प्रकाशित करता था। उसका उद्देश्य जनता को वाह्य जगत के व्यापारो से अभिज्ञ करना और अपनी आलोचना से पाठको को प्रभावित करना ही न था किन्तु उनका मनोरञ्जन करना भी था। रिव्यू और मैगज़ीन की ये विशेषताएँ अभी तक चली आ रही है। उन्नीसवी शताब्दी के आदि के रिव्यू और मैगजीन के आलोचनात्मक लक्षणो मे दो विशेषताएँ द्रष्टव्य है। पहली विशेषता यह है कि उनका ध्यान कलाकार की कल्पना-शक्ति और किसी दृश्य के सम्पादन की ओर आकृष्ट रहता है। आधुनिक पुस्तक-परिचय के विपरीत वे रचना प्राक्रिया से कोई प्रयोजन नही रखते थे। हैजलिट का कथन है कि जो आलोचक जनता के लिये लिखता है उसका कलात्मक साधनो से क्या प्रयोजन है। दूसरी विशेषता यह है कि वे आलोचना मे व्यक्तिगत आक्षेपो, गाली-गलौज और अन्धाधन्ध कटाक्षो की भरमार कर देते थे। यद्यपि लॉकहार्ट और विल्सन मे व्यक्तिगत बडा भेद था तथापि जब वे ऐसे लेखको की आलोचना करने बैठते थे जिनसे उनके विचार नही मिलते थे तो वे दोनो ऐसे लेखको को कलङ्कित किए बिना नही मानते थे। पिछली शताब्दी के चतुर्थ दशक मे 'द टाइम्स' के सम्पादक ने मैकोले को बकवादी मैकोले कह कर दूषित किया था। 'सण्डे' समाचारपत्रो के परिचयदायको से डिकिन्स इतना दुखित हुआ कि उनके लेखको को उसने मनुष्याकृति राक्षस कहना आरम्भ कर दिया। टैनिसन भी पुस्तक-परिचय देने वालो के कटाक्षो से इतना भग्नाश हुआ कि वह देश छोडने तक को तैयार हो गया। धीरे-धीरे पुस्तक-परिचय मे गाली-गलौज की जगह शिष्टता आने लगी। यह शिष्टाचार 'द एथेनिअम,' 'द सैटरडे रिव्यू,' और 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट' के द्वारा आया। इनके पुस्तक-परिचय देने वालो ने व्यक्तिगत आरोपो का बहिष्कार करके कृतियो की वस्तु और शैली-सम्बन्धी लाभदायक सूचनाएँ पाठको को दी।

पुस्तक-परिचय देने वाले का धर्म निश्चित करने मे पुस्तक-परिचय का यह सूक्ष्म ऐतिहासिक विवरण साहायक होगा। फिलिएट का विचार है कि पुस्तक-परिचय देनेवाला साहित्य व्यापार मे एक व्यर्थ का अधिकारी है। उसे यह मिथ्याभास रहता है कि वह पुस्तक का यथेष्ट परिचय दे रहा है, जब कि सत्य तो यह है कि यदि ग्रन्थ दार्शनिक है तो वह विचार-धारा की सूक्ष्मता को छोड कर इधर-उधर की महत्त्वहीन बात करने लगता है, और यदि पुस्तक साहित्यिक होती है तो वह उसके हृदयग्राहि लक्षणो को छोड कर शैली और वस्तु की नवीनता इत्यादि ऐसी बातें करने लगता है। टी० एस० इलियट आलोचक की पुस्तक-परिचय देने वाले से तुलना करता है। आलोचक तो एक ऐसा व्यक्ति है जो सब तरह का पर्याप्त ज्ञान रखता है, चाहे वह किसी विशेष विद्या का विशेषज्ञ न हो, और जो कला

को केवल मनरञ्जन ही का साधन नही समझता। परन्तु आधुनिक पुस्तक-परिचय देनेवाला तो केवल जीविका कमाने वाला जल्दबाज कलाप्रेमी है। पुस्तक-परिचय मे दायित्व और ध्यान की ही नही वरन् सहानुभूति की भी कमी रही है। 'द मन्थली रिव्यू' के सम्पादक ने कोलरिज के 'एन्शैण्ट मैरीनर' को असङ्गत, अशिक्षित, और बुद्धिहीन साडम्बर प्रबन्ध-काव्य कहा है। 'एडिन्बरा रिव्यू ने वर्डसवर्थ के 'एक्सकर्शन' को इन शब्दो से निन्दित किया, यह पाठको को कभी रुचिकर न होगा। वर्डसवर्थ महोदय की दशा स्पष्टत नैराश्यपूर्ण है। उनका रोग असाध्य है और आलोचना की शक्ति से परे है।" 'क्वार्टरली रिव्यू' ने कीट्स की 'एण्डीमियन' की भर्त्सना करते हुए उसे लन्दन की अशिक्षित शैली मे लिखी हुई कविता बताया। इसी तरह 'ब्लैकवुड्ज मैगजीन' ने कीट्स को काव्य-रचना छोड कर फिर दवाखाना वापिस जाने की सलाह दी और वहाँ प्लास्टर, मरहम, गोलियाँ, तथा अनुलेप के बक्सो को फिर से सम्भालने के लिए कहा। आरम्भिक पुस्तक-परिचय देने वालो के ऐसे निर्णयो पर हम आश्चर्यचकित रह जाते है। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से आधुनिक पुस्तक-परिचय भी आशाजनक नही है। पुस्तक परिचय देने वालो की सख्या बहुत बढ गई है और एक ही कृति के तरह-तरह के पुस्तक परिचय निकलते हैं। यदि एक पुस्तक परिचय देने वाला उसे श्रेष्ठतम रचना कहता है तो दूसरा उसे निकृष्टतम मानता है। इस प्रकार प्रशसा दोष को काट देती है और दोष प्रशसा को काट देता है, और बेचारा पाठक कृति के बारे मे कोई मत नही बना सकता है। पुस्तक-परिचय अपने कार्य मे विफल सी ही जान पडती है। मतविभिन्नता जो पुस्तक-परिचय को बेकार कर रही है, आलोचनात्मक मानदण्ड की अस्थिरता के कारण है। हैरल्ड निकलसन पुस्तक-परिचय देने वाले का कर्त्तव्य निश्चित करने के उद्देश्य से कहता है कि आलोचक दो विधियो से चल सकता है। वह किसी कृति को कला के अमर मान-दण्डो से सम्बन्धित कर सकता है अथवा कृति की आलोचना पाठक की सस्कृति के स्तर से दे सकता है। पुस्तक-परिचय देनेवाला इन्ही दो सीमाओ के बीच क्रियाशील हो सकता है। हैरल्ड निकलसन स्वय बडा अभ्यस्त पुस्तक-परिचय देने वाला है। अपने पुस्तक-परिचय का वह यह हाल देता है। पुस्तको का परिचय देते समय मैं उनके लेखको से वार्ता करता हूँ। मैं इन्हे यह बता देना चाहता हूँ कि उनकी रचनाओ को मैं क्यो पसन्द करता हूँ या क्यो नापसन्द करता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि ऐसे वार्तालाप से साधारण पाठक को उपयोगी सूचना मिल जाती है। वर्जीनिया वुल्फ आधुनिक पुस्तक-परिचय देने वालो के अनुत्तरदायित्व से घबडाकर कहती है कि पुस्तक-परिचय देनेवालो का बिलकुल अन्त कर देना चाहिये और एक ऐसे मन्त्री की नियुक्ति करनी चाहिये जो थोडी सी फीस मे कृति की जाँच करे और लेखक को अपने निष्पक्ष विचारो से परिचित करे। वर्जीनिया वुल्फ का विचार है कि यह पद्धति हैरल्ड निकलसन की पद्धति से बेहतर होगी। इस पद्धति से उच्चाकाक्षी लेखक को उपयुक्त परामर्श और प्रच्छन्नता मिल जायगी। परन्तु हैरल्ड निकलसन और वर्जीनिया वुल्फ दोनो ही उस अभिप्राय को गलत समझे हुए है जिस से पुस्तक-परिचय देने की प्रथा चली। आधुनिक काल की प्रमुख विशेषता साहित्य का मर्यादाधिक्य सृजन है। प्रत्येक वर्ष अंग्रेजी

मे बीस हजार से अधिक पुस्तके छप रही है। उनमे कुछ अच्छी, कुछ बुरी, और कुछ न अच्छी और बुरी है। बिना पुस्तक-परिचय की सहायता के पाठक के लिये उच्चतम पुस्तक का निर्वाचन कठिन है। आवश्यक कौशल से सम्पन्न पुस्तक-परिचय देनेवाला लेखक और पाठक का मध्यस्थ होता है। जब वह कर्तव्यपरता से अपना काम करता है, तब वह अपने पाठकवृन्द के लिये पुस्तक का साफ, बुद्धिमत्तापूर्ण, और निष्कपट विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस विश्लेषण से प्रेरित होकर पाठक पुस्तक मोल लेने का निश्चय करता है। साहित्य व्यापार की मितव्ययिता मे पुस्तक-परिचय देनेवाले की मध्यस्थता अपरिहार्य है। साथ ही साथ उसका कार्य लेखक के लिये भी लाभकारी हो सकता है। वह बुरी किताबो की निष्फलता प्रदर्शित करता है और प्रतिभाहीन किताबो के दोष निर्दिष्ट करता है। परन्तु व्यावसायिक दृष्टि से उसका अस्तित्व पाठक ही के हित मे है।

पुस्तक-परिचय अपनी सीमा का उल्लङ्घन कर बहुधा साहित्यालोचन के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' की आकाक्षा जनता के मस्तिष्क को शिक्षित करना और कला, साहित्य, तथा विज्ञान-विषयक बातो मे जनता के निर्णय का पथ प्रदर्शन करना थी। परन्तु अभ्यास मे उसके सम्पादक न्यायाधीशो के समान लेखको को अपराधी जानकर उनकी कृतियो पर फैसला देते थे। 'एडिन्ब्रा रिव्यू' पर मैकोलै के चरित्र की छाप गहरी लगी थी और वह पुस्तक-परिचय देनेवाले को एक ऐसा प्रमाणाध्यक्ष कहता है, जो साहित्यकारो का उचित स्थान निर्धारित करने मे दक्ष होता है और उन्हे अपने-अपने उचित स्थानो तक शिष्टाचार सहित ले जाता हे। ठीक यही काम साहित्यालोचक का हे। वह भी योग्यतानुसार लेखको का क्रम लगाता है। आलोचना की मुख्य धारा उन्नीसवी शताब्दी मे पुस्तक-परिचय के मार्ग मे प्रवाहित होती रही और अब भी वही प्रवृत्ति बनी हे। इसके अतिरिक्त पुस्तक-परिचय ने आलोचना के लिय सदा शिक्षास्थल का काम दिया हे। पुस्तक-परिचय ही ने सेण्ट ब्यूव, मैथ्यू आरनल्ड, और एडमण्ड गास की आलोचनात्मक प्रतिभा को चमत्कृत किया। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हे बिना इनके लेखो के आलोचनात्मक साहित्य बहुत कुछ निधन होता। तथापि आलोचना और पुस्तक-परिचय दो भिन्न-भिन्न चीजे हे, और उन्हे एक दूसर स पृथक् करना आवश्यक है। पहले, पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक का वस्तु विशेष, उसका मूल्य, उसकी जिल्द, उसका टाइप और कागज ऐसी बातो की परीक्षा करता हे। आलाचक का इन बातो से कोई सरोकार नही हे। दूसरे, पुस्तक-परिचय देनेवाले को पत्रिका के पढ़ने वालो का खयाल होता है और अपनी शैली और अपना प्रतिपादन उन्ही की रुचि और सस्कृति के स्तर से सयोजित करता हे। इन विचारो से पुस्तक-परिचय मे आलोचनात्मक गुण का ह्रास होता है। इसके विपरीत आलोचक पहले कृति से काल्पनिक सम्पर्क स्थापित कर उसका मूल्याङ्कन करता है और फिर उस मूल्याङ्कन की सहज अभिव्यक्ति करता है। तीसरे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक की ऐसी बातो पर अधिक जोर देता है, जिनसे पाठक का ध्यान पुस्तक की ओर आकर्षित हो, आलोचक पुस्तक के किसी अङ्ग को विशेष ध्यान नही देता, वह सब अङ्गो की पृथकता को पुस्तक के एक रूप

मे भूल जाता है । चौथे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पत्रिका मे प्राप्त स्थान से बाधित होता है और विषय और शैली का न्यायपूर्ण पर्याप्त प्रतिपादन नही कर सकता, आलोचक ऐसी बाधा से मुक्त होता है । पाँचवे, जब कि आलोचक पुरानी और नई दोनो तरह की किताबो मे आविष्ट होता है और काल और देश का आदर करता है, पुस्तक-परिचय देनेवाले का क्षेत्र नयी पुस्तको तक सीमित रहता है, बहुधा छापेखाने से तुरन्त निकली हुई नई पुस्तको से । छठे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक को दूसरी और पुस्तको से अलग कर लेता है और उसकी ही परीक्षा करता है, आलोचक एक पुस्तक की दूसरी पुस्तको से तुलना करता है और उस पुस्तक के लेखक की दूसरे लेखको से तुलना करता है । और अन्त मे, पुस्तक-परिचय देनेवाल कृत का प्रतिरूपक सक्षिप्त विवरण देने मे यत्नशील होता है और रचनात्मक कला के विज्ञान से तनिक भी चिन्तित नही होता, आलोचक कलात्मक कृतियो का मूल्य ही निर्धारण नही करता वरन् उन सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमो का विवरण देने मे सन्नद्ध रहता है जिनसे उन कृतियो की रचना नियन्त्रित होती है और जिनके परिपालन से वे अपना प्रभाव उत्पन्न करती है ।

२

रचनात्मक आलोचना
(क्रीएटिव क्रिटीसिज्म)

आलोचना के तीन प्रयोजन है—रचना (क्रीएशन), व्याख्या (इण्टर्प्रेटेशन), और निर्णय (जजमेण्ट)। या तो अलोचक कलाकृति को अपने अनुभूति के स्तर पर लाकर एक अन्य रचनात्मक कृति की सृष्टि करता हे, जिसमे आलोचना के साथ-साथ आलोचक का पूरा व्यक्तित्व प्रतिलक्षित होता है—यह रचनात्मक (क्रीएटिव) आलोचना है। या धैर्य और सहानुभूति के साथ आलोचक कलाकृति मे तल्लीन हो जाता है और उसे पूर्णरूप से समझने का प्रयत्न करता है। वह समझने की क्रिया मे कृति का सम्बन्ध कलाकार के जीवन और उसकी प्रतिभा से स्थापित करता है, अथवा कृति को वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर उस नियम तक पहुँच जाता है जिससे कृति के विकास का स्पष्टीकरण होता है। यह व्याख्यात्मक (इण्टर्प्रेटेटिव) आलोचना है। या कृति को पूर्णरूप से समझने के पश्चात् आलोचक कृति के गुणावगुण पर अपना निर्णय देता है। वह बतलाता है कि कृति साहित्य है या नही है। यदि वह साहित्य है तो भला है या बुरा। यदि वह भला साहित्य है तो वह अमुक साहित्य से ज्यादा भला हे या ज्यादा बुरा। यह निर्णयात्मक (जुडीशल) आलोचना है। आलोचना के इतिहास से आलोचना के यही तीन काम सिद्ध होते हैं, चौथा नही। इन तीनो कामो मे निर्णयात्मक काम ही प्रधान और श्रेष्ठतम है और ससार के बडे-बडे आलोचको की रुचि भी कृत के गुण-दोष निरूपण की ओर ही रही है। परन्तु पहले हम रचनात्मक आलोचन का विवरण देगे, उसके पश्चात् व्याख्यात्मक आलोचना का और अन्त मे निर्णयात्मक का।

१

रचनात्मक आलोचना मे विरोधाभास मिलता है। रचनात्मक क्रिया आलोचनात्मक क्रिया के प्रतिकूल मानी जाती है। इस प्रातिकूल्य को गम्भीर समझकर कभी-कभी बडी बेहूदी बाते कह डाली गई हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन का कथन है कि जब कभी किसी कवि

को काव्य-प्रणयन मे सफलता नही मिलती तब उसका नैतिक पतन आरम्भ हो जाता है और तभी वह आलोचक बन बैठता है। मानो कि एक क्षेत्र मे असफल होना दूसरे क्षेत्र मे सफल होना है। इसमे सन्देह नही कि ड्राइडन का यह मत ऐसे बुरे कवियो के विषय मे था जिन्होने असफलता के कारण कविता छोड कर सफल कवियो पर कडे आक्रमण किये थे। मैथ्यू आर्नल्ड भी रचना और आलोचना के विरोध को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि साहित्य के इतिहास से यह मालूम होता है कि रचना और आलोचना के अलग-अलग काल होते है। यदि किसी काल मे रचना प्रधान होती है—जैसे पिण्डार और सोफोक्लीज के समय के यूनान देश मे और शेक्सपिअर के समय के इगलैण्ड देश मे, तो किसी काल मे आलोचना प्रधान होती है जेसे अठारहवी शताब्दी के यूरोप मे। मैथ्यू आर्नल्ड रचना को आलोचना से श्रेष्ठतर प्रवृत्ति मानता है। उसका कहना है कि रचनात्मक शक्ति के प्रयोग मे ही मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। आलोचनात्मक शक्ति की तो रचनात्मक शक्ति केवल सहकारिणी है। आनल्ड की राय मे रचनात्मक साहित्य जीवन की आलोचना है और बतौर आलोचक उसने अपना धर्म यह समझा कि इस जीवन की आलोचना को बाहर समाज मे लाये और उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सस्कृति से स्थापित करे। जिस प्रकार न्यूमैन सस्कृति का स्रोत सर्वाङ्गिक ज्ञान मानता है, उसी प्रकार आनल्ड सस्कृति का स्रोत आलोचना मानता हैं। उसके मतानुसार आलोचक का मुख्य कार्तव्य यह है कि वह ससार के सर्वोच्च ज्ञान और विचारो को जाने और सोचे समझे, और फिर उनका सर्वत्र प्रसार करके सच्ची और नवीन भावनाओ की धारा प्रवाहित करे। इस प्रकार आलोचक का कार्यभार त्रिगुण है। पहले, आलोचक पढे, समझे और वस्तुओ का यथार्थ रूप देखे। दूसरे, जो कुछ उसने सीखा है उसे वह दूसरो को हस्तान्तरित करे, जिससे उत्तम भावनाएँ सब जगह प्राबल्य पाएँ। इस ओर उसका कार्य धर्म प्रचारक का जैसा है। तीसरे, वह रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना और पोषण दे। इस विचार से आलोचना रचना की दासी हैं। परन्तु आलोचना की इस अप्रतिष्ठा के लिये आर्नल्ड के पास कोई दर्शनिक आधार नही है। टी० एस० इलियट के कथनानुसार रचना और आलोचना साहित्य के निर्माण मे एक दूसरे के पूरक है, और दोनो का सयोग प्राय एक ही व्यक्ति मे उपस्थित होता है। किसी कलात्मक कृति की रूप सम्बन्धी व्यवस्था बिना आलोचनात्मक शक्ति के असम्भव है। अवधारण और सङ्गति को ध्यान मे रखते हुए भिन्न-भिन्न अवयवो का एकीकरण और व्यञ्जक शब्दो, पदो और परिच्छेदो से एक ऐसी तार्किक शृङ्खला का निर्माण जो कलात्मक आनन्द का शाश्वत हेतु हो, ऐसा ही कलाकार कर सकता है जिसमे रचनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ आलोचनात्मक प्रतिभा भी उसी मात्रा मे होगी। इसी से तो यह उक्ति सदा सत्य है कि किसी कवि को महान् होने के लिये उसे महान् आलोचक भी होना चाहिये। इसी तरह आलोचक को रचनात्मक शक्ति की पूरी आवश्यकता है क्योकि बिना इस शक्ति के कृति का प्रत्यक्षीकरण और उसका पुनर्निर्माण असम्भव है। यदि हम हीगल की तात्त्विक प्रणाली का प्रयोग करे तो कह सकते हैं कि कलात्मक यथार्थता रचना और आलोचना का समन्वय है। कला रचनात्मक प्रक्रिया

मे आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण मे रचनात्मक होती है।

२

कलामीमासको ने कलात्मक सृष्टि का उद्गम कइ मानसिक शक्तियो से किया है, जैसे, अनुकरण, वैदग्ध्य (विट), रुचि (टेस्ट), कल्पना, और व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी)।

प्राचीन यूनान मे कलामीमासन नैतिक दृष्टिकोण से हुआ। कवि उपदेशक माना जाता था। यूनानियो का सब से बडा कवि उनका सबसे बडा उपदेशक था। प्रत्येक यूनानी जीवन के आदर्श होमर के महाकाव्यो से लेता था। होमर ने अपने काव्यो मे जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिरूप दिया था, ऐसी धारणा यूनानियो की थी। अलौकिक पात्रो और घटनाओ के उनके व्याख्याता लाक्षणिक अर्थ दिया करते थे। शुरू से ही उनके मस्तिष्क मे यह विचार समाया हुआ था कि कला सच्चे रूप से अनुकरणात्मक होती है। इस विचार का सोलन पर इतना अधिक प्रभाव था कि अपने समय के नाटको मे झूठा अनुकरण पाने पर उसने उनका वहिष्कार किया। इस आदर्श की सोक्रेटीज ने भी पुष्टि की और उसने सुझाया कि मन की आन्तरिक अवस्थाओ का अनुकरण भी चेहरे से इङ्गित द्वारा हो सकता है। वह थोडा सा आगे भी बढा। उसने यह स्थापित किया कि प्राकृतिक तत्त्वो को ऐसे मिलाया जा सकता है कि उनसे नये-नये रूपो की सृष्टि हो। आगामी आलोचक इसी सिद्धान्त पर जमे रहे और उनके इस कथन मे कि कविता की ध्वनियाँ जीवन की ध्वनियो की नकल है और कविता की गतियाँ जीवन की गतियो की नकल है, अनुकरणात्मक सिद्धान्त की व्याख्या अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती है। परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे भारी पोषक प्लेटो है। उसने इसी सिद्धान्त का उपयोग अपनी काव्य-समीक्षा मे किया। उसने सिद्ध किया कि समग्र यूनानी साहित्य मे न अलौकिक सत्य है और न लौकिक। एक आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक को ऐसी झूठी साहित्यिक सृष्टि से अलग ही रहना श्रेयस्कर है। अरिस्टॉटल भी इसी सिद्धान्त का अनुयायी था। परन्तु वह अनुकरण से जीवन अथवा प्रकृति का सीधा अनुकरण नही समझता था। उसका विचार था कि काव्यात्मक अनुकरण भावनामय होता है।

रोमन आलोचक होरेस भी कविता को जीवन का अनुकरण मानता है, परन्तु वह यूनानियो की प्रतीभा से इतना चकित था कि उसने कवियो को आदेश दिया कि वे अपने काव्यात्मक अनुकरणो मे यूनानी लेखको और आदर्शो को कभी न भूले।

इटली का पुनरुत्थानकालीन आलोचक विडा कवियो को प्रकृति का अनुकरण करने की सलाह देता है और यह प्रमाण पेश करता है कि प्राचीन कवियो ने भी ऐसा ही किया था। उन्होने सदा प्रकृति का अध्ययन किया और वे सदा प्रकृति के सत्यो और आदर्शों के अशिथिल अनुगामी रहे। इटली के आलोचको का ध्यान यथार्थ के ससार से प्राचीन कला के ससार की ओर आकर्षित होने का कारण स्पष्ट है। पुनरुत्थान काल मे जब योरोप मे बुद्धि-विषयक जागृति हुई तो प्राचीन यूनान और रोम की कृतियो को ही लेखको

ने साहित्यिक श्रेष्ठता का मानदण्ड माना। स्कैलीगर ने अपने देश के कवियो को निर्भीकता से आदेश दिया कि वे निरन्तर वर्जिल का अनुकरण करें, क्योकि वर्जिल ने अपने 'एनीड' महाकाव्य मे प्रकृति की कमियो को पूरा कर दिखाया है। बैन जोनसन दृढतापूर्वक कहता है कि शास्त्रीय अनुकरण ही कलात्मक रचना का मूल स्रोत है। फ्रासीसी आलोचक बोइलो प्राचीन यूनानी और रोमन कृतियो के अनुकरण की दार्शनिक व्याख्या करता है। उसका कथन है कि कोई वस्तु सत्य नही है जो प्रकृति मे नही है। इसलिए कविता को सुन्दर होने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नीव सत्य और प्रकृति मे हो। क्योकि प्राचीन कवियो की कविता के सत्य और प्रकृति मूलाधार हैं उन्ही की कविता अत्यन्त सुन्दर है। बस, आधुनिक कवियो का यही धर्म है कि वे उनका साशङ्क अनुकरण करे। अग्रेजी कवि और आलोचक पोप भी शास्त्रीय अनुकरण का पूरा हामी है। वह अपने पद्यात्मक आलोचना विषयक निबन्ध मे लिखता है कि प्राचीन यूनान मे कविता आलोचना के सिद्धान्तो से नियन्त्रित थी। आज कल के कवियो का कर्तव्य है कि वे होमर और वर्जिल को खूब घोखे और समझे और उन्ही को अपने आदर्श मानें। दोनो ही काव्य-रचना के उत्कृष्ट प्रमाण है, परन्तु पोप की स्कैलीगर के विपरीत होमर के प्रति अधिक श्रद्धा है। यह बात इस कथन से स्पष्ट है। जब मैरो ने एक ऐसे काव्य का ढाँचा तैयार किया जो पुराने रोमन काव्यो से भी अधिक जीवित रहे, तो उसका विश्वास हुआ कि ऐसा काव्य सीधे प्रकृति के अनुकरण के आधार पर ही लिखा जा सकता है। परन्तु जब उसने अपने काव्य के प्रत्येक भाग की परीक्षा की तो उसे मालूम हुआ कि प्रकृति और होमर तो एक ही हैं।

होमर और वर्जिल दोनो ने अपनी रचनाओ मे प्रकृति को उपस्थित किया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उन्होने प्रकृति को ज्यो का त्यो नग्न अवस्था मे उपस्थित किया है। स्कैलीगर के वर्जिल-विषयक कथन से सिद्ध है कि वर्जिल की प्रवृत्ति प्रकृति के प्रति भावनामयी थी। उसने प्रकृति को आदर्श रूप मे चित्रित किया। अनुकरण से मतलब प्रकाशचित्रकलात्मक (फोटोग्राफिक) पुनरुत्पत्ति नही समझना चाहिये। प्रकाश चित्रकला और ललितकला मे सारभूत अन्तर है। प्रकाशचित्रकलात्मक पुनरुत्पत्ति मे कल्पना की मात्रा नही होती; इसके विपरीत साहित्यिक पुनरुत्पत्ति मे कल्पना की मात्रा अवश्य होती है। इस मात्रा की मान्यता अरिस्टॉटल को तो है, ही क्योकि वह साफ कहता है कि कवि वस्तुओ को उनके यथास्थित रूप मे नही वर्णित करता किन्तु उनके उपयुक्त रूप मे। प्लैटो द्वारा इस सिद्धान्त की मान्यता उसके आदर्शवाद से सम्बन्धित है। प्लैटो का विश्वास है कि ईश्वरजनित मूलादर्श (आइडिया) ही वास्तविक सत्ता है, और मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत है, जिसका यह स्थूल जगत् एक अपूर्ण अनुकरण है। ईश्वर परम कल्याण है और उसकी कल्याणात्मक प्रवृत्ति ही से उसके मूलादर्श (आर्चटाइपल आइडिआज़) सासारिक वस्तुओ मे प्रविष्ट है। प्लैटो ऐसी कविता को असली कविता मानता है जो मूलादर्शों के सूक्ष्म जगत का अनुकरण करती है और ऐसी कविता का बहिष्कार करता है जो इस अपूर्ण स्थूल जगत का अनुकरण करती है। प्लैटो के इस विचार को उसकी

दार्शनिक सूक्ष्मता से दूर कर के यो व्यक्त कर सकते है—कवि को प्रकृति और जीवन के निरीक्षण से आदर्श सत्य का आभास हो जाता है और उसी सत्य के नियन्त्रण मे प्रकृति और जीवन को परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित कर के वह अपनी कृतियो मे उपस्थित करता है। अत कलाएँ प्रकृति और जीवन की कोरी नक्ल नही होती, उन सभी मे आदर्शीकरण की मात्रा विद्यमान् होती है।

परन्तु प्रकृत्यनुकरण का दृढाग्रह अभी आलोचना से बिल्कुल नही गया। वह कविता और नाटक मे प्रकृतिवाद के रूप मे और उपन्यास मे यथार्थवाद के रूप मे अब भी विद्यमान् है। आधुनिक काल मे इस सिद्धान्त को रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृतिवाद, डार्विन के विकास-सिद्धान्त अथवा उत्क्रान्तिवाद, हेक्ल के जड द्वैतवाद, और फ्रायड के मनोविश्लेषण से बडा बल मिला है कविता मे पुराने समय से ही प्रकृति अनुकरण की परम्परा चली आ रही है। चौसर, क्रैब, बर्न्स,वर्डसवर्थ ब्राउनिङ्गी, सिज्ज, येटस, और मेसफील्ड की कविताओ मे बहुत से जीवन-दृश्य ज्यो के त्यो समाविष्ट है। थोरो कहता है कि मै सदा दो कापी पास रखता हूँ, एक तो तथ्यो के हेतु और दूसरी कविता के लिए। परन्तु मुझे तथ्य और कविता के बीच अन्तर स्थिर रखने मे बडी आपत्ति होती है। मुझे महसूस होता है कि रोचक और सुन्दर तथ्य तो लोकप्रिय कविता से कही अधिक काव्यमय है। यदि मेरे एकत्रित तथ्य सब जीवित और सार्थक हो तो मुझे केवल एक ही कविता वाली कापी की जरूरत रहे। ठीक है। कविता आई कहाँ से ? जीवन से तो ही। तथ्न सब निर्मित कथाओ से अधिक सुन्दर होता है। ऐसा विचार प्रकृतिवादियो का है। पिछली शताब्दी मे पहले रोमान्सवादियो ने ऐसे सिद्धान्तो की उपेक्षा की जिनसे यह सिद्ध होता था कि मनुष्य सारे समाज से सम्बद्ध है और उसके जीवन की गति के अटल नियम हैं। फिर विज्ञान मे भौतिक शास्त्र को जीवविज्ञान ने कुछ समय के लिये आच्छादित कर लिया। जीवविज्ञान व्यवस्था की बुनियाद व्यक्ति है और व्यक्ति का भविष्य जीव-विज्ञान मे भी पहले से ही निश्चित है। वह मूल तत्वो और शक्तियो का खेल है। इसी कारण प्रकृतिवादी लेखक व्यक्ति का उसकी प्रकतिक परिस्थिति मे अध्ययन करता है कि किस प्रकार यह प्रकृति से उत्तेजित होता है और किस प्रकार वह प्रकृति को अपने हित मे परिवर्तित करता है। गॉल्सवर्दी का कहना है कि यदि कोई नाटककार अपने सम्य के जीवन को प्रकृतिवादिता के अनुसार ठीक-ठीक निरूपित करने की चेष्टा करे तो वह मनुष्य को अपनी परिस्थिति मे ऐसा फँसा पायेगा कि वह वहाँ से अलग हो ही नही सकता। इब्सन ने प्रकृतिवाद का आवेशपूर्ण अनुसरण किया। उसने रङ्गमञ्च का पुरानी रीतियो से उद्धार किया और जीवन को उसने यथार्थ रूप मे चित्रित किया। बैनेट, गॉल्सवर्दी, बैक, गोरकी, शैखो और होप्टमैन योरोप के प्रसिद्ध प्रकतिवादी नाटककार है। प्रकृतिवाद को उपन्यास की आलोचना मे यथार्थवाद कह देते है। पुराने उपन्यासकार मिथ्याभूत नायक और नायिकायो को अविश्वसनीय घटनाओ मे प्रदर्शित करते थे। नये उपन्यासकारो की चेष्टा हुई कि वे जीवित मनुष्यो की सच्ची समस्याएँ और उनके यथाभूत सवेगो को उपन्यास मे चित्रित करे। वे ससार का अपना सच्चा अनुभव पाठक के सामने रखना चाहने लगे। स्पष्ट है कि मनगढन्त वस्तुओं को छोड वे वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओ

की ओर झुके। इस झुकाव मे उन्होने यह भी परवाह न की कि चित्रित जीवन-दृश्य मनोहर है अथवा जुगुप्सित। इन्द्रियगम्य ससार का वर्णन ही यथार्थवाद का परम उद्देश्य है। फ्लोवर्ट, जोला, डोडे और दोनो गोनकोर्टो ने फ्राँस मे यथार्थवाद का बडी धूम से प्रचार किया। डिकिन्स, ज्योर्ज इलियट, किलिपङ्ग, हार्डी और गॉल्सवर्दी इगलैएड के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी उपन्यासकार हैं।

प्रकृति अनुकरण हाल मे अतियथार्थवाद (अग्रेजी सररियलिज़्म) के रूप मे आया है। इस मत का उद्देश्य प्रकृति की मान्य सीमाओ से परे जाना है। साहित्य मे ऐसे उपकरण लाना है जो अभी तक नही लाये गये थे, जैसे स्वप्न और स्वय प्रवर्तक साहचर्य, और चेतन और अचेतन अवस्थाओ का मेलान। अतियथार्थवादी अपनी कृति को बिना तर्क के व्यवस्थित होने देता है जिससे वह अचेतन मानसिक व्यापार के समतुल्य दीख पडे।

हर्बट रीड के मतानुसार अतियथार्थवाद रोमान्सवाद की विस्तृति है। दूसरो के मत मे अतियथार्थवाद रोमान्सवाद का निष्फलीकरण है। इसमे सन्देह नही कि दोनो एकरूपता की जगह विभिन्नता और तर्क की जगह स्वय प्रवर्तक साहचर्य के प्रति अधिक रुचि दिखाते है। यदि आतियथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करता है तो वह ऐसा रोमान्सवाद है जिसका महायुद्धो द्वारा मान्य मूल्यो के पतन अथवा विनाश मे शोध हो चुका है, जिसकी वृद्धिसापेक्षता के सिद्धान्त से और फ्रायड के मनोविश्लेषण से हुई है। सच पूछा जाय तो अतियथार्थवाद के सम्भाव्य के कारण फ्रायड, हीग्ल और मार्क्स ये तीन है। फ्रायड से शोधीकृत मन के अनुसन्धान की प्राप्ति हुई हीग्ल, से विपरीत सत्यो के सश्लेषण के प्रत्यय का ज्ञान हुआ, और मार्क्स से समकालीन मूल्यो की घृणा के लिये तर्क मिला।

हॉब्स ने आलोचना के इतिहास मे एक नई कलामीमासा का प्रवर्तन किया। वह कहता है कि काल और शिक्षा से अनुभव उत्पन्न होता है। अनभव से मेधा (मैमरी) उत्पन्न होती है। मेधा मे अवधारणा (जजमेएट, और तरङ्ग (फैन्सी) उत्पन्न होती है। अवधारणा से काव्य की प्रभावोत्पादकता और उसकी रचनाव्यवस्था उत्पन्न होती है और तरङ्ग से काव्य का अलङ्कार उत्पन्न होता है। अवधारणा और तरङ्ग ही हॉब्स के मतानुसार काव्य के विधता है। हॉब्स तरङ्ग का वैदग्ध्य (विट) के अर्थ मे प्रयोग करता है। वैदग्ध्य और अवधारणा इन दोनो शब्दो की व्याख्या जैसी उसने की वैसी ही उस समय के आलोचनात्मक शब्द-समुदाय मे दृढता से स्थापित हो जाती है और पीछे के आलोचक इसी व्याख्या का सहारा लेते है। वैदग्ध्य वह मानसिक शक्ति है जो व्यक्त रूप से समान वस्तुओ मे विभिन्नता ढूँढती है। तरङ्ग वास्तव मे स्वच्छन्द कल्पना है और उसके गुण तीव्रता और प्रत्युत्पन्नत्व हैं। वह कल्पना के विपरीत चपल और अनुत्तरदायी होती है। हॉब्स ने जिस अर्थ मे वैदग्ध्य का प्रयोग किया है उस अर्थ मे वैदग्ध्य तरङ्ग के उपर्युक्त दोनो गुणो का सूचक है। धीरे-धीरे वैदग्ध्य तारङ्गिक लक्षण निम्नपदस्थ हो जाता है और बौद्धिक लक्षण उच्चपदस्थ हो जाता है। यह बात डैनिस की इस परिभाषा से स्पष्ट है। वैदग्ध्य, बुद्धि और उच्छृखलता का ऐसा

उचित सम्मिश्रण है जिसमे बुद्धि का परिमाण अवश्य अधिक रहता है। इस परिभाष मे अवधारणा का बौद्धिक तत्त्व जिसके कारण उसमे और वैदग्ध्य मे विरोध था वेदग्ध्य मे समाविष्ट हो जाता है। यह तत्व आगे चल कर और जोर पकड जाता है। ड्राइडन वैदग्ध्य को विचारो और शब्दो की उपयुक्तता ही समझता है । अगली पीढी मे पोप वदग्ध्य को मनोहर अभिव्यञ्जना ही नही कहता वरन् उसका तादात्म्य विवेक और मानवी और भौतिक व्यवस्थित प्रकृति से स्थापित करता है, जसा कि निम्नोद्धृत पोप के चरणद्वय (कप्लेट) से स्पष्ट होता है।

ट्रू विट इज़ नेचर टु एडवेएटेज ड्रेस्ड
व्हाट आफ्ट वाज़ थॉट, बट नेवर सो वेल एक्प्रेस्ड ।[१]

प्रकृत्यकरण और वदग्ध्य की तरह रुचि एक तीसरा काव्य सिद्धान्त है जो साहित्यिक कलाकार की प्रवृत्ति उसके विषय-वस्तु की ओर निश्चित करता है। रुचि उस चारुता और रमणीयता की उत्पादक है जो आलोचनात्मक नियमो के परिपालन से कभी उपलब्ध नही हो सकती। रुचि बुद्धि और प्रमाण से स्वतन्त्र काम करती है और उसकी क्रियाशीलता हृदय से शासित होती है, मस्तिष्क से नही। उसे व्यक्तिगत सवेदनशीलता के अधिकार मान्य है। फिर भी जेसे वेदग्ध्य के अर्थ मे स्वच्छन्दता की जगह हेतुवादिता आ गई, वेसे ही रुचि के अर्थ मे भी स्वातन्त्र्य की जगह हेतुवादिता आ गई। स्कैलीगर का कहना है कि जेसे जगत मे प्रत्येक जाति के विशिष्ट जीवो के लिये पूर्णता का मानदण्ड है, उसी तरह साहित्य जगत मे प्रत्येक साहित्यिक रूप के लिये पूर्णता का मानदण्ड है। मूषक का स्वभाव है कि वह मूषकत्व की निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे और उसी नियम द्वारा जिससे विकासात्मक प्रगति मे उसके शरीर की व्यवस्था निश्चित होती है, वह मूषकत्व को नैसर्गिक शक्यता को पूर्णतया सिद्ध करे। अश्व का स्वभाव है कि वह अश्वत्व को निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे—तीव्रता से मनुष्य के नियन्त्रण मे दौडना। अश्व के सब गुण, उसकी हड्डियो की बनावट और उसका रूप, उसके शरीर का सुडौलपन और उसकी टॉगो का उसके शरीर से अनुपात, उसके नथनो का आकार और उसके चेहरे मे आपेक्षिक स्थान, ये सब चीजे तभी सुन्दर है जब उन द्वारा अश्व अश्वत्व के जातीव धर्म का पूर्णतया पालन करता है। इसी प्रकार काव्य भी अपनी नैसर्गिक क्षमता की पूर्ण सिद्धि के हेतु विकसित होता है। वही विकसित रूप काव्य का मानदण्ड है। उसी को मानसिक दृष्टि के सामने रखकर कवि को कविता करनी चाहिये और आलोचक को आलोचना करनी चाहिये। लाब्रूअरे फ्रॉस का एक प्रसिद्ध आलोचक स्कैलीगर के शब्दो को इस तरह दुहराता है "'कला मे पूर्णता की एक सीमा होती है जेसे प्रकृति मे परिपक्वता अथवा चारुता की सीमा होती है। जो कलाकार उस सीमा से अभिज्ञ है और उस सीमा से प्रेम करता है, उसकी रुचि पूर्ण है। इसके विपरीत,

[१] True wit is nature to advantage dress'd,
What oft was thought, but ne'er so well express'd.

जो कलाकार उस सीमा से अनभिज्ञ है और उस सीमा से इधर या उधर की किसी और वस्तु से प्रेम करता है, उसकी रुचि दोषपूर्ण है। इस प्रकार अच्छी और बुरी दोनो तरह की रुचियाँ है और मनुष्य रुचि के विषय मे व्यर्थ नही झगडते।"

प्राचीन मनोविज्ञान मे कल्पना इन्द्रिय (सैन्स) और प्रज्ञा (इण्टिलैक्ट) के बीच की एक मानसिक शक्ति मानी गई है। उसका काय इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सस्कारो को सुरक्षित रखना और उनका पुनरुत्पादन ही नही हे, बल्कि मानसिक सङ्केतो को इन्द्रियो तक पहुँचाना भी। कला के प्रङ्गग मे वह कभी स्वयसत्ताक उत्पादक शक्ति नही मानी गई है। अरिस्टॉल कल्पना मे क्षीण सवेदना के अतिरिक्त कुछ नही पाता। उसके विचारनुसार कल्पना सवेदना की ही मेधा द्वार प्राप्त अनुलिपि है। लॉज्जायनस कल्पना को प्रतिमा-निर्मायिक शक्ति कहता है। काव्य मे वह कल्पना का प्रयोग उस मानसिक अवस्था के लिए करता है जिसमे कि कवि अनुराग और उत्साह के वेग से प्रेरित होकर वर्ण्य विषय को आखो के सामाने सुस्पष्ट देखता है और अपने वर्णन द्वारा पाठक को भी उसे सुस्पष्ट दिखाने मे समर्थ होता है। कल्पना की धारणा मे न तो अरिस्टॉटल को और न लाज्जायनस को उसने सारभूत तत्व विधायकता का पता है। यूनानी आलोचना केवल फिलॉस्ट्रेटस मे एक ऐसा स्थल-प्रस्तुत करती है जिसमे कल्पना-विषयक विधायकता का उल्लेख है। उस स्थल मे फिलॉस्ट्रेटस कल्पना शक्ति की अनुकरण शक्ति से तुलना करता है, और कल्पना को उच्चतर शक्ति मानता हे। वह कहता है कि अनुकरण शक्ति उसी चीज का निर्माण कर सकती है जिसे वह अपने सामन देखती हे, परन्तु कल्पना शक्ति ऐसी चीज का भी निमाण कर सकती हे जो उसको दृष्टिगोचर नही है, बस, इस बात की आवश्यकता है कि निर्मित चीज शक्य हो। फिर, यथार्थ का आकस्मिक धक्का अनुकरण के हाथ को रोक देगा परन्तु कल्पना के हाथ को नही, क्योकि कल्पना भावना की आर निर्बन्ध चली जाती है। उदहारणार्थ, फिडियस और प्रक्सीटेलीज देवताओ को देखने के लिये स्वय स्वर्ग नही गए, उन्होने देवताओ को अपनी कल्पना मे देखा और उन देवताओ को अपनी कृतियो मे प्रत्यक्ष किया।

मध्यकाल और पुनरुत्थान मे आलोचको ने रोगशास्त्र से सम्बन्धित समझा। उनका विचार था कि कल्पना से ही मानसिक विक्षिप्तता का उद्भव है। 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम मे शेक्सपिअर ने थैस्यूस के एक कथन मे यही विचार प्रकट किया है कि पागल, प्रेमी, और कवि इन तीनो मे कल्पना घनीभूत रहती है। बेकन अवश्य कल्पना का उस मानसिक शक्ति के अर्थ मे प्रयोग करता है जो पदार्थों के वाह्य रूप को मन की भावना से पर्विर्तिक कर नीरस को सरस दिखाती है। अपनी 'एडवान्समेण्ट ऑफ लर्निङ्ग' मे उसने काव्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि ससार मे कल्याण, गौरव, और वैचित्र विद्यामान् है, परन्तु कवि उनसे सन्तुष्ट नही होता। उसकी कल्पना उसे विद्यमान कल्याण से अधिक श्रेष्ठ कल्याण की सूझ देती है, विद्यमान गौरव से अधिक भव्य गौरव की सूझ देती है, और विद्यमान वैचित्र्य से अधिक मनोहर वैचित्र्य की सूझ देती है। असतुष्टि ही से काव्य-विषयक

कल्पना उत्तेजित होती है, गौरव, और जो रूप कल्याण, गौरव और वैचित्र्य का कल्पना दिखाती है, उसी को कवि अपनी सन्तुष्टि के लिए कविता मे रच देता है।

नवशास्त्रीय (नियोक्लासिक) काल मे भी कल्पना का ठीक अर्थ निश्चित नही हो पाया। ड्राइडन कल्पना को ऐसी शक्ति समझता है जो एक तेज शिकारी कुत्ते की तरह स्मृति क्षेत्र पर ऐसे भावो की खोज मे दौड मारती है जिनके द्वारा वह अनुभूतियो को अच्छी तरह प्रदर्शित कर सके। महाकाव्य अथवा ऐतिहासिक काव्य मे कल्पना का काम रमणीय चरित्रो, कृत्यो, मनोवेगो, स्थायी भावो, और विचारो को प्रस्तुत करना है। इन सब चीजो का वर्णन कल्पना ऐसी उपयुक्त, सुस्पष्ट, और आलङ्कारिक भाषा मे करती है कि वह अनुपस्थित विषय को आँखो के सामने प्रकृति से भी अधिक सुन्दर और पूर्ण रूप मे ले आती है। बस, कल्पना की पहली क्रिया युक्ति, अथवा ठीक विचारो का पाना, दूसरी क्रिया तरङ्ग, अथवा मनोग्रहण अथवा पाये हुए विचारो को अवधारणा के निदर्शन मे विषय के अनुकुल ढालना, अथवा करना, तीसरी क्रिया वाग्मिता अथवा पाये हुए विचारो की उपयुक्त, सार्थ, और रूपान्तरित ध्वनिपूर्ण शब्दो मे व्यञ्जना। पहली क्रिया मे कल्पना की प्रशसा उसका तेजी के लिये होती है, दूसरी क्रिया मे उसकी प्रशसा उसकी सफलता के लिये होती है, और तीसरी क्रिया मे उसकी प्रशसा विशुद्धता के लिये होती है। प्राचीन कवियो मे ओविड युक्ति और तरङ्ग के लिये विख्यात है और वर्जिल वाग्मिता के लिये। एडीसन कल्पना का क्षेत्र दृश्य जगत ही मानता है। उसका कहना है कि कल्पना मे कोई ऐसी प्रतिमा नही आ सकती जो पहले दृष्टिगोचर न हुई हो। हा, कल्पना वास्तविक प्रतिमाओ को स्वतन्त्रता से एक दूसरी से अलग कर सकती है और मिला सकती है। ऐसे फूल जो भिन्न-भिन्न ऋतुओ और देशो मे आते है कल्पना अपने वर्णन मे एक ही ऋतु और देश मे प्रस्तुत कर सकती है। कल्पना ऐसे जीवो की सृष्टि कर सकती है जिनका शरीर भेड का, जिनका सिर शेर का, और जिनकी पूँछ अजगर की हो। किसी मनुष्य को दश सिर दे सकती है, किसी को चार। काल, देश, स्थिति, स्वभाव, यथार्थ सब का स्वच्छन्दता से उल्लङ्घन कर सकती है। कल्पना दो रूप मे आनन्द प्रदान करती है, अपरोक्ष रूप मे और परोक्ष रूप मे। अपरोक्ष कल्पना का आविर्भाव यथार्थ वस्तुओ की उपस्थिति मे होता है, जब हम विस्तृत मैदान, विपुल जलराशि और असख्य तारो से उद्दीप्त आकाश को देखते है तो हमारे हृदय मे आनन्द का उद्रेक होता है। इस आनन्द के उद्भवार्थ वस्तुओ मे बृहत्त्व, असाधारणता और विचित्रता होनी चाहिये। परोक्ष कल्पना का अविर्भाव यथार्थ वस्तुओ की अनुपस्थिति मे होता है। या तो पहले देखी हुई सुन्दर चीज़े ज्यो की त्यो अथवा भावना से परिवर्तित फिर स्मृति मानसिक दृष्टि के सम्मुख ले आये और या सुन्दर चीजो के चित्र कला द्वारा हमारी मानसिक दृष्टि के सम्मुख आये। पहले प्रकार के आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जीवन और प्रकृति का निरीक्षण आवश्यक है और दूसरे प्रकार के आनन्द के लिये मानसिक शिथिलता और कलात्मक सस्कृति की आवश्यकता है। ऊपर के दो विवरणो मे ड्राइडन तो कल्पना को स्मृति से सीमित करता है और एडीसन चक्षु इन्द्रिय से। इन मान्य सीमाओ के भीतर दोनो

कल्पना को पूरी स्वतन्त्रता देते हैं। परन्तु दोनो अनुभववादी है। न ड्राइडन और न एडीसन कल्पना को वह सर्वोच्च मानसिक शक्ति समझता है जो अपनी रचनात्मक वृत्ति मे तथ्य से उच्चतराधिकारिणी है और जो सवेदना से आये हुए भावो को सयोजित और सुघटित ही नही करती वरन उनका अपाकरण कर अनुभवातीत हो जती है। काण्ट ने कल्पना को अवराधिकारिणी माना है। वह इन्द्रियो द्वारा पाये हुए प्रदत्तो के अपूर्ण सश्लेषण को बुद्धि तक एक उच्चतर सश्लेषण के लिए भेजती है।

कल्पना का ठीक ठीक अर्थ रोमान्स के पुन प्रवर्तन मे हुआ। वर्ड्सवर्थ 'लिरीकल बैलैडस' के १८२५ ई० के सस्करण मे कल्पना की व्याख्या करता है। पहले वह एक होशियार अलोचक की इस व्याख्या की उपेक्षा करता है कि कल्पना इन्द्रियदत्त प्रतिभासो की मन मे प्रतिमा खीच देती है। उसका कहना है कि कल्पना जब उच्चतर भाव की द्योतक होती है तो उसका वाह्य अनुपस्थित पदार्थों की प्रतिमाओ से कोई सम्बन्ध नही होता है। कल्पना वह शक्ति है जिससे मन वाह्य पदार्थो पर और रचना और प्रणयन सामग्री पर काम करता है। वर्ड्सवर्थ अपना अभिप्राय कई दृष्टान्तो से स्पष्ट करता है। शेक्सपिअर 'किङ्ग लिअर' मे एक व्यवसायी को जो चट्टानो पर एक विशेष प्रकार के पौधे इकठ्ठा करता है, चित्रित करते समय उसे लटका हुआ कहता है। दूर से देखने मे यह मनुष्य वास्तव मे लटका हुआ लगेगा। लटका हुआ यह निरूपण इस प्रसङ्ग मे कल्पनात्मक है। इसी तरह मिल्टन जहाजो के एक बृहद बेडे को दूर से देख कर उसे बादलो से लटका हुआ कहता है। इस निरूपण मे कल्पना की मात्रा और भी अधिक है। पहले तो बेडे का बेडा ही एक व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत होता है। फिर क्योकि दूर समुद्र पर बादल और जहाजो के मस्तूल मिले दिखाई देते है, बेडा रूपी व्यक्ति बादलो से लटका हुआ लगता है। कल्पना की ऐसी प्रतिमाओ मे पदार्थो मे ऐसे गुण प्रविष्ट हो जाते है जो उनमे नहीं है, अथवा ऐसे गुणो का आरोप हो जाता है जो दूसरो मे है। कल्पना एक प्रतिमा पर ही क्रियाशील नही होती है, वरन प्रतिमाओ के समुच्चय पर भी। ऐसी सूरत मे एक प्रतिमा दूसरी प्रतिमा को परिवर्तित और सार्थ कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन के एक दूसरे स्थल मे बडी ऊँची चोटी पर कोई वृद्ध मनुष्य एक भारी पत्थर की तरह अचेत पडा दृष्टिगोचर होता है। ऐसा प्रतीत होती है कि वह पत्थर एक सामुद्रिक जीव और रेग कर किसी चट्टान की ताक मे थका, अचेत, धूप मे विश्राम कर रहा है इस उपमा मे उपमेय एक बुड्ढा आदमी है जो न जीवित प्रतीत होता है न मृत और न सुप्त। कवि की कल्पना पत्थर को सेन्द्रिय सामुद्रिक जीव की प्रतिमा मे बदल देती है और सामुद्रिक जीव अपने जीवित लक्षणो को दूर कर पत्थर वृत्ति धारण कर लेता है। यह सामुद्रिक जीव की मध्यस्थित प्रतिमा पत्थर की प्रतिमा को सादृश्य मे बुडढे आदमी की दशा से घटित कर देती है। कल्पना पदार्थों को परिवर्तित कर देती है। उन्हे नये व्यापार और गुण प्रदान कर देती हैं। यह ही नही, कल्पना निर्माता और स्रष्टा भी है। ऐसी क्रियाशीलता के उसके बहुत से ढङ्ग हैं परन्तु सबसे श्रेष्ट ढङ्ग यह है। वह सख्याओ का इकाई मे घनीकरण कर देती है और

इकाई का सख्याओ मे पृथक्करण कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन वाला स्थल जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके है उद्धृत करते है —

ऐज व्हेन फार ऑफ ऐट सी फ्लीट डेस्काइड
हैंग्ज इन द क्लाउडस, बाइ इक्वीनॉकशल विण्ड्स
क्लोज सेलिङ्ग फ्राम बेंगाला, ऑर द आइल्स
ऑफ टेर्नाट ऑफ टाइडोर, ह्वेन्स मर्चेण्टस ब्रिङ्ग
वेयर स्पाइसी ड्रग्स, दे ऑन द ट्रेडिङ्ग फ्लड
थ्रू द वाइड एथियोपियन टु द केप
प्लाई, स्टेमिङ्ग नाइटली, टु वार्ड द पोल, सो सीम्ड
फार ऑफ द फ्लाइग फीण्ड।[1]

यहाँ भागते हुए शैतान की प्रतिमा है। बेडा बहुत से जहाजो से बना है, अत सख्यक है, अर्थात् उसकी सख्या की जा सकती है। समुद्र पर तेजी से जाता हुआ बेडा भागते हुए शैतान के तुल्य है, इसलिये एक है। कल्पना की यह व्याख्या वर्ड्सवर्थ ने रचना-कौशल से परिमित रखी है। इससे आगे वह नही बढा। आगे बढना उसके मित्र कोलरिज का काम था, जिसने कल्पना को काव्य-प्रणयन का मूलतत्त्व सिद्ध कर दिखाया। कोलरिज बडा सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता था। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक प्रेरणा मे बहुत कम तत्ववेत्ता उसकी बराबरी कर सकते है। कोलरिज की प्रेरणा वर्ड्सवर्थ की एक कविता सुनने पर जागृत हुई। उस कविता मे एक विशेष गुण यह था कि उसके सुनते ही कोलरिज की भावना शक्ति और बुद्धि दोनो चेतनावस्था मे आई, उसे सौन्दर्य का ही प्रत्यक्षीकरण न हुआ, वरन सत्य का भी निश्चय हुआ। वह परिणाम भावो और प्रतिमाओ के मन माने ढङ्ग से एकत्रित करने मे नही सम्भव हो सकता था। जब उनका एकत्रीकरण वर्डसवर्थ जैसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा हुआ तभी उनमे हृदयस्पर्शता और सुबोधता के गुण आये। बस, कोलरिज को सूझ हुई कि वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा ऐसा परिणाम सम्भव है, कल्पना है। पुराने मनोवैज्ञानिको ने चेतना का विश्लेषण किया था और उन्हें चेतना मे ठण्डे, मृत, और कोरे सस्करो, प्रतिमाओ और प्रत्ययो के अतिरिक्त कुछ न मिला।

---

[1] As when far off at sea a fleet descried
Hangs in the clouds, by equinoctial winds
Close sailing from Bengala, or the isles
Of Ternate or Tidore, whence merchants bring
Their spicy drugs, they on the trading flood
Through the wide ethiopian to the Cape
ply, stemming nightly toward the Pole, so seemed,
Far off the flying fiend,

सस्कार प्रतिमा, प्रत्यय सब प्रकृति-जनित है। बहुत सी सवेदनाएँ मिल कर एक सार्थक दृश्य की उत्पत्ति करती है। उस सार्थकता का कोई पता पृथक्-पृथक् सवेदनाओ के विश्लेषण से नही चलता। चेतना मे सवेदना ही नही है, वरन् मन* भी है। चेतना दोनो का सश्लेषण है। अकेले तो न मन चेतना है और न सवेदना। विश्वचेतना ससीम और असीम का एकीकरण है। विश्वकल्पना उसका कारण है। ज्योही ब्रह्म प्रकृति मे विषयीकृत होता है त्योही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म का विषयीकरण वैसे ही निरन्तर है जैसे सूर्य का प्रकाश फेकना। इस प्रकार ससार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार है और जगत विषयीकृत ब्रह्म है। जैसा हम कह चुके है ब्रह्म और प्रकृति का सयोग कल्पना द्वारा होता है। ब्रह्म कल्पना वाह्य प्रकृति को ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित करती है और ब्रह्म का विषयीकरण सम्भव होता है। इस प्रकार विश्व ब्रह्म की कला है। बस मानव चेतना भी विश्वचेतन के अनुरूप है। जैसे ब्रह्म मन के सम्मुख ब्रह्मकल्पना वाह्य प्रकृति को उपस्थित करती है, वैसे, ही मानवमन के सम्मुख मानवकल्पना प्रकृति के उस क्षेत्र को जिसमे मानव-मन का व्यापार है, लाती है, और जैसे ब्रह्म का विषयीकरण हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का विषयीकरण हो जाता है। क्यो विषयीकरण होता है ? इसका कारण यही ज्ञात होता है कि मन और प्रकृति पहले से ही समस्वर है। विश्वा ब्रह्म का आत्मज्ञान है और मनुष्य का जगत् मनुष्य का आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान का कारण कल्पना है। इस कल्पना को कोलरिज प्रथमपदस्थ कल्पना कहता है। प्रथमपदस्थ कल्पना प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नही है। विश्व भगवान् का प्रत्यक्षीकरण है, मनुष्य का जगन् मनुष्य का प्रन्यक्षी-करण है। ब्रह्म के विचार विश्व मे प्रविष्ट है और विश्व पदार्थ उन्हे प्रतिबिम्बित करते है। उसी प्रकार मनुष्य के विचार मनुष्य जगत् मे प्रविष्ट है और मनुष्य के क्षेत्र मे उपस्थित पदार्थ उसके विचारो को प्रतिबिम्बित करते है। इस मत को कोलरिज ने अपनी 'ओड टू डिजैक्शन' मे व्यक्त किया है:—

ओ लेडी वी रिसीव बट ह्वाट वी गिव,
ऐण्ड इन अवर लाइफ एलोन डथ नेचर लिव।[१]

"हे देवी ! जगत हमारे जीवन मे ही जीवित है और हम जगत् से वही वापिस पाते है जिसे हम उसे प्रदान करते है।" परिमित प्रकृति जिसमे मनुष्य का व्यापार है उसकी चेतना को नियत पदार्थ अनुभव के लिए देती है। परन्तु सारी प्रकृति को मनुष्य ब्रह्म नही वरन ब्राह्म के विषयीकृत विचारो की नाईं देखता है। और यह

*** मन भारतीय मनोविज्ञान में इन्द्रिय है और प्रकृति से सम्बन्धित है। पश्चिम मे मन अर्थात् माइण्ड एक ऊँचे अर्थ मे प्रयोग किया जाता है, जिसके लिए हमारे यहाँ आत्मा अथवा पुरुष प्रयुक्त होता है। यहाँ मन उसी ऊँचे अर्थ में प्रयुक्त है।**

[१] O lady ! we receive but what we give.
And in our life alone doth nature live

इसी बात से सम्भव है कि ब्रह्म की बुद्धि और मनुष्य की बुद्धि मे साहचर्य है । एक तरह से प्रकृति मनुष्य के ऊपर आरोपित है और क्योकि मनुष्य की कल्पना ब्रह्म कल्पना की प्रतिनाद है, मनुष्य प्रकृति को अपने अनुरूप फिर उत्पादित करता है। अब प्रश्न उठता है कि कलाकार प्रकृति की कोरी नकल क्यो नही करता। उत्तर यही है कि कलाकार को ऐसी नकल वृथा की प्रतिद्वन्द्विता मालूम होती है। वह जानता है कि इस प्रतिद्वन्द्विता मे हार निश्चित है, क्योकि असल को नकल कैसे पहुँच सकती है अत कलाकार अपनी भावनानुसार प्रकृति का पुन सृजन करता है। इस पुन सृजन ही मे उसकी आत्मा को आनन्द मिलता है। पुन सृजन से मतलब यही है कि जगत से चेतना मे आये हुए तत्त्वो का कलाकार अपनी भावनानुसार एकीकरण करता है। कोलरिज के इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा विभिन्न तत्त्वो का एकीकरण होता है।

वर्तमान शताब्दी मे आई० ए० रिचार्डज कोलिरिज का भारी पोषक है। उसने पहले कल्पना के वे छ अर्थ दिये है जो आलोचनात्मक वादविवाद मे प्रचलित है। पहले अर्थ मे कल्पना चाक्षुष सुस्पष्ट प्रतिमाओ की उत्पादक मानी जाती है। दूसरे अर्थ मे कल्पना सालङ्कार भाषा के प्रयोग से सम्बद्ध है। जो साहित्यकार रूपको और उपमाओ से अपने भाव व्यक्त करते है कल्पनाशील कहलाने है। तीसरे अर्थ मे वह लेखक अथवा पाठक कल्पनाशील कहलाता है जो दूसरे मनुष्यो की चित्तावस्थाओ को, विशेषतया दूसरो के मनोवेगो को, सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत कर सकता है। चौथे अर्थ मे कल्पना युक्तिकौशल की द्योतक है। इस अर्थ मे जो व्यक्ति ऐमे तत्त्वो को जो सामान्यत एक दूसरे से नही मिलाये जाते है मिला देता है कल्पनाशील कहलाता है। कल्पना का पाँचवाँ अर्थ वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक सामान्यत असदृश वस्तुओ मे सङ्गत सम्बन्ध दिखा देता है। इस क्रिया मे कल्पना अनुभव को निर्णीत ढङ्गो मे निर्णीत उद्देश्यो के लिए व्यवस्थित करती है। रचना-कौशल के उत्कृष्ट उदाहरण भी कल्पना के चमत्कार हैं। छठे अर्थ मे कल्पना वह मायिक और सयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणो के सन्तुलन मे प्रकट होती है। कल्पना की यही परिभाषा आलोचना को कोलिरिज की सर्वोच्च देन है। जैसे जगत् के नानाविधत्व का आधार एक भगवान् है उसी प्रकार नानाविधि अनुभव के एकत्व का आधार कवि है। इसी कारण आई० ए० रिचार्डज़ करुण नाटक को उत्कृष्ट कविता मानता है क्योकि करुण मे विपरीत अनुभवो का एकीकरण होता है। करुण हमारी करुणा और भय की प्रवृतियो को जागृत करता है। करुणा समीप आने की प्रवृत्ति है और भय भगने की प्रवृत्ति है। इस प्रकार दोनो प्रवृतियाँ एक दूसरे वे विपरीत है। करुण ऐसी विपरीत प्रवृतियो को एक ही कृति के अनुभव मे उपस्थित करता है, इसलिये वह श्रेष्टतम काव्य है। जीवन कला मे भी सर्वोच्च व्यक्ति वही है जिसे सुख और दुख, विफलता और सफलता, जीवन और मृत्यु सब एक समान ग्रहणीय है । क्योकि शेक्सपिअर अपने नाटकीय ससार मे अपने पात्रो द्वारा ऐसी प्रवृत्ति दिखता है, इसलिए वह सर्वोच्च कवि है। आजकल की अलोचना मे कल्पना को कोई स्वतन्त्र मानसिक शक्ति नही

माना जाता है। उसे मन के अनुकलन से सम्बद्ध किया जाता है। नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख (प्रीकौन्शस) मन से उन प्रतिमाओ को निकाल कर अपने स्तर पर ले आता है जो उसमे दबी पडी रहती है। जैसे रात को आकाश की ओर सामान्य दृष्टि से देखने से बहुत दूर के तारे नही दीख पडते, परन्तु जब गौर से देखते है तो दीख पडते हैं, इसी प्रकार चेतनोन्मुख मन मे पड़ी हुई प्रतिमाएँ चेतन मन के सङ्केन्द्रण से चेतना मे आ जाती है। एक प्रसिद्ध आलोचक कल्पना को आध्यात्मिक सवेदना कहता है। आध्यात्मिक सवेदना मे मनुष्य का सारा अस्तित्व सम्मिलित होता है। ऐसी आध्यात्मिक स्वेदना शारीरिक भी होती है, अन्तर्वेगीय भी होती है, और प्रज्ञात्मक भी होती है। इस विचार से वही कवि कल्पनाशील कहा जायगा जो अपनी मानसिक क्रिया अधिक से अधिक मात्रा मे तीव्र कर सकता है। कुछ तत्ववेत्ता कल्पना को नियन्त्रित मन मानते है। उनका विचार है कि मन वस्तुत सङ्कल्पात्मक है। कलात्मक प्रवृत्ति मन को सङ्कल्प के विषय की ओर बढने से रोकती है और सम्बद्ध मनोवेग को पूरे चेतना क्षेत्र और परिस्थिति स्थल पर फैला देती है। इस क्रिया मे मनोवेग की तीव्रता कम हो जाती है परन्तु उसके विस्तार की वृद्धि हो जाती है और वह मन पर नियन्त्रण स्थापित करने की जगह स्वय मन के नियन्त्रण मे आ जाती है। इसी अवस्था मे कल्पना की जागृति होती है और मन ध्यानशील हो जाता है। ध्यानशीलता की अवस्था मे वस्तुस्थिति के उस वास्तविक रूप की मन को सूझ हो जाती है, जिसके द्वारा उसका रहस्य स्पष्ट हो जाता है मन की यही क्रियाशीलता जो उसकी सङ्कल्पात्मक वृति के निरोध से निष्पन्न होती है कल्पनात्मक है।

हरमैन टर्क एक जर्मन तत्ववेत्ता और आलोचक अपनी कृति 'द मैन ऑफ जीनियस' मे हैम्लेट के स्वभाव का विश्लेषण करता है। वह उसकी अकर्मण्यता के दो कारण देता है, एक तो उसका विषयीकरण, और दूसरा उसकी निस्वार्थता। हैम्लेट तत्वत आदर्शवादी पुरुष है। उसका आदर्शवाद रूढिबद्ध नैनिकता मे परे है। उसका मन घटनाओ से एक दम उस (यूनीफॉर्म) एकरूप नियम पर पहुँच जाता है जो उनको स्पष्ट करता है। किसी वस्तु का भाव, किस प्रकार उस वस्तु का अस्तित्त्व है, कैसे उनके सब अङ्गो मे साधर्म्य है— इन्ही बातो के चिन्तन मे उसके मन को सुख मिलता है। हैम्लैट प्रतिभाशाली पुरुष की तरह अपनी वाह्य परिस्थिति से तादात्म्य अनुभव करने मे लीन हो जाता है। उसे निश्चय है कि क्लॉडिअस दुष्ट है। परन्तु वह देखता है कि राजदरबारी लोग जिस प्रगाढ भक्ति से उसके महानुभाव पिता से प्रेम करते थे, उसी प्रगाढ भक्ति से वे उसके दुष्ट चचा से प्रेम करते है। बस उसे दृढ विश्वास हो जाता है कि डेनमार्क का पूरा नैतिक पतन हो चला है और उस राष्ट्र मे अब कोई व्यक्ति दोष और अपचार से रहित नही है। अतएव वह सोचने लगता है कि यदि वह अपने व्यभिचारी चचा को मार भी डाले तो क्या ससार सामाजिक व्यवहार मे उतना उन्नत हो जायगा जितना वह उसके मन को वाञ्छनीय है? निराश होकर वह यही निर्णय करता है कि क्लॉडिअस के प्रति उसकी प्रतिशोध की भावना व्यर्थ है। क्लॉडिअस की मृत्यु के पश्चात भी ससार उतना ही अधम, अनीतिमय, और विषयासक्त

होगा जितना अब है। हेम्लैट प्रतिशोध के धर्म को व्यक्तिगत औचित्य के रूप मे नही देखता। वह निस्स्वार्थ हो जाता है। निस्स्वार्थता मनुष्य को अपने व्यावहारिक व्यक्तित्व से ऊपर उठा लेती है। वही प्रतिभा का सार है। प्रतिभा दृष्टिगत पदार्थ से तादात्म्य स्थापित करने की मानसिक वृत्ति है। प्रेम प्रतिभा का रहस्य है। हरमैन टक प्रतिभा और प्रेम को एक ही समझता है। जिस वस्तु से हमारा प्रेम होता है उसका ध्यान हम अपनी पूरी मानसिक शक्ति से करते है। मन का कोई भाग वस्तु के ध्यान से बाहर नही रहता। इसीसे हमे प्रेम वस्तु का पूर्ण स्वरूप दिखाता है। प्रेम वस्तु की उस स्थिति का ज्ञान देता है जिसमे उसके अस्तित्व की सब दशाएँ उपस्थित होती है। प्रेम बाह्य अनुकरण नही करता बल्कि मौलिक रचना करता है। प्रेम कलात्मक सहजज्ञान का स्रोत है। जो रहस्य हैम्लेट की प्रतिभा का है वही रहस्य शेक्सपिअर की प्रतिभा का भी है। मिडिल्टन मरे ने शेक्सपिअर की प्रतिभा का विश्लेषण किया है। शेक्सपिअर अहङ्कारी पुरुष नही था। अपनी अधिकाश क्रियाओ मे, विशेषतया कलात्मक क्रिया मे उसका समग्र व्यक्तित्व काम करता था। उसकी कविता समग्र मनुष्य के उद्गार है, उनके नाटक जीवन भूतियो और जीवनदर्शो के वास्तविक रूपो पर अवस्थित है, और उसके बिना चेतन प्रयास के उसकी कविता और उसका नाटक उसकी कृतियो मे सम्मिश्रित हो जाते है। जिस अवस्था मे शेक्सपिअर ने यह पूर्णता पाई, उसे मिडिल्टन मरे आत्मविस्मृति कहता है। ब्लेक इस अवस्था को अन्तःकरण की निर्दोषता (यर्मस) कहता है। जैसे ही बच्चा पैदा होता है, उसका मन अविभाजित होता है। उसके मन मे अन्तर्वेग और प्रज्ञा का विभेद नही होता। वह जीवन का अनुभव अविभक्त मन से करता है। निर्दोषता की यह पहली अवस्था है। जैसे ही बच्चा आयु पाता है, उसका मन अन्तर्वेग और प्रज्ञा मे विभक्त हो जाता है। वह आत्मज्ञ हो जाता है। इस अवस्था मे उत्कृष्ट कला असम्भव है। यदि कवि मे अन्तर्वेग प्रधान होता है, तो उसका झुकाव वाग्विलास की ओर होत है, यदि उसमे प्रज्ञा प्रधान होती है, तो उसका झुकाव अनुपयुक्त और अस्वाभाविक रूपको की ओर होता है, और दोनो अवस्थाएं काव्यात्मक सिद्धि की बाधक है। यदि कवि का झुकाव जीवन के सर्वाङ्ग बोध की ओर है, तो वह विभक्त मन की अवस्था के पश्चात् उस अवस्था को प्राप्त होता है जिसमे अन्तर्वेग और प्रज्ञा का द्वन्द्व मिट जाता है, अन्तर्वेग और प्रज्ञा दोनो उस जीवन के अधीन हो जाते है, जिनमे से उनके द्वन्द्व का आविर्भाव हुआ था। इस अवस्था मे कवि अनात्मज्ञ हो जाता है। इसी अवस्था मे उत्कृष्ट कला की सृष्टि होती है। कारण यह है कि बिना आत्म-विराम के कलाकार अपने अनुभव के विषय से अपना समीकरण नही कर सकता और बिना ऐसे समीकरण के वह उस आदर्श सत्य तक नही पहुँच सकता जिसकी अभिव्यक्ति वह अपनी कला मे करता है। इस प्रसङ्ग मे टी० एस० इलियट का कथन उपयुक्त है। वह अपने निबन्ध 'ट्रैडीशन एण्ड इण्डीविजुअल टैलैण्ट' मे कहता है कि कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्मोत्सर्ग अथवा पूर्णात्मावसान मे ही है। प्रेम, अथवा विषयीकरण, अथवा आत्मविस्मरण, अथवा आत्मोत्सृजन की प्रक्रिया उस आवरण को हटा देती है जिसे जीवन की व्यावहारिक प्रतिक्रियाएँ बनाती है। जैसे ही यह आवरण हटता है, असली व्यक्तित्व

साक्षात होता है। जैसे स्वस्थ नैतिकता चरित्र रूढिगत नैतिक के बहिष्कार से प्राप्त होता है, जैसे उच्चतम शैली शैली से उदासीन होकर विषय मे रत होने से प्राप्त होती है, उसी तरह पवित्रतम व्यक्तित्व व्यावहारिक आत्मा के परित्याग मे प्राप्त होता है, यह पवित्रतम व्यक्तित्व जिसकी प्राप्ति आत्मोत्सृजन से होती है कलात्मक रचना का मूलोद्गम है।

आलोचना मे व्यक्तित्व का रचनात्मक व्यापार तभी से मान्य हुआ जब से आलोचको की प्रवृत्ति रचना को रचनात्मक मन से सम्बद्ध करने की हुई। व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति द्वारा मानसिक प्रक्रियाओ की व्यवस्थिति से होती है। व्यवस्थिति सङ्गत होनी है। परन्तु इस व्यवस्थिति मे वह सङ्गति नही होती जो चरित्र (कैरेक्टर) से व्यवस्थिति मानसिक प्रक्रियाओ मे होती है। चरित्रवान पुरुष कोई आदर्श चुन लेता है और अपनी मानसिक क्रिआओ को उसी से नियमित करता है। वह ऐसे मनोवेगो की तृप्ति चाहता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति मे सहायक होते है और ऐसे मनोवेगो का निषेध करता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति मे बाधक होते है। वह अपने आदर्श से पूर्णतया शासित होता है। वह अपने व्यवहार पर ऐसी कडी नजर रखता है कि ऐसे समाज मे भी जहाँ चरित्रभ्रष्ट होने का डर हो सकता है। अपनी आदशनिष्ठा दृढ रखता है। स्पष्ट हे कि उसकी मानसिक व्यवस्था स्वतन्त्रा मौलिक विचारो पर आधारित नही होती, वरन् उसकी मानसिक व्यवस्था का आधार कोई वाह्य प्रमाण होता है। उसी का वह कट्टर अनुयायी होता है। व्यक्तित्व से जो मानसिक व्यवस्था होती है वह अन्तर्जात होती हे। वह मनुष्य की अपनी सवेदनाओ पर आधारित होती है। व्यक्तित्व को वाह्य प्रमाणो का शासन मान्य नही हे। वह किसी तरह का निषेध नही करता। वह अपनी मूलप्रवृत्तियो, अपने अन्तर्वेगो और विचारो को पूरी स्वतन्त्रता देता है। स्वतन्त्र मानसिक क्रियाओ से उसके मानसिक जीवन मे गत्यात्मकता आ जाती है। इस गत्यात्मकता की दिशा उसके मानसिक जीवन के इतिहास से निर्दिष्ट होती हे। फ्रास के निबन्धकार मौनटेन ने साहित्यिक मनोरञ्जन के लिए बडा सुन्दर व्यक्तित्व विकसित किया था। जिस रीति से वह काम करता था उसका वर्णन उसने यो किया है "जो कुछ मै करता हूँ, सम्पूर्णता से करता हूँ, स्वभाववश करता हूँ, और उसे एक क्रिया रूप मे करता हूँ, मै कभी कोई ऐसी क्रिया नही करता जो मेरी बुद्धि से निर्दिष्ट न हो और जिसके करने मे मेरी सारी शक्तियाँ बिना विभाजन अथवा अन्तर्द्रोह के सम्मत न हो।" ऐसे मनुष्य का मानसिक जीवन समृद्ध होती है। प्रत्येक नई स्थित उसे एक नया दृष्टिकोण सुझती है और वह उसे ग्रहण करने को तैयार होता है। फर्नेण्डेज के कथनानुसार आदर्श व्यक्तित्व उस मनुष्य का माना जायगा जो अपना अस्तित्व अपने विचारो की प्रगति के अनुरूप कर लेता है और जिसके विचार विश्व के पूर्णतया समस्वर हैं। व्यक्तित्ववान मनुष्य अनुभव की निरन्तरता मे विश्वास रखता है। जीवन की और जीवित रहने की इच्छा ही उसका परमधर्म है। कलाकार चरित्रवान नही वरन व्यक्तित्व सपन्न मनुष्य होता है। कलात्मक वृत्ति के विषय मे कीट्स ने सत्य कहा है कि कुछ रासायनिक द्रव्यो को नाई प्रतिभाशाली पुरुष महान् होते है। वे तटस्थ प्रज्ञा के स्तर पर क्रियाशाली होते हैं। परन्तु कोई

वैशिष्ट्य नही होता । वे कोई निर्णीत चरित्र नही रखते । व्यक्तित्ववान् मनुष्य ही शक्तिशाली कहे जा सकते है ।

कलात्मक व्यक्तित्व के उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त प्लैटो और पेटर के निरूपण भी बडे उपदेशक है । प्लैटो का कवि वह ज्ञानी पुरुष है जिसने दस हजार वर्ष तक जन्मजन्मान्तर आध्यात्मिक शास्त्र का मनन किया हो और जिसकी वृत्ति सदा ध्यानशील रही हो । ऐसा मनुष्य ससार के सब भावो और विचारो का अलौकिक मूल स्वरूप जान जाता है । जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तभी ग्रहणीय काव्य का उत्पादन कर सकता है । पेटर ने अपने 'मैरिअस दि एपीक्यूरिअन' मे कलात्मक व्यक्तित्व निरूपण का मैरिअस के जीवन द्वारा किया है । मैरिअस जीवन ही को कला मानता है । वह उस अवस्था को पहुँच गया है जिसमे जीवन और मूल्य (वेल्यू) एक हे, जिसमे जीवन के साधनो और जीवन के उद्देश्यो का भी समीकरण हो गया है । उसन यौवनकाल मे काव्य और दर्शन का इस अभिप्राय से अध्ययन किया कि उस शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति हो । जेसे सूय के स्वच्छ प्रकाश मे और वस्तुओ का ठीक रूप दीख पडता हे, वेसे उसने शुद्ध बुद्धि की उज्ज्वल रोशनी मे ससार का सत्य रूप देखना चाहा । स्टोइको के जितेन्द्रियवाद और प्लटो के आदर्शवाद का प्रभाव तो उस पर शुरू मे पडा ही था, पीछे स वह हैरैक्लीटस के 'अनन्त विक्रिया' (पर पैचुअल फ्लक्स) के सिद्धान्त से, प्रोटेगोरस के 'मनुष्य ही सब वस्तुओ का माप है' इस सिद्धान्त से, और अरिस्टिप्पस के 'वस्तुए केवल छाया हे' इस सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुआ । एक सिद्धान्त को दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा देखने के पश्चात् वह इस निष्कष पर पहुँचा कि जीवन कला का अनुभवी पहले सिद्धान्तो के अनियत शासन से अपने को मुक्त करे । फिर सरलचित से चिन्तनशील होकर व्यक्तित्व को जीवन के अनुभवो से समृद्ध करे । कलाकार के लिए ठीक यही अनुशासन हे और यही अनुशासन आलोचक के लिये हे । आलोचक भी अपने को स्वमतासक्ति और रूढिगत विचार प्रणाली से मुक्त कर नवीन मतो और नवीन अभिव्यक्ति प्रणालियो को खुले चित्त से ग्रहण करे ।

प्लैटो और पेटर का यह उल्लेख भारतीय मत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है । भारत मे प्राचीन काल से ही जीवन कला की ओर ध्यान आकर्षित रहा है । साख्यो के अनुसार निर्गुण पुरुष का त्रिगुणात्मक प्रकृति दपण है । त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार ही हमारी बुद्धि है । इस तरह बुद्धि पुरुष का दर्पण है । जब यह दर्पण साफ हो जाता है, अर्थात् जब बुद्धि सात्विक हो जाती है, तब पुरुष को अपना सात्विक रूप दीखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि वह प्रकृति से भिन्न है । बोध होते ही वह प्रकृतिजन्य रागो से छुटकारा पा जाता है । पुरुष की इसी नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक स्थिति को मोक्ष कहते है । वेदान्त के अनुसार यही गति आत्मनिष्ठ मनुष्य को प्राप्त होती है । जिस मनुष्य के मन मे ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का साक्षात्कार नित्य जागृत है वह ब्रह्म रूप है और नित्य ब्रह्मभूत ही रहता है । ऐसा मनुष्य किसी कर्म मे आसक्ति, काम, सङ्ग, राग अथवा प्रीति नहीं रखता और वह जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त होता है । मुक्ति का अर्थ देहपात अर्थात् कर्म

से निवृत्ति नही है। ज्ञानी पुरुष ज्ञानोत्तर भी अपने अधिकारानुसार धैर्य और उत्साह से किन्तु सम और शुद्ध बुद्धि से, बिना फलाशा, लोकसग्रह के निमित्त बराबर काम करते रहते है। ज्ञानमय कर्म ही उनका इतिकर्तव्य है। वे शुद्व जीवन के आदर्श है और दूसरे मनुष्यो के पथप्रदर्शक है। ऐमे मनुष्यो का अभाव ससार को उतसन्न कर देगा। श्रीकृष्ण ने निर्विषयता से काम करने वाले मनुष्यो का उदाहरण अपने अतिरिक्त जनक का दिया है। मिथिला के जल जाने पर भी जनक शान्त चित्त रहे और निस्करण बुद्धि से देव, पितर, सर्वभूत, और अतिथियो के लिये समस्त व्यवहार करते रहे। बस, यही व्यक्तित्व उत्कृष्ट कलाकार का है। कलाकार भी ससार के राग-द्वेषो से मुक्त हो सत्यनिष्ठा से अपने जीवनव्यापार मे गतिशील होते है और अपनी कला और अपने जीवन द्वारा लोक-कल्याण करते है।

भारतीय मत से कवित्व जन्मसिद्ध है। प्रकृति ऐसे मनुष्य भी रचती है जो स्वभाव से ही आह्लादित होते है और आह्लाद के उद्रेक मे हृदय मे काव्य-प्रकाश की अनुभूति करते है। कभी-कभी कवित्व दैविक शक्ति की देन होती है। कालिदास ने कवितार्थं काली की उपासना की और उसे अकस्मात् ज्ञान और कविता की प्राप्ति हुई। वेदान्ताचार्य ने अपनी काव्यशक्ति हयग्रीव से पाई। ब्राह्मणग्रन्थो मे सरस्वती वाग्देवी मानी गई है, और उसकी उपासना कवियो के लिये एक साधारण-सी बात रही है। पश्चिम मे भी कलादेवियो मे विश्वास रहा है। उनका आह्वान तथा उनकी उपासना पुराने कवियो मे अधिकतर पाई जाती है।

आजकल के बहुत से पाश्चात्य कलामीमासक उदाहरणार्थ, क्रोचे, भाषाविज्ञान और कलामीमासा को एकरूप समझते है। दोनो ही का उद्देश्य अभिव्यक्ति है, इसे मानते हुए पाणिनि का एक कथन शब्दोच्चारण के विषय मे उपयुक्त है। अभिव्यक्ति के लिये शब्द यो प्रेरित होता है—"पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातो का आकलन करके मन मे बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है, और जब मन कामाग्नि को उकसाता है तब कामाग्नि वायु को प्रेरित करती है, तदनन्तर वह वायु छाती मे प्रवेश करके मन्द स्वर उत्पन्न करती है।" यहाँ अभिव्यञ्जना का स्रोत मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि है। अग्रेजी कवि ब्लेक भी उत्साह का उपासक था। वह कहा करता था कि उत्साह ही शाश्वत आह्लाद है और काव्यसृजन का हेतु है। मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि— इन्ही शब्दो मे भारतीय मतानुसार कवित्व का सार है। मन सङ्कल्पात्मक है और बुद्धि का निर्णय पाकर उस उत्साह का उत्पादक है जिससे रचना सम्भव होती है। उपनिषदो मे वर्णन है कि विश्व की सृष्टि भी मूल परमात्मा की बुद्धि या बुद्ध-जनित इच्छा से हुई। हमे अनेक होना चाहिये, बस परमात्मा की यह इच्छा होते ही सृष्टि उत्पन्न हुई। सांख्य ने भी अव्यक्त प्रकृति अपनी साम्यावस्था को भङ्ग कर सृष्टि की उत्पत्ति का निश्चय पहले ही कर लेती है। बुद्धिजनित इच्छा की प्रवर्तकता की व्याख्या यो है कि मन मे युगपत्ज्ञान की क्षमता है और उसके तीन व्यापार इच्छा, भावना और बोध मे से बोध

ही मूल व्यापार है। उसी से भावना और इच्छा आती है। यही बात पाणिनि के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। कलात्मक क्रियाशीलता मे बुद्धि का प्रथम स्थान है। प्रतिभा उसकी एक विशेष गति है और कल्पना उसका एक अङ्ग है। कलात्मक रचना मे कल्पना प्रतिभा के नियन्त्रण मे काम करती है। कल्पना का व्यापार ज्ञात वस्तुओ का अज्ञात ढङ्ग से निरूपण करना है, और इसीलिये वह भ्रामक है। मायावश कल्पना की ऐसी इच्छा होती है, जिससे आत्मा मायाकृत शरीर से अनुबद्ध रहती आये। दूसरी बात यह भी है कि कल्पना को अपने इस व्यापार मे नैसर्गिक आनन्द की अनुभूति होती है। ज्ञात वस्तुओ को अज्ञात ढङ्ग से रखने मे कल्पनात्मक रचना अनर्गल हो सकती है। इस अनर्गलता से उसे प्रतिभा, जिसे सत्य का निदर्शन आत्मा से मिलता है, रोकती है। इसी से कविता के दो भेद हो जाते है—एक तो ऐसी जिसमे कल्पना सत्य से न हिले और जो आत्मा को आनन्द दे, और दूसरी ऐसी जिसमै कल्पना अनर्गल हो जाय और मन को मायावी सुख दे। 'श्रीमद्भागवत' और 'गीता' पहले प्रकार की कविता के उदाहरण है और आजकल की बहुत-सी पद्यात्मक रचनाएँ दूसरी तरह की कविता के उदाहरण है। इस व्याख्या से सिद्ध है कि भारतीय विचार बुद्धि अथवा बुद्धिजनित इच्छा को रचनात्मक शक्ति मानता है।

राजशेखर की 'काव्यमीमासा' मे भी काव्य की उत्पत्ति का ऐसा ही विवरण है। काव्य का हेतु शक्ति है जो समाधि और अभ्यास से उद्भाषित होती है। समाधि है मन की एकाग्रता और अभ्यास है फिर-फिर एक ही क्रिया का अवलम्बन। इन दोनो साधनो से प्राप्त शक्ति ही, जैसा मम्मट भी कहता है, "कवित्त्ववीजरूपसस्कारविशेष', काव्यरचना को सम्भव करती है। इस शक्ति का सञ्चार प्रतिभा और व्युत्पत्ति द्वारा होता है। प्रतिभा से उपयुक्त अभिव्यञ्जना सहित विषय हृदय मे उद्भूत होता है, और व्ययुत्पति से उचित-अनुचित का विवेक होता है। इन दोनो मे प्रतिभा को प्रधान माना गया है, क्योकि उसके द्वारा व्युत्पत्ति के अभाव से आये हुए दोष ढँक जाते है। प्रतिभावान पुरुष का ज्ञान सुस्पष्ट होता है। वह अदृष्ट और अदृश्य वस्तुओ को भी इस प्रकार वर्णित करता है मानो वह बडे निकट से उनका साक्षी रहा हो। प्रतिभावान् कवि की कल्पना अपना आधिपत्य पाठक के मन पर जमा देती है। पाठक को कभी यह जागृति नही होती कि कवि जो कुछ वर्णन करता है वह मनुष्य के अनुभव से बाहर है। अंग्रेजी पाठको के सामसे एकदम मिल्टन का उदाहरण आ जाता है कि कितने कौशल से मिल्टन ने स्वर्ग मे फरिस्तो के दोनो दलो की लडाई का वर्णन किया है और कितने कौशल से उसने शैतान और उसके साथियो के भाषण नर्क मे कल्पित किये है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्य की रचना कराती है और भावयित्री प्रतिभा काव्य का बोध कराती है। कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या, औपदेशिकी। "डॉक्टर गङ्गानाथ झा ने अपने 'कविरहस्य' मे इनकी व्याख्या इस तरह की है—'पूर्वजन्म के सस्कार से जो (प्रतिभा) प्राप्त हो सो सहजा अथवा स्वाभाविकी है। इस जन्म के सस्कार से जो प्राप्त

हो सो आहार्या अथवा अर्जिता है। मन्त्र एव शास्त्र आदि के उपदेश से जो प्राप्त हो सो औपदेशिका अथवा उपदेशप्राप्त है।" इन्ही के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते है, सारस्वत, आयासिक और औपदेशिक। इनकी व्याख्या डॉक्टर गङ्गानाथ झा ने ऐसे की है--'जन्मान्तरीय सस्कार से जिसकी सरस्वी प्रवृत्त हुई है, वह बुद्धिमान् सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भाषित हुई है, वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्य रचना केवल उपदेश के सहारे होती है, वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" काव्य की उत्पति का यह विवरण प्रज्ञा और अन्तरवोध पर आधारित है। जर्मन तत्त्ववेत्ता शैलिङ्ग को, प्लैल्टो, प्लॉटीनस, सेण्ट ऑगस्टिन और दूसरे गूढतत्त्व- द्रष्टाओ की तरह, एक ऐसी मानसिक शक्ति का भान हुआ था जिसके द्वारा अनन्त की प्रकृतिनिष्ठ सूझ हो सके•। इसका नाम उसने प्राज्ञअन्तरवोध (इण्टिलैकचुअल इण्टयूशन) रखा था। यही शक्ति इस विवरण मे काव्यरचना का आधार है क्योकि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो का सम्मिश्रण और प्रज्ञा अन्तरवबोध के सम्श्रिण के ममान है। इस विवरण की सत्यता सभी को मान्य है ।

कलात्मक रचना का स्रोत व्यक्तित्व है। यह बात उल्लिखित मतो से स्पष्ट है। व्यक्तित्व ही जीवन वस्तु को कलारूप मे परिणत करता है। व्यक्तित्व मे बुद्धि का समावेश है। कल्पना बुद्धि का अङ्ग है ही और वह जब पूर्णतया क्रियाशील होती है तब व्यक्तित्व महान् दक्षता से काम करता है। हम कल्पना अपने सारे अस्तित्व से करते है। कल्पना करते समय शरीर का कोई अङ्ग असहयोग मे नही होता। यही बात मनोविश्लेषणात्मक गवेषणा से उपलक्षित है जो कल्पना को पूर्व चेतना से सम्बन्धित करती है। जैसे टकटकी लगा कर देखने से रात्रि मे अदृश्य तारे दिखाई देने लगते है, वैसे पूर्ण शक्ति और उत्साह से मन के काम करने से निहित प्रनिमाएँ चेतना मे आ जाती है। भावनामय अनुकरण भी—ठेठ अनुकरण तो कलात्मक है ही नही—कल्पना से सम्वद्ध है। भावना मे कल्पना जागृत होती ही है। बुद्धि, वैदग्ध्य, और रुचि नवशास्त्रीय काल के पाखण्डमत थे जिनका खण्डन साहित्य के विकास और कला मीमासा के नये अनुसन्धानो से हुआ। वैदग्ध्य, चाहे अनर्गल रचना के अर्थ मे, चाहे श्लेषोक्ति और वाग्विदग्धता के अर्थ मे, और चाहे उपयुक्त अभिव्यञ्जना के अर्थ मे हो, रचना कौशल से सम्बद्ध हैं। रुचि जब व्यक्तिगत सवेदनशीलता की द्योतक होती है तो व्यक्तित्व की क्रियाशीलता के अतिरिक्त कोई और वस्तु नही।

२

रचनात्मक प्रक्रिया की समीक्षा यह है। पहले, वाह्यजगत् और अन्तर्जगत् का निरीक्षण होता है। कवि मे असाधारण भावग्राह्यता होती है। ससार की सस्मत सम्पत्ति जो उसे भीतर अपने मन मे मिलती है और वह सब जिसे प्रकृति उसके सम्मुख उपस्थित करती है, उसके अनुभवार्थ है। वह ससार का निरीक्षण वासनारहित मन से करता है। किसी प्रकार

का कोई दृढनिविष्ट दुराग्रह अथवा पक्षपात उसकी दृष्टि को विकृत नही करता। दूसरे, चिन्तन होता है। कवि अनुभव के प्रदत्तो से किसी वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण नही करता और न उन्हे ऐतिहासिक वृत्ति से वर्णनार्थ एकत्रित करता है। कवि की आँखे चिन्तनशील निष्क्रिय मे अनुभव के विषयो पर पडती है और वे उसके लिये सार्थक हो जाते है। तीसरे, अन्त स्फूर्ति की अवस्था आती है। इस अवस्था मे ध्यानशक्ति घनत्व पाती है और कवि को अन्तर्वेगीय उत्कर्षण की अनुभूति होती हे। इसी उत्कर्षण की दशा मे मन के गम्भीरतम स्तरो से प्रतिमाएँ निकल पडती है और तुरन्त ही मूल्य ग्रहण करके सार्थक समुदायो मे विभक्त हो जाती है और सजीव रूपो के वास्तविक समार की नकल करने लगती है। इस अवस्था के अन्त मे कवि का अनुभव उसकी मानसिक दृष्टि के सम्मुख नैसर्गिक व्यवस्था मे उपस्थित होता है। यही आन्तरिक अभिव्यक्ति है, जिसका रचनात्मक प्रक्रिया मे चौथा पद है। अन्त मे, कवि अपनी अन्तरवबोधशक्ति द्वारा उपयुक्त शब्दो और लयो के रूप मे ऐसे प्रतीक ढूँढता है जो अपनी सार्थकता और ध्वनि से कवि के व्यवस्थित आन्तरिक अनुभव (इन्टर्नल एक्सपीरियेन्स) का प्रकाशन करते है। यही वाह्य अभिव्यक्ति है। इटली का आधुनिक कलामीमासक क्रोचे आन्तरिक अभिव्यक्ति ही पर ठहर जाता है। वह कहता है कि जैसे ही कलाकार अपने अनुभव के तत्त्वो का एकीकरण कर लेता है, वैसे ही उसका काम समाप्त हो जाता है। वाह्य अभिव्यक्ति तो केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिये है, उसके द्वारा कवि अपने अनुभव को अपने और दूसरो लिये चिरकाल तक सुरक्षित रखता है। वाह्य अभिव्यक्ति का कलात्मक उत्पादन से कोई सम्बन्ध नही। परन्तु क्रोचे का यह मत असमर्थनीय है। कलाओ का अस्तित्व ही आन्तरिक अनुभव को वाह्य रूप देने की मूल प्रवृत्ति मे है।

मनोविश्लेषण ने कलात्मक रचना पर बडा प्रकाश डाला है। जो कुछ डार्विन ने भौतिक व्यापारो के सम्बन्ध मे किया, वही फ्रायड ने मानसिक व्यापारो के सम्बन्ध मे किया। उत्क्रान्तिवाद ने यह बताया कि जीवन की विभिन्नता और उसका विकास किस प्रकार हुआ, तो गत्यात्मक अचेतन के प्रत्यय ने स्वच्छन्द कल्पना की अनियन्त्रित उडान और मन की गूढतम अभिलाषाओ का हेतुसिद्ध विवरण दिया। मनोविश्लेषण इस बात को स्पप्ट करता है कि कलात्मक प्रोत्साहना जीवन के गहन स्तगे से उठती है और गहन स्तरो मे पडी हुई प्रतिमाओ को सुलझाने का एक विशेष ढङ्ग होती है।

फ्रायड के अनुसार प्रत्येक कलात्मक रचना स्नायुव्यतिक्रम की शोध है। स्नायुव्यतिक्रम किसी व्यक्ति को तब होता है जब वह अपने और समाज के बीच सङ्घर्ष से उत्पन्न हुई कठिनाई का सामना नही कर सकता। इसके बहुत से कारण हो सकते है। सम्भव है कि व्यक्ति ने जन्म से ही निस्सत्त्व काया पाई हो, सम्भव है कि उसने वाल्यावस्था मे असाधारण कामवासना का अनुभव किया हो, सम्भव है कि उसने कार्याधिक्य अथवा असफल प्रेम की वेदनाएँ सहन की हो—चाहे जो बात हो वह नाजुक अवस्थाओ मे जीवन के उत्तरदायित्व को सँभाल नही सकता और मतिभ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति स्नायु-

व्यतिक्रम के अन्तर्गत हो जाता है और कठिनाई से बचने के लिये विचित्र कल्पनाओ के आभिर्भाव की अनुभूति करता है। ये विचित्र कल्पनाएँ साहचर्य के नियमो के अनुसार अचेतन मे फैल जाती है और दबी हुई प्रेरणाओ को जागृत करती है। जागृत प्रेरणाएँ इतनी प्रबल होती है कि उन्हे निग्रहात्मक शक्ति नही रोक सकती और वे अभिव्यञ्जना के लिये आगे बढती है। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति असङ्गत और अतर्क बाते बकने लगता है और पागल हो जाता है। कलाकर स्नायुव्यतिक्रम से पागल नही होता। उसमे बढती हुई विचित्र कल्पनाओ को ऐसी अनात्म अभिव्यञ्जना देने की क्षमता है जिससे मन को सुख का अनुभव होता है। अनुभूत सुख के दो स्रोत होते है—एक तो रूप-सम्बन्धी तत्त्वो के सयोजन मे और दूसरा अन्तर्द्वन्द्व की शान्ति मे। इस प्रकार कलात्मक रचनाएँ सुव्यवस्थित विचित्र कल्पनाएँ होती है। फ्रायड का अगला प्रयास रचनात्मक कृतियो को मन के तीनो स्तरो से सम्बन्धित करता है। फ्रायड मन के तीन स्तर मानता है—इदम् अथवा अचेतन, अहङ्कार, और आदर्शाहङ्कार। इदम् आद्य प्रेरणाओ से भरा पडा है। ये प्रेरणाएँ तुष्ट के लिये ऊपर आती रहती है। कही न कही इदम् शारीरिक प्रक्रियाओ से मिला हुआ है और उनसे मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी आकाक्षाओ को लेकर उनकी मानसिक अभिव्यक्ति करता रहता है। ये मूलप्रवृत्तियाँ ही इदम् को स्फूर्ति देती है। परन्तु इदम् मे न कोई व्यवस्था है और न कोई एकीकृत उसमे अभिलाषा होती है। वह पर्णतया अनात्मिक है। बस, सुख के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी आकाक्षाओ को तुष्टि देने मे सलग्न रहता है। इदम् मे तर्क का कोई नियम काम नही करता, प्रतिवाद और निषेध से तो उसका कोई प्रयोजन ही नही। वह काल और स्थान के प्रत्ययो से मुक्त है और फिर भी तत्त्ववेत्ताओ के मत के विरुद्ध मानसिक क्रियाएँ करता रहता है। इदम् मूल्याङ्कन, नैतिकता, और भलाई-बुराई के भावो से अनभिज्ञ है। उसकी सब प्रक्रियाएँ परिमाणात्मक गुणक से शासित रहती है। कलात्मक रचना की अस्पष्टता, उसकी शक्ति, और उसकी न्यायविरुद्धता इदम् से आती है। अहङ्कार इदम् का वह भाग है जो ससार के सम्पर्क से अलग अस्तित्व मे आता है। वही हमको व्यक्तित्व का भान देता है और परिस्थितियो का सामना करने मे समर्थ करता है। वह इदम् की प्रेरणाओ की आलोचना करता है और अपने मानदण्डो के अनुसार उन्हे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है। अहङ्कार फ्रायड के मतानुसार तथ्य-सिद्धान्त का साक्षात्कार है और उसकी प्रवृत्ति मन के अनियमित उत्पादन का सश्लेषण करने की है। कलात्मक कृति अपनी रूप व्यवस्था और अपना ऐक्य अहङ्कार से पाती है। आदर्शाहङ्कार अहङ्कार से टूटकर अस्तित्व मे आता है और अहङ्कार की अपेक्षा इदम् से अधिक सम्बन्धित मालूम होता है। आदर्शाहङ्कार प्रतिबधक का काम करता है। वह आध्यात्मिक आकाक्षाओ तथा नैतिक और सामाजिक आदर्शो की उत्पत्ति करता है। इन्ही आकाक्षाओ और आदर्शो के प्रकाश मे आदर्शाहङ्कार कृति की आलोचना करता है। कलात्मक कृति अपने नैतिक और सामाजिक उद्देश्य आदर्शाहङ्कार से पाती है।

युङ्ग रचनात्मक प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार करता है। मन की दो विपरीत

वृत्तियाँ है—पहली अन्तर्व्यावृत्ति और दूसरी वहिर्व्यावृत्ति । मन का यह मौलिक विभाजन मनुष्य की प्रत्येक क्रिया मे मिलता है । अन्तर्व्यावृत्ति और वहिर्व्यावृत्ति के विरोध को विचार और भाव का विरोध, अथवा प्रत्यय और वस्तु का विरोध, अथवा इन्द्रिय और विषय का विरोध भी कह सकते है । वास्तविक सत्ता न अकेली अन्तर्व्यावृत्ति का परिणाम है और न अकेली वहिर्व्यावृत्ति का परिणाम है, वरन् एक विशिष्ट आन्तरिक क्रियाशीलता का जो कि दोनो का मिलान करती है । वही क्रियाशीलता विरोध को मिटाती है और इन्द्रियोपलब्ध ज्ञान को तीव्रता देती है, और प्रत्यय को सफल शक्ति देती है । इस क्रिया-शीलता को युङ्ग सक्रिय कल्पना कहता है । सक्रिय कल्पना रचनाक्रिया मे सदा आरूढ रहती है । हमारी सब वर्तमान समस्याओ का सुलझाव यही कल्पना करती है और यही कल्पना हमारी भविष्य योजनाओ की मार्गप्रदर्शिका है । सक्रिय कल्पना का वर्णन करते हुए युङ्ग कहता है कि यह क्रियाशीलता चेतन मन की उस प्रवृत्ति के परिणामभूत है जिससे वह अचेतन मन के थोडे बहुत सम्मिलित तत्वो को लेकर सादृश्य के नियमानुसार चेतन मन के तत्वो से मिलाकर उनका एकीकरण करता है । सक्रिय कल्पना कलात्मक मनोसामर्थ्य का प्रधान गुण है । जब सक्रिय कल्पना अचेतन और चेतन तत्वो के सश्लेषण को ऐसा रूप दे देती है जो सब को भावो और रूपसौष्ठव के कारण ग्राह्य हो तो, कलात्मक हो जाती हे । युङ्ग रचनात्मक प्रक्रिया की आगे और विस्तृत व्याख्या करता है । प्रत्येक मनुष्य मे दो भिन्न प्रवृत्तिया दीख पडती ह । कभी कभी वह सब प्रकार के नियन्त्रणो को अपने मन से हटा देता है और अचेतन मन मे घुस जाता है, जहा उसे असङ्गत आद्य प्रतिमाओ की राशि मिलती है, और इस राशि से वह अपना विनोद करता है । इसके विपरीत कभी-कभी वह सौन्दय अथवा नैतिकता के आदर्शो का नियन्त्रण अपने मन पर स्थापित करता हे । जब दोनो प्रवृत्तियाँ मिलान खा जाती है, तब वे कला का उत्पादन करती है । उत्पादन का क्रम यह है—पहले सञ्चित सस्कारो द्वारा आदश की स्थापना जो चेतन मन पर अपना शासन जमाता है, दूसरे, किसी स्मृति अथवा प्रतिमा का जागना जो अन्तर्प्रेरणा से पहल अचेतन मन म पडी थी, तीसरे, इस स्मृति अथवा प्रतिमा की नियन्ता आदर्श द्वारा आलोचना और स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति । यदि वह स्मृति अथवा प्रतिमा नियन्ता आदश को स्वीकार होती है तो वह उसे उपयुक्त मूल्य देता है । स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति और उसके मूल्याङ्कन मे एक रचनात्मक क्रिया समझ लेनी चाहिये । ऐसी ही बहुत-सी क्रियाओ के समुच्चय मे रचना की पूर्ति होती है । यदि आदर्श का नियन्त्रण दैवयोग से बडा बली हो तो समस्त रचनात्मक प्रक्रिया बडी तेजी से समाप्त होती है । कलाकार आनन्द और प्रकाश का अनुभव करता है और ऐसी अनुभूति मे स्मृतियाँ अथवा प्रतिमाएँ तुरन्त अपना-अपना मूल्य और मूल्य के अनुसार स्थान पाकर सहज ही रचना का सृजन कर देती है ।

एड्लर का विचार है कि कला उच्चता की अन्तर्जातप्रवृत्ति की शोधिता है । प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन समाज, व्यवसाय, और प्रेम व्यापार के अनुकूल करना पडता है ।

इस अनुकूलता के प्रयास मे उसके घर का उसके प्रति व्यवहार, उसकी परिस्थिति, और उसके शारीरिक लक्षण उसे सहायक अथवा बाधक होते है। एड्लर का विश्वास है कि परिवार की सीमा मे बच्चे के प्रति इतना अनुचित व्यवहार होता है कि उसमे आत्महीनता की भावना जोर पा जाती है। बच्चे के आत्मभाव और समाजभाव के सामञ्जस्य मे, जिसके ऊपर ही उसका नियमित विकास निर्भर है, बाधा पड जाती है। क्योकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की उत्तेजना से ही वह उन्नति करता है और समाज से पददलित किये जाने पर हतोत्साह हो जाता हे, जैसे ही उसमे आत्महीनता का भाव उत्पन्न होता है वैसे ही मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए उसमे उच्चता का भाव आ जाता है। यह उच्चता का भाव अचेतन मे रहता है और तर्क, सहानुभूति तथा सहयोग के सामाजिक मानदण्डो से दबा रहता है। साधारण पुरुष को समाज का भय उच्चता के भाव से प्रेरित क्रियाओ को खुल्लमखुल्ला नही करने देता। परन्तु कलाकार आत्मोत्कृष्टता का पार्ट बडी गम्भीरता से धारण करता है। वह इस ससार से विमुख होकर कल्पनाओ के एक ऐसे विचित्र ससार की सृष्टि करता हे जिसमे उसे उस मान, शक्ति, और प्रेम का प्रत्यक्ष निरूपण होता है जिसकी उपलब्धि इन कठोर ससार मे उसके लिए असम्भव थी। कलाकार कहे जाने का वह तभी अधिकारी होता हे जब वह अपनी कल्पनाओ को ऐसा साकार रूप प्रदान करता है जो सब को ग्राह्य हो। स्नायुव्यतिक्रमी अपनी कल्पनाओ को ऐसा रूप देने मे असफल रहता है और विक्षिप्तग्रस्त हो जाता है।

रचनात्मक प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओ मे अचेतन की सबल प्रवृति पर जोर दिया गया है। अचेतन की सबल प्रवृत्ति साधारण भाषा मे अन्तर्प्रेरणा (इन्सपिरेशन) कहलाती है और वह एक पुरातन सामान्य प्रत्यय है। अग्रेजी का शब्द अन्तर्प्रेरणा के लिए इन्सपिरेशन है जिसकी क्रिया इन्सपायर है। इन्सपायर का अर्थ सास भरना है। प्राचीन-काल मे जब कोई भविष्यवक्ता असाधारण शक्ति से बोलता था तो यह समझा जाता था कि उसे भगवान् ने अनुप्राणित किया हे। इसी प्रकार जब कोई कवि असाधारण स्वर से बोलता था तो भी यही समझा जाता था कि उसे किसी देवता अथवा देवी ने अनुप्राणित किया है। इसी अन्धविश्वास ने प्राचीन जगत् को एक ऐसी कलादेवी की सूझ दी जिसकी अलौकिक प्रेरणा से कवि को काव्यसिद्धि होती है। भारतीय परम्परा मे भी ज्ञान अथवा अभ्यास सिद्धि के अतिरिक्त इष्ट-सिद्धि भी कवित्व का विश्वास है। प्लैटो अपनी 'आयोन' और 'फैडरस' मे अन्तप्रेरणा का यूनानी विचार प्रकट करता हे। 'आयोन' मे वह कवि का वर्णन इस प्रकार करता है—"कवि एक सूक्ष्म, पलायमान और पवित्र वस्तु है, और तब तक युक्तिहीन है जब तक कि उसे दैविक प्रेरणा नही मिलती और स्वय इन्द्रियशून्य और बुद्धिविहीन नही हो जाता। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नही होता तब तक वह शक्तिहीन है और अपनी गूढोक्तियाँ कहने मे असमर्थ है।" 'फैडरस' मे प्लैटो कहता है—कला से नही वरन् दैविक प्रमत्तता से कवि चित्तोत्सेक तक अग्रसर होता हे। मध्यकाल मे अन्तर्प्रेरणा का सिद्धान्त धार्मिक हो गया। एक्कीनाज ऐसी अन्तर्प्रेरणा को ईश्वरीय

प्रसाद मानता है, जो ईसाई धर्म के सत्यो की पुष्टि करती है और ऐसी अन्तर्प्रेरणा को दानवीय प्रलाप मानता है जो धर्मविरुद्ध बातो की पुष्टि करती है। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो मे अन्तर्प्रेरणा की ओर भावना तर्कमूलक थी और आलोचक उमे अनुचित उत्साह कहकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। आधुनिक काल मे रोमान्सवाद के पुनर्जागरण से अन्तर्प्रेरणा फिर कला से सम्बद्ध होने लगी है। ब्लेक तो स्पष्टता से घोषित करता है कि उसे अपनी कविताएँ दिव्यात्माओ द्वारा प्रदान हुईं। मानवीय कल्पना को वह ऐसी दिव्यदृष्टि समझता है जो आत्मोन्मूलन और अन्तर्प्रेरणा की दशा मे आती है। जर्मनी मे व्यक्तिस्थित आत्मा का स्वातन्त्र्य और उसकी श्रेष्टता बडी दार्शनिक सूक्ष्मता से प्रतिपादित हुई। इसका परिणाम कविता मे यह हुआ कि कवि अपनी अन्तर्प्रेरणा और अपनी अन्तर्दृष्टि को रचनात्मक उद्देश्य के लिये सब कुछ समझने लगा। उसका यह पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति अपने से परे किसी महान् शक्ति से लेता है और वह स्वय उस शक्ति का केवल प्रवहण है। उसका यह भी विश्वास उतना ही दृढ हो गया कि कवि स्थिरदृष्टि से जीवन की झाँकी लेता है और जीवन के सच्चे रूपो का साक्षात् दर्शन करके उनका अपनी कविता मे पुनर्सृजन करता है। इग्लैण्ड मे वर्ड्सवर्थ और शैली दोनो कविता के इसी सिद्धान्त से प्रभावित थे। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कविता मन और प्रकृति के सयोग का फल है। प्रकृति मन को कितना ऊपर उठा सकती है, इसका अन्दाजा 'टिन्टर्न ऐबे' के इस पद्याश[1] से स्पष्ट है जो प्रकृति के रूपो का मनुष्य के मन पर प्रभाव वर्णित करता है —

नॉर लेस, आई ट्रस्ट,
टु देम आई मे हैव ओड ऐनअदर गिफ्ट,
ऑफ ऐस्पेक्ट मोर सब्लाइम, दैट ब्लेसेड मूड,
इन व्हिच द बर्देन ऑफ द मिस्ट्री,
इन व्हिच द हैवी एण्ड द वीयरी वेट
ऑफ़ ऑल दिस अनइण्टेलिजिबिल वर्ल्ड,

---

[1] Nor less, I trust,
To them I may have owed another gift,
Of aspect more sublime, that blessed mood,
In which the burthen of the mystry,
In which the heavy and the weary weight
Of all this unintelligible world,

इज़ लाइटेण्ड '—दैट सीरीन ऐण्ड ब्लेसेड मूड,
इन व्हिच द एफेक्शन्स जेण्टली लीड अस ऑन,
अनटिल, द ब्रैथ ऑफ दिस कारपोरल फ्रेम
एण्ड इविन द मोशन ऑफ आवर ह्यूमन ब्लड
ऑलमोस्ट सस्पेण्डेड, वी आर लेड एस्लीप
इन बॉडी, एण्ड बिकम ए लिविङ्ग सोल
व्हाइल विद एन आई मेड क्वाएट बाई द पावर
ऑफ हारमनी, एण्ड द डीप पावर ऑफ जॉय,
वी सी इन्टु द लाइफ ऑफ थिंग्ज़

प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर जब वर्ड्सवर्थ ध्यानावस्था मे प्रवेश करता था तो वह इस अगम ससार के सब क्लेशो से मुक्त हो जाता था और जब प्रकृति का अनुराग अग्रणी होता था तो वह धीरे-धीरे अपनी उस चरम सीमा तक पहुँच जाता था जिसमे वह अपने शरीर की किसी गति का अनुभव नही करता था और शान्त और आनन्दमय हो कर जीवन का सारतत्त्व समझ लेता था । आगे चलकर इस कविता मे वह यह भी कहता है कि प्रकृति का निरीक्षण प्रकृति के सच्चे प्रेमी को ईश्वर की व्यापकता का भी ज्ञान देता है । जो प्राप्त गति वर्ड्सवर्थ ने वर्णित की है उसकी तुलना समाधि अवस्था से ही की जा सकती है, केवल ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान की कमी है । शैली 'डिफ़ेन्स ऑफ पोइट्री, मे इस मत का पोषण करता है कि जब ईश्वरीय मन मानवीय मन पर क्रीडा करता है तब ही कवि-जीवन की नित्य सत्य प्रतिमाएँ व्यञ्जित करने के लिए विवश हो जाता है । मनोविश्लेषण अन्तर्प्रेरणा के प्रत्यय को धार्मिक रहस्य से नग्न कर देता है और उसे अचेतन का एक विशेष व्यापार कहता है । रचनात्मक क्रिया मे वे प्रतिमाएँ अथवा वे प्रतिबिम्बमूल जो मस्तिष्क मे अमिट रूप से अङ्कित रहते हैं पुनर्जीवित हो उठते हैं और अचेतन उन्हे चेतना अवस्था के चित्र की तरह उपस्थित करता है ।

आधुनिक पश्चात्य कलामीमासा के अनुसार रचनात्मक प्रक्रिया चेतन और अचेतन व्यापारो का समन्वय है, और स्पष्टत मनोविश्लेषण से प्रभावित है । इसी प्रभाव के

Is lightend —that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,
Until the breath of this corporal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul:
while with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy
we see into the life of things.

परिणामस्वरूप अब कलामीमासा भावव्यञ्जकता पर ही पूरी तरह आश्रित होती जाती है और क्रोचे और उसके अनुयायियो के ज्ञानप्राधान्यवाद विषयक मत मे विमुख होती जाती है। भावप्राधान्यवाद यूनानी साहित्यशास्त्र का विशेष लक्षण था और यह विशेष लक्षण अब तक पुष्ट है। पुराना भारतीय विचार भी भावप्राधान्यवाद विषयक है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य विचार मन के भीतरी स्तरो मे प्रविष्ट है और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय विचार ऊपरी स्तरो तक सीमित है पर इन सीमाओ के भीतर भारतीय विचार ने बडी सूक्ष्मता से मन के गुणो और व्यापारो का विश्लेषण किया है। भारतीय विचार की इस विशेषता के दो कारण प्रतीत होते है—एक तो प्रमुख भारतीय दर्शनो मे आत्मा को मन के परे माना है और मन को एक प्रकृतिजन्य इन्द्रिय निश्चित किया है, जब कि साधारण पाश्चात्य विचार मन को ही सर्वस्व समझता है, दूसरे, भारतीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति ऐकान्तिक तत्त्वो की खोज की ओर अधिक रही है। फलत भारतीय साहित्यशास्त्र मे भाव निरूपण बडा विस्तृत और सुघटित है। परन्तु हम भारतीय भाव-निरूपण पर आने से पहले पाश्चात्य भाव-निरूपण देगे, जिससे दोनो की तुलना सुगमता से हो जाय।

यूनानी आलोचको की पहले ही से सूझ थी कि साहित्य और कला प्रकृति की तरह ऐसे भावो को उत्तेजित करते है जो उसके ज्ञानात्मक अस्तित्व के आधार होते हैं। प्लैटो ने होमर और अपने देश के नाटककारो को इसी विचार से दोषपूर्ण कहा कि उनके भाव और अन्तर्वेग कुनीति और अधर्म से सम्बन्धित थे और उनका निरूपण इतना चित्ताकर्षक होता था कि पाठक अथवा दर्शक बुराई की ओर ही अग्रसर होता था। अरिस्टॉटल ने भी करुण की परीक्षा भावोत्तेजना के आधार पर की। उसका यह निर्णय था कि करुण शोक और भय इन दोनो स्थायी भावो को उत्तेजित करके इनका शोध करता है और इस शोध से प्राप्त हुआ आनन्द ही करुण का विशिष्ट रस है। लॉञ्जायनस ने उसी साहित्य को उत्कृष्ट माना जो परिणाम मे सदा, सर्वत्र, और सब को आनन्दप्रद हो। प्राचीन यूनान के अनुकूल यूरोप के सब ही कालो और देशो मे आलोचको ने साहित्य और कला को सुख के सिद्धान्त से मापा। इस माप का साधारण विवरण यह है। यदि साहित्य से उत्तेजित भाव अवाछनीय सुख दें तो साहित्य दूषित है और यदि साहित्य से उत्तेजित भाव वाछनीय सुख दे तो साहित्य प्रशस्य है। साहित्य से केवल कलात्मक सुख का उद्रेक होता है। इस विचार का पोषक कही-कही कोई आलोचक ही होता था। आधुनिक काल मे तत्त्ववेत्ता और आलोचक दोनो कला को भावोत्तेजन से सम्बन्धित करते हैं। कान्ट का कहना है कि कला का अस्तित्व रचना के फलस्वरूप है और कलात्मक प्रतिभा दूसरे प्रकार की प्रतिभा से भाव के आधार पर ही अलग की जा सकती है। कला कलाकार के भावो की व्यञ्जना अथवा उनका निरूपण है। हीगल कहता है कि कवि उस सामग्री पर क्रियाशील होता है जिसे उस के अन्तर्वेग उसे प्रदान करते है और उस सामग्री को प्रतिमा के रूप मे प्रत्ययोत्पादक शक्ति के सम्मुख उपस्थित करता है। शौपनहावर कला को क्रियात्मक शक्ति

से निवृत्ति पाने का साधन मानता है । उसके मतानुसार कलाकार और कलानुभवी दोनो जीवन से छुटकारा पाने के भाव से प्रेरित होते हैं । हाउसमैन का कहना है कि कविता बोध का सम्प्रेषण ही नही करती वरन् भाव का सञ्चार भी; वह पाठक की इन्द्रिय को ऐसे स्पन्दन की अनुभूति देती है, जिसका अनुभव स्वय कवि को हुआ था । एलैग्जेण्डर कला को विषय सम्बन्धी और निर्माणात्मक मनोवेगो का सम्मिश्रण मानता है । टी० एस० इलियट भी इस मत का है कि कलात्मक अनुभव भावो के सयोग का फल होता है ।

कला मे भावो का प्राधान्य तीन विचारो से स्पष्ट हो जाता है । पहला विचार तो कलाहेतुकला के सिद्धान्त की असफलता है । इस सिद्धान्त का उद्देश्य कला का स्वातन्त्र्य और उसकी अवलिप्तता स्थापित करना है । इस सिद्धान्त के पोषक मानते हे कि कलाकृति आरोप की गई हुई वस्तु के तुल्य है । भला कला उस वस्तु के तुल्य कैसे हो सकती है जिसकी वह प्रतीक है ? प्रतीक तो स्थानापन्न वस्तु है, वस्तु का प्रतिरूप है, स्वय वस्तु नही है । इस कथन मे केवल इतना सत्य है कि कलाकृति प्रतीक है । कलाहेतुकलावादियो की न यह बात माननीय है कि कला मे रूप और वस्तु एक है यदि यह मान ले तो रूप को प्रतीक कैसे कह सकते है । कला के लिये कला मे बाहर के भावोत्तेजना निर्देश विषयक अवश्यम्भावी है । शिल्पी के नाते कलाकार कलाकृति का उसके स्वातन्त्र्य मे अवश्य अनुभव करता है और इन्द्रियजन्य सुख का साधन मानता है । परन्तु ललित कला का रचयिता इस रहस्य को अच्छी तरह समझता है कि शिल्पी का ध्यान कलाकृति के स्वातन्त्र्य की ओर इस कारण जाता है कि वह उन विचारो और प्रतिमाओ को व्यवस्थित प्रतीको के रूप मे अभिव्यक्त करने मे आत्मविभोर होता है, जो नीतिशास्त्र, तत्त्वविद्या, धर्म, विज्ञान और प्रकृति से उत्तेजित भावो द्वारा आते है । दूसरा विचार यह है कि कलाकार इन्द्रियो को प्रभावित करने के साधनो का उपयोग करते है । ऐसे साधनो द्वारा कलाकृति भावो से अचिरेण निर्दिष्ट हो जाती है । घटनाओ, कार्यो, वस्तुओ, और विचारो से सम्बन्धित भाव इन साधनो द्वारा उचित सवेदनार्थ मूर्त प्रतिमाओ मे स्थिर हो जाते है । कवि लोग भी अपने दार्शनिक विचारो को मूर्त प्रतिमाओ के रूप मे प्रकाशित करते है, इस कारण से थोडे ही कि उन्हे प्रत्ययो से शरम लगती है वरन् इस कारण से कि वे अपने अन्तर्वेगो को कलासाधनो से सम्बद्ध कर अनायास और सुस्पष्टतया दूसरो को प्रदान कर सके । तीसरा विचार यह है कि कलाकारो की रुचि प्राय. मूर्तता के लिये होती है । थोडे से प्रत्यय ही ऐसे है जो भावो को जागृत और स्थिर कर सकते है । मूर्ति भाव को जागृत करती है ।

अरिस्टॉटल ने अपनी 'पोइटिक्स' मे शोक और भय दो ही भावो का उल्लेख किया है । कारण यह है कि वह करुण के विवेचन मे व्यस्त था । परन्तु भाव बहुत हैं, जैसे हर्ष, विषाद, तृप्ति, अतृप्ति, राग, द्वेष, आश्चर्य, उत्साह, निवृत्ति, प्रवृत्ति इत्यादि । पश्चात्य कलामीमासा मे भाव की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं, पहली अवस्था मूलप्रवृत्ति की, दूसरी अवस्था अन्तर्वेग की और तीसरी अवस्था भावगति की । भाव का जीवन इन तीनो अवस्थाओ मे होकर विकसित होता है । मूलप्रवृत्ति की अवस्था मे व्यक्ति समग्र स्थिति

से एक ऐसी उत्तेजना छाँट लेता है जिस की ओर उसके सस्कार उसे आकर्षित कर लेते हैं। इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया मे व्यक्ति शारीरिक क्रिया मे प्रवृत्त हो जाता है। साधारण रूप से यह शारीरिक क्रिया शरीर के बाहर जाती है और उत्तेजना देने वाले विषय से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करती है। भूख, प्यास, लिङ्ग, आत्मरक्षा, इत्यादि मूलप्रवृत्तियाँ हैं। अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया मे जिस क्रिया का सञ्चालन होता है वह शरीर से बाहर नही जाती और शरीर के भीतर ही भीतर समाप्त हो जाती है । अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे एक से अधिक उत्तेजनाएँ कार्यशील होती है और कार्यार्थ प्रकार-प्रकार के ढङ्ग व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित करती है। इसी कारण इस दशा मे व्यक्ति को मानसिक सङ्घर्ष का अनुभव होता है। इस दशा मे व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति भी व्यक्ति की कुछ क्रियाओ को निश्चित करती है। इन्ही कारणो से अन्तर्वेगीय प्रतिक्रिया मूल-प्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया से अधिक जटिल होती है और सभ्यता के बिकास मे अगला क्रम चिह्नित करती है। प्रेम, देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, परोपकार, स्वार्थ, खेद इत्यादि अन्तर्वेग है। तीसरी अवस्था मे व्यक्ति ध्यानशील हो जाता है। वह घटना से बहुत सी उत्तेजनाएँ छाँट लेता है और उन्हे सञ्चित सस्कारो से सयुक्त करता है । इसी सयोजना मे व्यक्ति की प्राथमिक और प्रायोगिक क्रिया प्रादुर्भूत होती है। यह क्रिया भी शरीर तक ही सीमित रहती है। सानुकम्पा, खिन्नता, उत्कर्ष, रसमयता, इत्यादि भावगतियाँ है। तीनो अवस्थाओ मे भाव अनिच्छित होता है क्योकि तीनो अवस्थाएँ क्रियाशील होने की पूर्वप्रवृत्ति की सिद्धि है। वैसे तो भाव तीनो अवस्थाओ मे एक ढङ्ग से ही काम करता है, परन्तु पहली अवस्था मे क्रिया बहिरङ्गी होती है और अगली अवस्थाओ मे अन्तरङ्गी हो जाता है । बहिरङ्गी क्रिया से अन्तरङ्गी क्रिया की ओर परिवर्तन मे, और अकस्मात् आविर्भूत क्रिया के नाते मूलप्रवृत्ति अन्तर्वेग, और भावगति की विभिन्नता मे, मनुष्य के जीवन की समस्त प्रगति चिह्नित है, सुगमता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी इन तीनो अवस्थाओ का प्रयोग करके मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण स्थापित किया है। भाव मनुष्य के अधिकार मे कार्यक्षम यन्त्र है। भाव तीनो अवस्थाओ मे सस्कारो का वह समुच्चय है जिसके द्वारा परिस्थिति के विशेष लक्षणो मे सम्पर्क होते ही प्राणी पूर्वप्रवृत्तियो के अनुसार प्रतिक्रिया-शील हो जाता है।

वैसे तो भाव तीनो अवस्थाओ मे पुनरुत्पादक और उत्पादक होता है, परन्तु क्योकि दूसरी और तीसरी अवस्थाओ मे वाह्यगुणको का जोर कम हो जाता है और आन्तरिक गुणको का जोर बढ जाता है, और क्योकि अन्तिम अवस्था मे भाव के विभिन्न तत्त्व एकमेल हो जाते है, दूसरी और तीसरी अवस्थाओ मे भाव विशेष रूप से उत्पादक होता है और तीसरी अवस्था मे दूसरी अवस्था से भी अधिक उत्पादक होता है । पुनरुत्पादन पहली अवस्थाओ मे अधिक होता है। पुनरुत्पादक और उत्पादक भाव अहेतुवादविषयक (एटैलियो-लौजीकल) और हेतुवादविषयक (टैलियोलौजीकल) सज्ञाओ मे परिभाषित हो सकते है। जो मनोवैज्ञानिक अहेतुवाद की रीति से भाव को समझने हैं वे सेन्द्रिय-क्रियावाही यन्त्ररचना (सैन्सरी मोटर मिकैनिज्म) की उन असङ्कल्पित चेष्टाओ की ओर ध्यान देते है जो

उत्तेजनाओ के अनुभव मे परिवेष्टित होती है। यदि भाव अपनी तीनो अवस्थाओ मे इस प्रकार समझा जाय तो वह केवल उन आवृत्यात्मक क्रियाओ का द्योतक होगा जिनका स्पष्टीकरण या तो शरीरविज्ञान सम्बन्धी या स्नायुविज्ञान सम्बन्धी सज्ञाओ मे कर सकते है । भाव के जीवन का विशदीकरण बिना किसी ऐसे हेतु की सहायता के होगा जो हेतुवाद के अनुसार आवृत्यात्मक क्रियाओ मे पाया जाता है या यान्त्रिक प्रतिक्रियाओ मे पाया जाता है। इसके विपरीत हेतुवाद भाव का विशदीकरण उस साधन-साध्य सम्बन्ध की सज्ञाओ मे होगा जो क्रिया और उसके उद्देश्य मे होता है। हेतुवाद से परिभाषित भाव उद्देश्यपूर्ति की ओर ही निर्दिष्ट होता है, और इस निर्देश से उसका कोई प्रयोजन नही कि क्रिया किस प्रकार की है। परन्तु न तो भाव विस्तार और न उसका पूर्वगृहीतपक्ष, कलासम्बन्धी अनुभव, ही पूरी तरह से समझ मे आ सकता है यदि अहेतुवादसम्बन्धी और हेतुवादसम्बन्धी दोनो तरह की परिभाषाओ का सहारा न लिया जाय। भाव मे अहेतुवादविषयक और हेतुवादविषयक दोनो गुणक उपस्थित होते है। भावसम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ हेतुरहित अथवा आवृत्यात्मक भी होती है और हेतुपूर्वक अथवा प्रादुर्भूतकार्यरूपी भी होती है।

भाव की निर्हेतु दशा मे अतीत का पुनरुत्पादन और पुनर्नियोजन होता है। निर्हेतु भाव से उत्पादित क्रिया जातिगत और आवृत्यात्मक होती है। वह इस बात की द्योतक होती है कि शरीर जातिगत स्थितियो, घटनाओ, वस्तुओ और विचारो की प्रतिक्रिया मे स्वभावत आवृत्यात्मक रूप से व्यापार करता है। इसी करण कला के अनुभवी को कलावस्तु से पूर्वपरिचय होने का भान होता है और भाव की क्रियाशीलता मे अन्त करण मे ऐसी प्रतिमाएँ आती है जो बार-बार आविर्भूत होती है और जिनसे कलाकृति सुबोध होती है। भाव के जाति-गुणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला कलाकार के भावो की प्रतीक है और उसकी विशेषता सार्वजनीनता है। भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यो कलाकार अपनी रचनात्मक शक्ति से चकित होकर भ्रम मे पड जाता है और क्यो कलाग्राही कला के ओजस्वी प्रभाव का कोई सुगम कारण नही दे सकता। अन्त मे, भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी कला क्यो अनैतिक और तर्कहीन होती है और अपकृष्ट करती है।

भाव की हेतु दशा मे कल्पना की विधायक शक्ति का पता चलता है। हेतु भाव की क्रियाशीलता से ही कलाकार की विधायकता उत्पन्न होती है और वही उसकी वैयक्तिकता का आधार है। कला की विचित्रता के स्रोत भी हेतुभाव की क्रियाशीलता मे ही मिलते हैं। इसी मे उस उत्साह और उत्कृष्टता का स्रोत मिलता है जिसका अनुभव अगाध कला के ग्रहण मे सदा होता है और इसी मे प्रयास की उस अन्त स्फूर्ति का स्रोत मिलता है जो मनुष्य शक्ति की योजना करती है और जो रचयिता के अन्तर्द्वन्द्व को मिटाकर एक उच्चतर स्तर पर उसकी पुनर्रचना करती है। रचयिता को फिर से रचना और कलाग्राही का फिर

से व्यवस्थापन करना—कला के ये तात्विक उद्देश्य हेतुभाव की क्रियाशीलता से ही सिद्ध होते है।

कलात्मक रचना न तो निर्हेतु भाव का ही काम है और न हेतु भाव का, वरन् दोनो के उचित सम्मिश्रण का। निर्हेतु भाव से प्राणिशास्त्र सम्बन्धी सस्कार (बायलौजीकल एपर्सेप्शन्समास) और सास्कृतिक सस्कार (कलचरल एपर्सेप्शन्समास) जागृत होते है और वे कलाकार को ऐसे जीवित प्रतीक प्रदान करते है जो स्थितियो, घटनाओ, और क्रियाओ के रूप मे कलाकृति की वस्तु बनते है। इस विचार से यह निर्विवाद सिद्ध है कि तत्त्वत. कोई कलाकार बिल्कुल नई वस्तु का निर्माण नही करता। उसे प्रतीक निर्हेतु भाव से प्राप्त होते हे और उन के सङ्केतो की रचना और उनका सयोजन ही वह करता है। उदाहरणार्थ, निकट सम्बन्धी का शीत घातक एक जातिगत प्रतीक है जो 'औरेस्टिया' और 'हैम्लैट' के रूप मे अलग-अलग आविर्भूत होता है। जाति नेता, शीत घातक भयावह यात्राएँ, प्रिया की खोज और उसकी प्राप्ति, कृतघ्नता का क्लेश, वीरो की लडाई, तूफान और नाश का भय, दरिद्रता का व्यग्र क्षोभ—ये सब प्रतीक जो कलाकृतियो मे सुरक्षित है निर्हेतु भाव की क्रियाशीलता ही से मिले है और इन को कलाङ्ग देने मे ही कलाकार का कौशल ह। जितने शक्तिशाली प्राणिशास्त्र सम्बन्धी सस्कार होते है उतन ही शक्तिशाली सास्कृतिक सस्कार भी होते हे। आत्मा का निरूपण और उसका परमात्मा से ऐक्य अथवा पार्थक्य, अनश्वरता, धन अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिये शैतान को आत्मा का बेचना, जीवन क्लेश से मुक्ति की भावना, स्वतन्त्र धारणा और अटल भवितव्यता की समस्या, निश्चित कर्मगति—ये प्रतीक सास्कृतिक है और नये-नये उपयुक्त सङ्केतो द्वारा कविता, काव्य और कला मे निरन्तर प्रकट होते रहते है। वस्तु को व्यवस्थित करना और उसकी अभिव्यक्ति के लिये उपकरणो का सयोजन करना ये हेतु भाव के काम है। निर्हेतु भाव और हेतु भाव दोनो क्रियाशील हो कर कलाकार की ऐसी कृति सृजन करने के लिये समर्थ करते है जो कलानुरागी को चिर-परिचित होती हुई प्रतीत होती है और उसे कलाकार की तरह उच्चतर स्तर पर सुव्यवस्थित करती है। जैसे विज्ञान तर्क का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यापार मे गलतियो से बचाता है वैसे ही कला भाव का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यवस्था मे अपूर्णता से सम्पूर्णता की ओर ले जाती है। भाव की शक्ति चुम्बक शक्ति के अनुरूप हे। इस शक्ति को कलाकार अपने सम्पर्क से कलाकृति को देता है। कलाकृति चुम्बक का गुण पाकर इसी शक्ति को कलानुरागी को देती है। इस प्रकार कला अपनी शक्ति का प्रयोग करके कलानुरागी को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर आकर्षित करती है।

निर्हेतु और हेतु तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही उस विरोध का समाधान हो जाता है जिसका भान कलानुभव मे होता है। शेक्सपिअर के पात्रो के विषय मे यह मत साधारण है कि वे व्यापक भी है और वैयक्तिक भी। व्यापकता निर्हेतु भाव द्वारा आई और वैयक्तिता हेतु भाव द्वारा। निर्हेतु भाव द्वारा प्राप्त जातिगत प्रतीक को कलाकार हेतु भाव के निर्देश मे विशिष्ट सङ्केतो से व्यक्त करके एक बिल्कुल नई रचना कर देता है। कला अपकर्षता का

भान देती है और उत्कर्षता का भी। अपकर्षता का भान गर्वहर अतीत के पुनर्नियोजन से होता है और उत्कर्षता का भाव हेतु भाव द्वारा जीवन के सुव्यवस्थापन से। कला मे खेल और उच्छृङ्खलता का भान होता है और गाम्भीर्य और शृङ्खलता का भी। खेल और उच्छृङ्खलता का भान निर्हेतु भाव की मुक्त क्रियाशीलता से होता है और गाम्भीर्य और शृङ्खलता का भान हेतु भाव के उपयुक्त अनुशासन से।

भाव का यह विस्तृत विवरण इस कारण दिया है कि कला की रचनात्मक प्रक्रिया और उसकी प्रभावोत्पादकता स्पष्ट हो जाये। इस विस्तार की आवश्यकता यो भी हुई कि प्रस्तुत विषय पर भारतीय आलोचनात्मक विचार की तुलना पाश्चात्य आलोचनात्मक विचार से भलीभाँति हो जाय।

जीवन के सच्चे भावो और काव्य के भावो मे साधारणत तो कोई अन्तर नही वरन् असाधारणत अन्तर है। काव्य मे उन भावो का प्रवेश होता है जो कलाकार के कल्पनात्मक ध्यान के विषय रह चुके है और इस कारण अपनी तीव्रता शान्त कर चुके है। ऐसे भाव स्पष्टतया रुचिकर होते है। कैसे रुचिकर होते है इसकी व्याख्या यह है। परिस्थिति की किसी विशेष वस्तु से उत्तेजित हो कर मनुष्य की मानसिक क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। यदि मनोवृति के क्रियात्मक पहलू को रोक दिया जाय तो बजाय उस वस्तु से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने के मनुष्य उस वस्तु पर ध्यानशील हो जाता है। मन की स्थिति अन्तर्वेगीय हो जाती है। अन्तर्वेग एक ओर तो चेतना की समग्र भूमि पर और दूसरी ओर उत्तेजना देने वाली वस्तु और उसकी परिस्थिति पर फैल जाता है। इस फैलाव से अन्तर्वेग की तीव्रता कम हो जाती है पर उसका विस्तार और उसकी व्यापकता बढ जाती है और मन पर आच्छादित होने के बजाय स्वय उस के नियन्त्रण मे आ जाता है। इस दशा मे मन को ऐसा प्रतीत होता है कि उस वस्तु और परिस्थिति का अन्तर्वेगीय मूल्य केवल कल्पित है। इसी दशा मे अन्तर्वेग अपनी तीव्रता छोड देता है और भोक्ता को अपना रस अथवा अमृत प्रदान करता है। भाव का रस मे परिणत होना भाव सम्बन्धी इच्छा की क्रियात्मक प्रेरणा को रोकने और भाव का मन की ज्ञानात्मक प्रेरणा का विषय बन जाने पर आधारित है, क्योकि इसी दशा मे मनुष्य ध्यानशील और कल्पनामय होता है। रस और भाव के सम्बन्ध के विषय मे श्यामसुन्दरदास यह लिखते है। "स्थायीभाव और रस मे कोई बडा भेद नही है। स्थायीभाव का परिपाक ही रस है। कुछ विद्वानो का मत है कि घडे अथवा घडे मे विद्यमान् आकाश मे जो भेद है, वही भेद स्थायीभाव तथा रस मे है। दूसरे लोग कहते है कि सीपी मे रजत विषयक भ्रान्तिमय ज्ञान मे और सत्य रजत विषयक ज्ञान मे जो भेद है, वही भेद रस तथा स्थायीभाव मे भी है। कुछ विद्वान् दोनो मे उतना ही भेद मानते है जितना कि विषय तथा विषय-ज्ञान मे है।" इन व्यक्त मतो मे हमे अन्तिम मत ही माननीय है क्योकि अन्तर्वेग का ज्ञानात्मक नियन्त्रण ही अन्तर्वेग को रसमय करता है।

रस उस लोकोत्तर आनन्द को कहते है जो काव्य से सहृदय पाठक को और अभिनय से सहृदय दर्शक को प्राप्त होता है। परन्तु रस को काव्य और अभिनय ही से सीमित करना समीचीन नही। रस समस्त ललित कलाओ की जान है। रस का आस्वादन पहले कलाकार स्वय करता है और फिर अपनी प्रतिभा द्वारा उपकरणो के सयोजित सन्दर्भ मे वह उसका ऐसा प्रवाह करता है कि कलानुरागी कला के अनुभव से प्राय वही आनन्द पाता है जो कलाकार को मिला था। भारतीय साहित्यशास्त्रकारो ने काव्य सम्बन्धी रस का बडा सर्वाङ्गी विवेचन दिया है। रस को काव्य की आत्मा कहा है। वह काव्य सौन्दय का पहला सिद्धान्त है। अथ स्पष्ट हो, छन्द उत्तम हो, योजना सुन्दर हो, अनुप्रास औ‍र अन्य सुस्वर युक्तियाँ कर्णप्रिय हो, पर रस न हो, तो ऐसी रचना को हम काव्य नही कह सकते, केवल पद्य कहेगे। काव्य उसी रचना को कहेगे जिसमे ये सब तत्त्व रससञ्चार के निमित्त सयोजित हो। काव्य के इसी लक्षण मे काव्य रचना और रचनात्मक प्रक्रिया का रहस्य निहित है।

रस का स्वय आस्वादन करना और उसका दर्शक अथवा पाठक को आस्वादन कराना, यही काव्य रचयिता का मुख्य कर्तव्य है। यह विवाद सर्वथा निरर्थक है कि दर्शक अथवा पाठक तो 'पत्थर के निर्जीव पदार्थ' सदृश है। उनके साथ रस का कोई सम्बन्ध नही है। रस की अभिव्यक्ति तो उन्ही लोगो मे होती है जिनके कार्यो का काव्य मे वर्णन होता है अथवा जिनके कार्यो का अभिनय किया जाता है। गौण रूप से रस की अभिव्यक्ति अभिनेताओ मे होती है। परन्तु हम पहले ही कह चुके है कि भाव मे रस तब ही निकलता है जब वह चिन्तन का विषय हो जाता है। इस प्रकार राम-कृष्णादि जीवित काव्य विषयो मे तब ही रस की अभिव्यक्ति मान सकते है जब वे अपने भावो का चिन्तन करने लगते है और उनकी ओर वे अपनी वैसी ही मनोवृति बनाने मे समर्थ होते है जेसी रचनात्मक कलाकार की होती है। सार यह है कि रस की अभिव्यक्ति काव्य रचयिता मे ही होती है और कला द्वारा पाठक अथवा दर्शक मे होती है। कव्य रचयिता आन्तरिक अथवा वाह्य भावो के चिन्तन से रस निकालता है और पाठक अथवा दर्शक काव्य वर्णित भावो से। यह स्वयसिद्ध है कि पाठक अथवा दशक काव्य रचयिता की तरह सहृदय मनुष्य है और स्वय सदृश भावो का अनुभव कर चुका है अथवा उनका अनुभव करने मे समर्थ है। इसी से तो वह काव्य अथवा अभिनय के भावो का सुस्पष्ट अनुभव कर उनके रस का आस्वादन करता है। कला प्रेमी मे भावोत्पादकता की क्षमता अनिवाय है। यह क्षमता उसे चाहे जीवन के विस्तीर्ण अनुभव से प्राप्त हुई हो, चाहे कलानुराग से। यह निश्चय हो जाने के पश्चात् यह दिखाना है कि किस प्रकार काव्य रचयिता अपनी रचना को रस से अनुप्राणित करता है।

कव्य के आधार नौ रस है। वे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्भुत और शान्त हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमश. रति, हास, शोक, क्रोध, उसात्ह, भय, ग्लानि, आश्चय, और निर्वेद इन नौ स्थायी भावो से होती है। इन भावो को स्थायीभाव इस कारण कहते है कि ये काव्य अथवा अभिनय मे आदि से अन्त तक स्थिर रहते है। दूसरे

भाव तो क्षरण मे आते है और स्थायीभाव की पुष्टि करके क्षरण मे चले जाते है। उनमे विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावो को लीन करने की शक्ति नही होती। स्थायीभावो की सख्या स्थिर कर देना यह भारतीय मस्तिष्क की विशेषता है। जब तब इस सख्या पर साहित्य-शास्त्रियो ने आघात किया है। कुछ साहित्यशास्त्रियो का मत है कि पहले आठ भाव प्रवृत्तिमय है और नवा निर्वेद भाव निवृतिमय है। नाटक अथवा दर्शक का इस भाव से कोई सम्बन्ध नही है। ये लोग आठ स्थायी भाव ही मानते है। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यशास्त्री भावो की सख्या और बढाने के मत मे है। वे कहते है कि प्रेम चार प्रकार का होता हे, अनुयोगी, प्रतियोगी, समयोगी, और भिन्नलिङ्ग। भिन्नलिङ्ग प्रेम से शृङ्गार रस की उत्पत्ति होती है, परन्तु पहले तीन प्रेम भी स्थायीभाव है और उन से क्रमश भक्ति, वात्सल्य, और प्रेयान अथवा सौहार्द रसो की उत्पत्ति होती है। नौ की सख्या के पोषक निर्वेद भाव के वहिष्कार के विषय मे कहते है कि निवृत्ति की भावना जीवन व्यापार मे उतनी ही प्रबल है जितनी कि प्रवृत्ति की भावना और काव्य जीवन का प्रतिरूप होने के कारण उससे पराङमुख नही हो सकता। और प्रेम के तीन और भावो के आधार पर तीन और अधिक रस बढाने के विषय मे उनका मत है कि ये और तीन प्रकार के प्रेम पहले प्रकार के प्रेम की तरह रति ही मे सम्मिलित हे। इसका समान उदाहरण पाश्चात्य मनोविश्लेषण मे मिलता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब प्रकार के प्रेम और साहचर्य को लिङ्ग का शोध कहते है। यह विचार फिर नौ की सख्या को स्थिर करता है। जुगुप्सा, शोक आदि को स्थायीभाव न मानने मे कोई सार नही। परन्तु हम इस सख्या को नहीं मान सकते। मार्लो के 'डॉक्टर फौस्टस' का स्थायीभाव अपार शक्ति की तृष्णा और शेक्सपिअर के 'आँथेलो' का स्थायीभाव प्रेमशका है। ये भाव और दूसरे बहुत से जिन पर आधुनिक नाटक, उपन्यास और काव्य आधारित है नवो स्थायीभावो के अतिरिक्त हैं। भाव जीवन और प्राकृति की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न होते है और भाव जातिगत और आवृत्यात्मक होते हुए भी अनेक प्रकार के होते है। सस्कृति की प्रगति तो सब कोई मानते ही है। नई सस्कृति नये स्थायी भाव देती है। आदर्शवाद और जीवन समस्या विषयक नाटक और उपन्यास सब के सब इन नौ स्थायी भावो के अन्तर्गत नही आते। अन्याय और अनम्यता के भावो पर गॉल्सवर्दी के नाटक 'सिल्वर बॉक्स' और स्ट्राइफ' आधारित हे। आदि से अन्त तक अन्याय का भाव 'सिल्वर बॉक्स' मे और अनम्यता का भाव 'स्ट्राइफ' के दोनो पक्षो मे स्थिर है और ये भाव दूसरे नाटको को भी बदले हुए सङ्केतो द्वारा अनुप्राणित कर सकते है। यदि खीच तान कर इन भावो को उन्ही नौ भावो मे मिला दिया जाय तो सन्तुष्टि नही हो सकती।

रस की उत्पत्ति के लिए स्थानीयभाव अकेला पर्याप्त नही माना गया। उसके साथ विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभावो का रहना आवश्यक है। विभाव उस वस्तु को कहते हैं जिसके अवलम्ब से स्थायीभावो की उत्पत्ति होती है या जो उनको उद्दीप्त करती है। इसी से विभाव के दो भेद है, आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उस विभाव को कहते हैं

जिसके अवलम्ब से रस की उत्पत्ति होती है। भिन्न भिन्न रसो मे भिन्न-भिन्न आलम्बन होते है, जैसे श्रृङ्गार रस मे नायक और नायिका, रौद्र रस में शत्रु, हास्य रस मे विलक्षण रूप या शब्द, करुण रस मे शोचनीय व्यक्ति या वस्तु, वीर रस मे शत्रु या शत्रु की प्रिय वस्तु, भयानक रस मे भयङ्कर रूप, वीभत्स मे घृणित पदार्थ, अद्‌भुत रस मे अलौकिक वस्तु और शान्त रस मे अनित्य वस्तु। उद्दीपन वे विभाव है जो रस को उत्तेजित करते है, जैसे श्रृङ्गार रस के उद्दीपन करने वाले सखा, सखी, दूती,उपवन, चाँदनी इत्यादि। अनुभाव उन गुणो और कार्यो को कहते हैं जो चित्त के भाव को प्रकाश करते है, जैसे मधुर सम्भाषण और स्नेहयुक्त दृष्टिनिक्षेप। अनुभाव के चार भेद माने गये है सात्विक, जिसका व्यवहार अद्भुत, वीर, श्रृङ्गार, और शान्त रसो मे होता है, कायिक, शारीरिक क्रिया जिससे भाव का बोध हो, मानसिक, जो मन की कल्पना से उत्पन्न हो और आहार्य्य, भिन्न वेश धारण करने से उत्पन्न हुआ अनुभाव, जैसे नायक नायिका का और नायिका-नायक का वेश धारण करके स्थायीभाव का बोध कराएं। हाव, अथवा वे स्वाभाविक चेष्टाएँ जिनसे सयोग के समय नायिका नायक को अकर्षित करती है भी अनुभाव के अन्तर्गत आता है। सञ्चारीभाव वे भाव है जो रस के उपयोगी होकर, जल की तरङ्गो की भाँति, उसमे सञ्चरण करते हैं। ऐसे भाव मुख्य भावो की पुष्टि करते है और समय-समय पर मुख्य भावो का रूप धारण कर लेते है। स्थायीभावो की भाँति ये रस-सिद्ध तक स्थिर नही रहते, बल्कि अत्यन्त चञ्चलतापूर्वक सब रसो मे सञ्चरित होते रहते है। इन्ही को व्यभिचारी-भाव भी कहते है। साहित्य मे नीचे लिखे तैंतीस सञ्चारी भाव गिनाए गये है, निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विवाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, व्रीडा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जडता, चपलता, और वितर्क। रस विभावो से उद्‌बुद्ध अनुभावो से परिवृद्ध, और सञ्चारी भावो से परिपुष्ट होते है।

रस की उत्पत्ति के लिये गुण भी उतना ही आवश्यक है जितना स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभावो का सहयोग। गुण तीन तरह के होते है माधुर्य, ओज, और प्रसाद। अनुस्वारयुक्त वर्णों के अधिक प्रयोग, टवर्ग के अभाव, और समास की न्यूनता से कविता मे माधुर्य गुण आता है। टवर्ग, सयुक्त अक्षरो और दीर्घ समासो के अधिक प्रयोग से कविता मे ओज गुण आता है। शब्द और अर्थ के उपयुक्त सहयोग और मनोहर शब्द योजना और समासो से कविता मे प्रसाद गुण आता है। प्रसाद तो सब रसो की उत्पत्ति मे सहायक होता हैं, ओज अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसो मे सहायक होता है और माधुर्य, श्रृङ्गार, करुण, हास्य, और शान्त रसो मे सहायक होता है। अलङ्कार और छन्द से भी रस की वृद्धि होती है परन्तु वे रस के लिए उतने आवश्यक नही जितने गुण। रसो के आपस मे भिन्न और शत्रु मित्र होते है और रसोत्पादन मे प्रतिभाशाली कवि इस बात का पूरा ध्यान रखते है। रसो का आपस मे ऐसा सम्बन्ध है। श्रृङ्गार रस के हास्य और अद्भुत मित्र है और करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और

भयानक शत्रु है। हास्य रस के शृङ्गार और अद्भुत मित्र है और भयानक, करुण, और वीर शत्रु है। अद्भुत रस का भयानक मित्र है और रौद्र शत्रु। शान्त रस का करुण मित्र है और वीर , शृङ्गार, रौद्र, हास्य, और भयानक शत्रु। रौद्र रस का भयानक मित्र है और हास्य, शृङ्गार, अद्भुत शत्रु। वीर रस का रौद्र मित्र है और शान्त और शृङ्गार शत्रु। करुण रस का शान्त मित्र है और हास्य और शृङ्गार शत्रु। भयानक रस के अद्भुत रौद्र, और वीर मित्र है और शृङ्गार, हास्य और शान्त शत्रु। वीभत्स रस का कोई मित्र नही, उसका शत्रु शृङ्गार है। रस की वृद्धि मित्र रसो को एकत्रित करने से और शत्रु रसो के निष्कासन से होती है। यह सिद्धान्त शेक्सपिअर के अभ्यास से विपरीत है। शेक्सपिअर हास्य को अद्भुत, करुण, और भयानक रसो से अनिर्बंधेन मिला देता था। उसकी धारणा थी कि विरुद्ध रस एक दूसरे को सुस्पष्ट करते है, एक दूसरे को निष्फलीकृत करते, जैसे यदि किसी विल्कुल सफेद समतल पर कोई काला चित्र हो तो दोनो के सन्निकर्ष से दोनो अधिक सुस्पष्ट हो जाते है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कविता नियमवद्ध हो जाती है। रसोत्पादन, लक्ष्य, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, और सञ्चारी भाव, उपकरण, उपयुक्त गुण का साहचर्य, शब्दयोजना, छन्द और अलङ्कार की मनोहरता, रससन्धि और रस-शान्ति का ध्यान—यही काव्य रचना है और इसी से रचनात्मक प्रक्रिया निर्दिष्ट होती है। कविता के ऐसे ही बहुत से निर्देश पाश्चात्य आलोचना मे अरिस्टॉटल, लॉन्जायनस, होरेस, डाण्टे, बोयलो, पोप, जॉनसन, कॉलरिज, गटे, पो, हॉप्किन्स, ब्रिजैज और दूसरे बहुत से आलोचको से मिलते हैं। उल्लेखनीय इस प्रसङ्ग मे कॉलरिज और गटे हैं। कॉलरिज अपनी 'वायग्रेफिया लिटरेरिया के एक अध्याय मे अभ्यासात्मक आलोचना का प्रतिपादन करते हुए उन गुणो को निर्दिष्ट करता है जिनसे विमल काव्यात्मक शक्ति का पता चलता है। पहला गुण पदयोजन का पूर्ण माधुर्य है। दूसरा गुण ऐसी वस्तुओ की छाँट जो कवि के निजी हितो और परि-स्थितियो से बहुत दूर हो। गटे उससे सहमत है। उसका कहना है कि सर्वोत्कृष्ट कविता पूर्णतया अनात्मिक होती हे। अनात्मिकता वस्तु की व्यञ्जना मे भी आवश्यक है। जैसा अनुभव हो उसे ज्यो का त्यो, वेसा ही वर्णित किया जाय। तीसरा गुण विचारो का गाम्भीर्य और उनकी शक्ति है। गटे का भी यही कहना है कि यदि किसी कवि की वस्तु विचारपूर्ण न हो तो वह कवि असफल माना जायगा। पेटर, ब्रेडले, एलेग्जेण्डर सब ही इसमे सहमत हैं। एलेग्जेण्डर तो कहता है कि दो प्रकार की कविता होती है, सुन्दर और महान्। महान् कविता का सृजन विषय की महानता से होता है। चौथा गुण प्रबल भाव है। भाषा और प्रतिमाओ पर भाव का पूरा अधिकार स्थापित हो और वही विचारो को क्रम और ऐक्य प्रदान करे। गटे भी कहता है कि किसी कविता की असली शक्ति उसकी घटना अथवा उसकी प्रेरणा मे होती है। कॉलरिज इस गुण को तीसरा और तीसरे को चौथा गुण कह कर लिखता है। परन्तु महत्त्व मे चौथा ही सब गुणो से अधिक हैं। स्थायीभाव की तुलना इसी से की जा सकती है। स्थायीभाव हमारे साहित्यशास्त्रियो ने काव्य रचना के लिए

प्रथम महत्त्व का माना है–रस तो चित्रित भाव का प्रभाव है–और इसी को पाश्चात्य आलोचको ने प्रथम महत्त्व का माना है। इसमे सन्देह नही कि प्रतिभाशाली कवि नियमो के नियन्त्रण मे उत्कृष्ट कविता का सृजन कर सकता है। ड्राइडन का कहना है कि नियन्त्रण से कल्पना उत्तेजित होती है और कवि की प्रशसा इसी मे है कि कठिनाइयो का इतनी सुगमता से सामना करे कि कही उसकी कविता मे कठिनाई का सामना करने का भान न दृष्ट हो। कवि का अन्त करण, उसकी वस्तु, उसका आधार तीनो एक दूसरे मे घुल मिल जाये। जैसे क्रिकिट का प्रवीण खिलाडी क्रिकिट के नियमो को अचेतना मे रखता है और गेंद मे बल्ला लगाते समय मानो मूल प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और स्वय खेल के हाथो यन्त्रवत् हो जाता है, वैसे ही कलाकार कला के नियमो को अचेतन मन से पालन करता है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व कोई नही रहता और वह कलाकृति मे ही लीन हो जाता है। यदि कलाकार इस गति को प्राप्त न हो तो कोरा शिल्पकार है। शिल्प चेतन सुप्रयोज्य क्रियाशीलता है और क्योकि शिल्पकार सौन्दर्य के स्वप्नो से प्रभावित होता है, शिल्प प्रतिक्षण कला की ओर अग्रसर होती है। कला का विकास शिल्प से ही है। प्रत्येक कलाकार कलाकार भी होता है और शिल्पकार भी। शिल्पकार शिल्पकार ही होता है, यद्यपि उसमे कलाकार होने की क्षमता हो सकती है। जैसे ही शिल्पकार कल्पनामय भावना से अपनी सामग्री पर सामग्रीहेतु क्रियाशील होता है और उसमे अपने सौन्दर्य-स्वप्न की जागृत अनुभूति करता है वैसे ही वह कलाकार हो जाता है। कला के लिये आधार मे आत्मसम्मिश्रण द्वारा ऐसे गुण निर्मित वस्तु मे आरोप कर देना जो उसके आधार मे नही है, आवश्यक है। कोरे नियमो को लेकर चतुरता से आधार पर क्रियाशील होना और वस्तु निर्माण करना तो शिल्प ही है, जो उपयोगी हो सकती है परन्तु सौन्दर्यविहीन रहेगी। भारतीय रसशास्त्र पद्धति से काव्य की रचना मे प्रतिभाहीन चतुर कवियो की ओर से यही भय बना रहेगा। उत्कृष्ट प्रतिभा तो निर्भीक और अबद्ध क्रियाशीलता मे अपने रचना नियम अपने आप निकाल लेती है।

रचनात्मक प्रक्रिया का यह विस्तृत वर्णन इस कारण अनिवार्य हुआ कि रचनात्मक आलोचना के विवेचन मे कृति की रचनात्मक प्रक्रिया की आवृति होती है।

४

रचनात्मक आलोचक कलाकार होता है। कलाकृति की ओर उसकी प्रवृत्ति कल्पनामय होती है। जब वह किसी कृति को हाथ मे लेता है तो वह उसे न तो किसी उपयोगिता का साधन मानता है और न उसे किसी प्रज्ञात्मक गवेषणा का आधार। वह कृति का निरीक्षण यही जानने के लिए करता है कि कलाकार ने इसका आधान कैसे किया। यह जान कर और फिर कृति का चित्त मे पुनरुत्पादन करके वह उस पुनरुत्पादन को कुछ समय के लिये अपने चित्त ही मे रोकता है। इस प्रकार उसके सम्मुख एक आकृति उपस्थित हो

जाती है जिसका विस्तार और जिसकी विशेषताएँ ही उसे पूरी तरह तद्वत् कर देती है। इस आकृति की रागरहित उपस्थिति को कलामीमासा विषयक सादृश्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ एस्थैटिक मैम्बलैंस) कहते हैं। जब इस चित्तविमूर्त्त आकृति पर आलोचनात्मक दृष्टि पडती है तो रचनात्मक आलोचक को सूझ होती है कि यदि वह उस आकृति से यह बात हटा दे अथवा इसमे यह बात परिवर्तित कर दे अथवा कोई नई बात उसमे बढा दे, तो कृति का रूप अधिक सन्तोषजनक होगा। कृति का ऐसा पुनरुत्पादित अनुभव रचनात्मक आलोचक मे कलामीमासा विषयक भावना उत्पन्न कर देता है। इस भावना से प्रेरित हो कर वह कृति के पुनरुत्पादन को एक नई रचना सशरीर करता है। यह नई रचना मौलिक रचना की बातो की काट-छाँट और कुछ नई सङ्गत बातो के जोड से निर्मित होती है। किसी कृति का ऐसा पुर्ननिर्माण रचनात्मक आलोचना कहलाता है। आन्तरिक पुनरुत्पादन मे रचयिता के देश और काल से कृति का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और कृति का उस मन से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, जिसने उसका सृजन किया था। फलत वाह्य पुर्ननिर्माण मे काट-छाँट द्वारा रचनात्मक आलोचक ऐसी त्रुटियो का सङ्केत कर सकता है जो देश और काल के पूर्वचिन्तन के कारण कृति मे आ गई अथवा मन के अप्रौढ विकास से उसमे आ गई। ऐसी रचनात्मक आलोचना के उदाहरण हमे ब्रेडले की 'शेक्सपीरियन ट्रैजैडी' और चार्लटन की 'शेक्सपीरियन कौमेडी' मे मिलते है। कृति की तरह कृतिकार भी रचनात्मक आलोचना का आधार बन सकता है। जैसे कृति के पुनरुत्पादन मे अन्तर्दृष्टि की क्रियाशीलता आवश्यक होती है वैसे ही कृतिकार के पुनरुत्पादन मे भी अन्तर्दृष्टि की क्रियाशीलता से रचनात्माक आलोचक सहज ही यह देख लेता है कि कृतिकार की किस निष्पत्ति की ओर भावना थी और क्या निष्पन्न कर सका, वह क्या करना चाहता था परन्तु क्या न कर सका, वह क्या कर डालता यदि उसे उचित अवसर प्राप्त होता। कीट्स एण्ड शेक्सपिअर' नामक पुस्तक मे मिडिल्टन मरे ने कीट्स की ऐसी ही समीक्षा की है। रचनात्मक आलोचनाओ मे यह कृति अतुलनीय है और इसका अध्ययन रचनात्मक आलोचको को बडा शिक्षाप्रद होगा। फ्रेंक हैरिस ने 'द मैन शेक्सपिअर' मे शेक्सपिअर का रचनात्मक पुर्ननिर्माण किया है, परन्तु फ्रेंक हैरिस का मैरी फिटन घटना से मास्तिष्काविष्ट हो जाना इस आलोचना मे दोष ले आता है।

रचनात्मक आलोचक रचनात्मक कलाकार से केवल वस्तु चयन मे भिन्न होता है। कलाकार जीवन और प्रकृति के दृश्यो और रूपो का कल्पनात्मक चिन्तन करता है और आलोचक कलाकारो और उनकी कृतियो का कल्पनात्मक चिन्तन करता है। साहित्यकारो की अलग-अलग रुचियाँ होती है और वे उसका उपयोग उन्ही क्षेत्रो मे करते हैं, जो उनके जन्म और उनकी वाह्य परिस्थितियो से निर्दिष्ट होते हैं। किसी साहित्यकार की रुचि वीरो के जीवन की ओर होती है और वह उनके शौर्य की प्रशसा कथनात्मक पद्य मे करता है, दूसरे साहित्यकार की ऐसे महान् पुरुषो की भाग्यदशा मे अनुरति होती है, जिनका समृद्धि, के उच्चतम शिखर से आपत्ति के निम्नतम गर्त मे अधोपतन होता है और जिन का अन्त

क्लेशकारी होता है, तीसरा साहित्यकार जीवन के उन वृहद् और सर्वतोव्यापिदृश्यो की ओर आकर्षित होता है, जो साधारण मनुष्यो के भाग्यो और प्रयासो के मनरोञ्जक चित्र हमारे सम्मुख लाते है। एक उपन्यासकार लन्दन के जीवनदृश्य चित्रित करता है, दूसरा उपन्यासकार अग्रजी प्रान्तीय नगरो के मनुष्यो की झक, सनक और उत्केन्द्रता का प्रदर्शन करता है, तीसरा उपन्यासकार वैसैक्स के कृषकवर्ग, मध्यवर्ग, और छोटे रईसो के जीवन पर अपने विचारो से हमारा दिलबहलाव करता है। प्रत्येक कलाकार का कोई विचार-क्षेत्र होता है जहाँ वह हमे ले जाता है। रचनात्मक आलोचक हमे पुस्तको के ससार मे ले जाता है। उसकी कथावस्तु साहित्य होती है। स्वय जीवन ने शेक्सपिअर को यह भावना दी कि महाभय की घटना मे अश्लील परिहास का प्रभाव कितना भयानक होता है, और इसी भावना से प्रभावित होकर उसने अपने दुखान्त 'मेक्बैथ' मे पोर्टर का दृश्य खीचा। इसी दृश्य से अनुप्रेरित होकर डेक्विन्सी अपने 'द नौकिङ्ग एट द गेट इन मैक्बैथ' नामक प्रशसनीय निबन्ध मे अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का वर्णन करता है। यूनान से इटली को और इटली से इङ्गलैण्ड को कविता की कौतुकात्मक प्रगति ग्रे के पिण्डारिक स्तोत्र 'द प्रौग्रस ऑफ पोइजी' का विषय है। होरेस, विडा, और बौयलो ने काव्यकला पर दीप्यमान कविताएँ रची है। स्वय आलोचना ने पोप के 'ऐसे ऑन क्रिटीसिज्म' मे रचनात्मक चमत्कार दिखाया है, जिससे चकित होकर सेण्ट व्यूव अपने उद्गार इस प्रकार प्रलापता है "जैसे ही मै इस निबन्ध को पढता हूँ, निरन्तर उसमे पोप के अन्तर्ज्ञ और सूक्ष्मबुद्धि होने के प्र... उसके चरणद्वय अमर सत्यो से परिपूर्ण है और ये सत्य अ... का जीवन और बडी चारुता से व्यक्त है।" ...गर की प्रतिष्ठा सदा के

...ही अङ्कप्राधान्यवादी के लिये

रचनात्मक आलोचक कलाकृति का वैसे ही म... रीति मे यथार्थवादी होता है। यदि कृति पूर्णतया कलात्मक है, तो रचनात्मक आ... ही वरन् सङ्कल्प-प्रवृत्ति पर आधार- प्रतिभा मे अनन्यता का अनुभव करता है। परन्तु उसका प्रकृतिपुनश्चित्रण यथाभूत है। और आदर्शीकरण के लिए अवकाश देता है। ... पुस्तक-सम्बन्धी निर्देशो का वहिष्कार होगी। एक पुरानी कहावत है कि जब ...और अपने व्यक्तित्व के व्यक्तीकरणार्थ ही कविता ससार मे प्रवेश करती हु... उस के लिये जीवनसार है। तत्वतः, अङ्क- वास्तविकता के ससार से ऊपर अ... रूप है और मनुष्य की आत्मा को बहुमूल्य के ससार से ऊपर आरोहण कर ...उत्कृष्ट करता है।

देती है और मन रचनात्मक प्रक्रिया को ...से ही बढता गया, जैसे-जैसे मनुष्य की अपने इस प्रकार रचनात्मक आलोचना एक कृति, ... बहुत समय तक मनुष्य सामूहिक रूप से और इस कृति का मूल्य कला के नाते आंक... रुत्थान काल के आदि तक बना रहा जब निर्णयात्मक आलोचक के पास क... के मूल्... मनुष्य के विचारशीलन और भावुकता का वर्गीकरण करता है और अपने नेतृत्व के ...ओ से मुक्त हुआ। मुक्त होने की भिन्न-भिन्न प्रत्येक साहित्य वर्ग का निर्माण नियन्त्रित ...कवि के प्रकृतिप्रेमभाव मे दीख पडती

उसकी वस्तु को उसके रचनाकौशल से अलग करके दोनो की निकट परीक्षा करता है। परीक्षा के अन्त मे वह बता देता है कि वस्तु और रचनाकौशल दोनो मे कलाग्राही को प्रभावित करने की कहाँ तक क्षमता है। वह एक कलाकृति की दूसरी कलाकृति से तुलना भी करता है और यह स्पष्ट कर देता है कि कृति ने किस परिमाण मे कलात्मक पूर्णता पाई है। रचनात्मक आलोचक को रचनाओ के वर्गीकरण, उनकी चीरफाड और उनकी तुलना से कोई प्रयोजन नही। उसके लिये तो प्रत्येक कलाकृति व्यक्तिगत उत्पादन है जो पूर्णतया नवीन और स्वतन्त्र होती है और अपने ही नियमो से शासित होती है। रचनात्मक आलोचक कृति का स्वतन्त्र अवलोकन करता है और इस अवलोकन की व्यञ्जना ही आलोचक की हैसियत से उसका मुख्य कर्तव्य है। उसकी आलोचना कृति की ओर से अनुराग केन्द्र को हटा कर उसके पुनरुत्पादन की ओर अवश्य ले जाती है, परन्तु उसका उद्देश्य भी इसके अतिरिक्त कोई दूसरा नही। प्रसङ्गत बिना किसी निर्दिष्ट उद्देश्य के वह अपने पुन सृजन मे इतनी आलोचना दे देता है, जितनी कि कलाकार जीवन के पुन सृजन मे दे देता है।

५

कौमेडी' मे मि... रूप रचनात्मक आलोचना बहुधा लेती है अङ्कप्राधान्यवाद विषयक (इम्प्रैशनिस्टिक)
सकता है। जैसे कृति के पुन... ...रा से अङ्कप्राधान्यवाद विषयक आलोचना की ओर आना
ही कृतिकार के पुनरुत्पादन मे भी... ...ान से विश्लेषणात्मक सहजज्ञान की ओर आना। रचनात्मक
सहज ही यह देख लेता है कि कृतिकार ...जे अङ्क मन पर पड सकते है उतने लेकर उन्हे ऐक्य मे
निष्पन्न कर सका, वह क्या करना चाहता ...ाद विषयक आलोचना केवल एक अङ्क से ही सन्तुष्ट
यदि उसे उचित अवसर प्राप्त होता। कीट्स ...चना इस भेद को स्पष्ट करती है। ब्रैडले का प्रयास
मरे ने कीट्स की ऐसी ही समीक्षा की है। र... ...विषय मे हैम्लेट और दूसरे पात्रो से जितने भिन्न
है और इसका अध्ययन रचनात्मक आलोचको के... ...की उलझन को भरसक सफलता से सुलझा
मैन शेक्सपिअर' मे शेक्सपिअर का रचनात्मक पुन... ...ती है। वे हैम्लैट के चरित्र से पडे हुए एक ही
मैरी फिटन घटना से मास्तिष्काविष्ट हो जाना इस आलोचन... ...रशीलता, अथवा उसके चिन्तनशील
रचनात्मक आलोचक रचनात्मक कलाकार से केवल ...प्राधान्यवादी है। वह हेम्लैट के
कलाकार जीवन और प्रकृति के दृश्यो और रूपो क... ...सवेदनशीलता बताता है। इसी
आलोचक कलाकारो और उनकी कृतियो का कल्पना... ...उसकी वाह्य बाधाओ मे निश्चित
की अलग-अलग रुचियाँ होती है और वे उसका उप... ...ट की कठिनाई उसके स्नायुव्यति
जन्म और उनकी वाह्य परिस्थितियो से निर्दिष्ट हो... ...पाता है। अन्त मे एर्नेस्ट जोन्ज़
के जीवन की ओर होती है और वह उनके शौर्य... ...कठिनाई उसकी एडीपस-सम्बन्धी
दूसरे साहित्यकार की ऐसे महान् पुरुषो की भाग्य... ...त है, हैम्लेट की अपनी मा के प्रति काम-
के उच्चतम शिखर से आपत्ति के निम्नतम गर्त मे... ...से रोकती है।

अङ्कप्राधान्यवाद सज्ञा चित्रकलाओ से सम्बन्धित है । उपन्यास और आख्यायिकाओ मे जिसे यथार्थवाद कहते है, नाटक मे जिसे प्रकृतिवाद कहते है, चित्रकलाओ मे उसी को अङ्कप्राधान्यवाद कहते है । किसी वस्तु ने जो चिह्न कलाकार के मन पर छोडा है, उसी को शरणपट पर उपस्थित करने का ढङ्ग अङ्कप्राधान्याद है । हॉलब्रॉक जैक्सन उसे तथ्यान्वेष कहता है । बर्नडशा उसे तथ्य का विवेक कहता है । उसके मत से अङ्कप्राधान्यवाद स्पष्ट व्यक्तिगत निश्चय के अनुसार जीवन के अनुभव करने का स्वभाव है और जीवन के अनुभव करने के रूढिगत अथवा परम्परागत ढङ्ग की प्रतिक्रिया है । अङ्कप्राधान्यवाद प्रकृति की उपस्थिति मे क्षण-क्षण के सुख और आनन्द का आदर करता है । वह क्षणिक अनुभव को बहुमूल्य समझता है । उसका सम्बन्ध उन विषयो से है जो मनुष्य के लिये विशेष रूप से सवेदनात्मक होते है । पेटर का कहना है, "प्रति क्षण हाथ या चेहरे का रूप सम्पूर्णता की ओर प्रगतिशील होता है । पहाडी अथवा समुद्र की कोई विशेष झलक हमे और सब झलको से अधिक प्रिय लगती है । कोई भावगति अथबा अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक उत्तेजना असाधारण रूप से वास्तविक और आकर्षक होती है—उसी क्षण के लिये जब वह उत्पन्न होती है ।" अङ्कप्राधान्यवादी क्षणिक मोहन का अपनी पूर्ण आत्मा से उत्तर देता है और उस उत्तर को बिना किसी बौद्धिक विस्तार के उपयुक्त प्रतीको मे व्यक्त करता है । रौज़ैटी के शब्दो मे अङ्कप्राधान्यवादी-विषयक कला एक क्षण की स्मारक है । ऑस्कर वाइल्ड का कहना है कि चाहे क्षण मनुष्य का भाग्य न निश्चित करे पर इसमे सन्देह नही कि क्षण से अङ्कप्राधान्यवादी का भाग्य अवश्य निश्चित होता है । कारण यह है कि किसी क्षण का जीवन अथवा प्रकृति सौन्दर्य जब वह कला मे व्यक्त हो जाता है तो कलाकार की प्रतिष्ठा सदा के लिये बना देता है । क्षण और अपनी क्षणिक प्रतिक्रिया, ये ही अङ्कप्राधान्यवादी के लिये सब कुछ है । प्रत्यक्ष है कि अङ्कप्राधान्यवादी अपनी अनुभव रीति मे यथार्थवादी होता है । यह मानना पडेगा कि उस का यथार्थवाद बुद्धि के ऊपर नही वरन् सङ्कल्प-प्रवृत्ति पर आधार-भूत है । अङ्कप्राधान्यवादी का यह उद्देश्य होता है कि उसका प्रकृतिपुनश्चित्रण यथाभूत है । इसीलिये बह अपने वर्णन से सब प्रकार के प्राज्ञ और पुस्तक-सम्बन्धी निर्देशो का वहिष्कार करता है । वह पूर्णतया व्यक्तित्वमय हो जाता है और अपने व्यक्तित्व के व्यक्तीकरणार्थ ही प्रकृति का उपयोग करता है । आत्मसस्कृति ही उस के लिये जीवनसार है । तत्वतः, अङ्क-प्राधान्यवाद व्यक्तिगत मनाङ्क का शुद्धतम रूप है और मनुष्य की आत्मा को बहुमूल्य आध्यात्मिक अनुभवो से समृद्ध कर उसे उत्कृष्ट करता है ।

साहित्य मे अङ्कप्राधान्यवाद वैसे वैसे ही बढ़ता गया, जैसे-जैसे मनुष्य की अपने वैशिष्ट्य की चेतना बढती गयी । मध्यकाल मे बहुत समय तक मनुष्य सामूहिक रूप से सोचते और भावपूर्ण होते थे । यह स्वभाव पुनरुत्थान काल के आदि तक बना रहा जब कि विज्ञान, तर्कप्राधान्यवाद, और प्रजातन्त्रवाद ने मनुष्य के विचारशीलन और भावुकता मे क्रान्ति फैलाई । मनुष्य धीरे-धीरे रूढिशृङ्खलाओ से मुक्त हुआ । मुक्त होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ सब साहित्य मे सुरक्षित है, वे विशेषतया कवि के प्रकृतिप्रेमभाव मे दीख पडती

है। मिल्टन प्रकृति निरीक्षण किताबी दृष्टि से करता है और प्रकृति के वर्णन मे व्यञ्जना के उन्ही साधनो का प्रयोग करता है जो परम्परा से चले आये है। आगे चलकर जब हम टॉमसन के 'सीज़न्स' की जाँच करते है तो ज्ञात होता है कि चाहे उसके वर्णन आजकल के पढने वालो को बडे रोचक हो, वह प्रकृति के विशिष्ट दृश्यो से घनिष्टता नही स्थापित करता। ऋतुओ का जातिगत वर्णन करता है और उनसे जातिगत भावो का ही अनुभव करता है। उसके छोटे-छोटे वर्णनात्मक गीतो मे अवश्य वैशिष्ट्यानुराग मिलता है। कूपर ने प्रकृति के विशिष्ट सुन्दर दृश्यो का वर्णन सत्यता से बडी मनोहर शैली मे किया है। परन्तु उसके वर्णनो मे प्रकृति-सौन्दर्य से उत्पन्न क्षणिक भावगतियो का कोई उल्लेख नही। वर्ड्सवर्थ और दूसरे रोमान्सवादी कवियो मे प्रकृति से उत्पन्न क्षणिक मनाङ्क बाहुल्य मे मिलते है। वर्ड्सवर्थ प्राकृतिक विषयो मे अपने इष्ट-मित्र रखता था और इन से सहस्रो मनाङ्क स्मृति मे एकत्रित किये था। शेली अपनी कविता मे प्रत्येक तारे का, ओस की बूँद का, और उतरती हुई लहर का रङ्ग और वातावरण प्रदर्शित करता है। कीट्स जो सदा विचारो के जीवन की अपेक्षा विशुद्ध सवेदनाओ के जीवन के लिये चिल्लाता था, अङ्कप्राधान्यवाद का सार व्यक्त करता है। धीरे-धीरे मनुष्य ने उस विस्तृत सम्पत्ति पर अधिकार जमाया है जो उसके भोगार्थ प्रकृति के रङ्ग और रूप मे सञ्चित थी और जिसे भोगने मे रूढिवश असमर्थ था। सौन्दय क्षेत्र म मानव स्वातन्त्र्य उतनी ही कठिनाई से प्राप्त हुआ है जितनी कठिनाई से सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे।

अङ्कप्राधान्यवादी का स्वभाव किसी कदर असाधारण होता है। जीवन के रङ्ग-विरङ्गे दृश्य मे वस्तुएँ और क्रियाएँ नवीनतर और नवीनतर रूप धारण करती रहती है। अङ्कप्राधान्यवादी उस रूप को तुरन्त ग्रहण कर लेता है, जो उसे किसी क्षण प्रिय लगता है। उसे विरोध का भान ही नही और अनुभव के समय अपने अन्त करण को सब बन्धनो से मुक्त कर देता है। रूपो से उस के विचार, उसके आवेग और उसकी भावगतियाँ जागृत होती है। अङ्कप्राधान्यवादी की भावगतियो मे कोई स्थिरता नही होती। 'ट्वेल्फ्थ नाइट' के ड्यूक की तरह वह क्षण-क्षण बदलता रहता है। अन्तर केवल इतना है कि जब कि ड्यूक अपनी एक प्रिया के लिये स्थिर रहता है, अङ्कप्रधान्यवादी किसी प्रिया के लिये स्थिर नही रहता और न उस का मन ऊबता है। वह जानता है कि परिवर्तन जीवन का नियम है और एक ही रूप और रङ्ग के थोडे-थोडे बदलते हुए बहुत से भेद हैं। उसमे मानसिक चैतन्यता इतनी होती है कि वह सूक्ष्म परिवर्तनो को फौरन पहचान जाता है और अपनी भावगति उनके अनुसार कर लेता है। वह उसी वस्तु का उसी भावगति मे दोबारा अनुभव करने से चिढता है। सूक्ष्म परिवर्तनो का अनुभव करना ही वह अपना परम धर्म समझता है। अन्तिम विशेषता अङ्कप्राधान्यवादी की यह है कि उसका मन इतना उर्वर होता है कि व्यञ्जनार्थ वह तुरन्त ही उपयुक्त प्रतिमा और शब्द उत्पन्न कर देता है।

साहित्य मे अङ्कप्राधान्यवाद का फैलाव आलोचना मे प्रतिबिम्बित है। जिस प्रकार

धीरे-धीरे वह साहित्य मे फैला है, उसी प्रकार धीरे धीरे वह आलोचना मे फैला है। एलीजैबैथ के काल मे जब कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो उसमे यही देखता था कि कृति की भाषा कैसी है, वह आलङ्कारिक है या नही, उसका छन्द नियामानुकूल है या नही। जब नवशास्त्रीय काल का कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो वह उसे मानदण्डो का सहारा लेता था, जैसे अनुकरण, वैदग्ध्य और रुचि। ये तीनो मानदण्ड कारण-विकृत होते थे और उनमे व्यक्तिगत अनुराग के लिये कोई स्थान नही रह जाता था। साधारणतया साहित्यकृति एक वाह्य वस्तु समझी जाती है। रोमान्सवाद के पुनरुत्थान ने आलोचनात्मक विचारदृष्टि बदल दी। आलोचक ने कृति मे रचना-कौशल सम्बन्धी गुणो का देखना छोड दिया, और न उसे कृति का सामान्य आकर्षण ही सन्तुष्ट करता था। वह कृति से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने लगा और इसी सम्पर्क के आनन्द को अपनी आलोचना मे व्यक्त करने लगा। उसके अभ्यास मे यह परिवर्त्तन भावना और कल्पना के सहयोग से हुआ। जैसे-जैसे आलोचक सूक्ष्मविवेकी होता गया, वैसे-वैसे ही वह साहित्यकृतियो से उद्भूत आध्यात्मिक अनुभवो की सूक्ष्म विभिन्नताओ के लिए सवेदनशील होता गया। परिवर्तन की यह प्रक्रिया आलोचनात्मक शब्दभण्डार के विकास मे देखी जा सकती है। जहाँ कि पुराना आलोचक थोडी सी सज्ञाओ का प्रयोग करता था जैसे उपयुक्त, सुन्दर, दोषपूर्ण, शब्दबाहुल्य, भावबाहुल्य, अप्राकृतिक, आजकल का आलोचक अपने भावो की व्यञ्जना के लिए सारे जीवन और अध्ययन को छान मारता है।

अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक उन अङ्को को व्यक्त करता है जो साहित्य के सवेदनशील अध्ययन से उसके ऊपर पडते हैं। वह साहित्य को केवल आनन्द-स्रोतमात्र समझता है। साहित्य का अस्तित्त्व उसके लिये उसकी चेतना को विस्तृत करने के लिये और उसकी ग्राह्यता को तीव्र करने के लिये है। अङ्कप्राधान्यवादी मनाङ्को का मूल्य मनाङ्को ही से सीमित करता है। वह इन्हे किसी भूत अथवा भविष्य अनुभव से सम्बन्धित नही करता। उनकी एक क्षण के लिये आत्मा को उत्तेजित करने की क्षमता ही काफी है। इसीसे अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना की आत्मसम्बन्धी होने की प्रवृत्ति है। एनातोल फ्रान्स दृढता से कहता है कि केवल वस्तु-सम्बन्धी आलोचना कही है ही नही। परम्परा और विश्वव्यापी सम्मति अस्तित्त्वहीन है। साधारण मत केवल व्यवस्थित पक्षपात है। सब आलोचना आत्मसम्बन्धी है। जो कृतिकार समझते हैं कि वे अपनी कृति मे अपने आप के अतिरिक्त कुछ और समाविष्ट करते हैं, वे अपने को प्रवञ्चित करते है। तथ्य यह है कि हम अपने आप से बाहर कभी जा ही नही सकते। जब हम बोलते हैं, अपने विषय मे बोलते है। समस्त आलोचना तत्त्वत आत्मकथात्मक है। एनातोल फ्रान्स का कहना है, "अच्छा आलोचक वही है जो उत्कृष्ट रचनाओ मे अपनी आत्मा का भ्रमण वर्णित करता है।" जब वह कोई व्याख्यान देने जाता है तो घोषित करता है, "भद्र पुरुषो, मैं आपसे शेक्सपिअर, अथवा रैसीन, अथवा पैस्कल, अथवा गटे के विषयो द्वारा अपने पर आप से कुछ कहूँगा। ये विषय ऐसे हैं जो आत्मव्यञ्जना के लिए मुझे सुन्दर अवकाश देते है।" अङ्कप्राधान्यवादी

आलोचक को वस्तुएँ वही तक आकृष्ट करती है जहाँ तक वह उनके द्वारा आत्माभिव्यञ्जन मे सफल हो। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भागता है और उनसे सुख के क्षण सहसा ग्रहण करता है। उसका विश्वास है कि प्रकृतिव्यापार स्थायी नही है वरन् गतिशील है। सब वस्तुएँ आपेक्षिक है। फ्रुज लैमेटर का कथन है, "आलोचना दूसरे साहित्यिक वर्गो की तरह ससार के पुनर्चित्रण को उतना ही वैयक्तिक और आपेक्षिक मानती है जितना कि वे। वह आलोचना का विकास यो चिह्नित करता है—पहले वह स्वमतासक्त थी, फिर ऐतिहासिक और वैज्ञानिक हुई और अब वह पुस्तको से आनन्द प्राप्त करने और उनके द्वारा अपने मनाङ्को को सम्पन्न करने की केवल साधन मात्र है। अपने अभ्यास का वर्णन करते हुए वह लिखता है—"मैं फैसला नही देता मै तो अपनी अनुमति व्यक्त करता हूँ।" जैसा ऑस्कर वाइल्ड का कथन है, अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक तो हमे अपने अस्तित्व के तथ्य से अवगत करता है, और फलत हम उससे आत्मसस्कृति के अतिरिक्त किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति की माँग नही कर सकते। अङ्कप्राधान्यवाद सम्बन्धी आलोचना हम जैसे व्यक्तियो के आनन्दमय क्षणो की हमे अनुभूति देती है। अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न अपने 'द न्यू क्रिटीसिज्म' नामक लेक्चर मे आलोचना की व्याख्या इस प्रकार करता है—"किसी कलाकृति की उपस्थिति मे सवेदनाएँ अनुभव करना और उन्हे उपयुक्त साधनो से व्यक्त करना, यही अङ्कप्राधान्यवादी आलोचक का कर्त्तव्य है।" कृति के प्रति आलोचक का यह भाव होगा, "सम्मुख एक सुन्दर कविता है, मान लो कि शैली का 'प्रोमीथ्यूम अनवाउण्ड'।" मेरे लिये इसका पढना इससे रोमाञ्चित होना है। मेरा रोमाञ्चित होना ही कविता पर मेरा फैसला है और इससे अधिक सन्तोषजनक फैसला देना मेरे लिये असम्भव है। जो कुछ मैं इस कविता के विषय मे कह सकता हूँ वह यही है कि वह मुझे इस तरह प्रभावित करती है और मुझे ऐसी-ऐसी संवेदनाएँ देती है। दूसरे पाठक इस कविता से दूसरे तरह की सवेदनाएँ पायेगे और उन्हे दूसरी तरह व्यक्त करेंगे, उन्हे भी वैसा ही अधिकार है जैसा मुझे। हम मे से हर कोई यदि वह वाह्य और अन्तर्जगत् से प्रभावित होता है और प्रभावाभिव्यञ्जक क्षमता रखता है तो एक नई रचना की सृष्टि करेगा जो उस पुरानी रचना की जगह ले सकती है जिससे वह प्रभावित हुआ था। यही आलोचना कला है और इससे परे आलोचना जा ही नही सकती।

अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना की मनोविज्ञान भी पुष्टि करता है। जब कि विज्ञान हमे असन्दिग्ध सन्देश देता है कला हमे उतने सन्देश देती है जितने पाठक, श्रोता, अथवा दर्शक होते है। जब हम बहुत से पाठक रेखागणित के किसी प्रमेयोपपाद्य अथवा वस्तूपपाद्य को पढते हैं तो हम सब को एक सा ही ज्ञान होता है, परन्तु जब हम कोई सङ्गीत प्रणयन सुनते हैं तो हम सब उसके अलग-अलग अर्थ करते हैं। कला का लक्षण अनेक विकारत्व और अनेकानुकूलता है। अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना इसी तथ्य की मान्यता है। आलोचना के नाते निस्सन्देह वह अधिक मूल्य की नही है। उसमे न तो साहित्य का ही मूल्याङ्कन है और

न उन सिद्धान्तो का जिनके ऊपर साहित्य आधारित है। जैसे रचनात्मक आलोचना हमारा अनुराग एक कृति से दूसरी कृति की ओर ले जाती है वैसे ही अङ्कप्राधान्यवादी आलाचना हमारा अनुराग एक कृति से दूसरी कृति की ओर ले जाती है। परन्तु जबकि रचनात्मक आलोचना मे साहित्य का कुछ अचेतन मूल्याङ्कन होता है, अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना मे मूल्याङ्कन तनिक भी नही होता। अङ्कप्राधान्यवादी आलोचना मे तो हमे साहित्य से प्राप्त मनाङ्को द्वारा उत्तेजित भावगति का वृतान्त मिलता है। इसलिये वह आलोचना छायावत है, और यदि साहित्य भी जिसकी वह आलोचना है अङ्कप्राधान्यवादी हो तो, वह छाया की भी छाया है।

६

जूल्ज लैमेटर अपने 'लेज़ कण्टैम्पोरेन्स' मे एक नये प्रकार की रचनात्मक आलोचना की सूचना देता है। उसका उदाहरण एम० पौल बर्गेट मे मिलता है। एम० पौल बर्गेट के हाथो मे आलोचना अपने पास और नैतिक विकास की कहानी हो जाती है। यह आलोचना अहङ्कारवादी आलोचना कही जा सकती है। एम० पौल बर्गेट का मानसिक विकास आधुनिक साहित्य के आधार पर हुआ है, पुराने साहित्य से वह बहुत कम अवगत है। फलत उसकी आलोचनात्मक क्रियाशीलता पिछले तीस वर्षो के ऐसे लेखको तक सीमित है जिनके विचार और जिनकी भावनाएँ उसके अनुकूल है। न वह उन लेखको के चरित्र का चित्रण करता है, न वह उनका जीवन वृत्तान्त देता है, न वह उनकी रचनाओ का विश्लेषण करता है, न वह उनकी लेखन शैली का अध्ययन करता है, न वह उन अङ्को को जो उनकी रचनाओ से उसके मन पर पडते है स्पष्ट करता है, वह तो केवल उन भावो और मानस्कि अवस्थाओ का वर्णन करता जिन्हे उसने अनुकरण अथवा सहानुभूति द्वारा अपना लिया है। इस प्रकार वास्तव मे चाहे वह अपने मानसिक विकास का इतिहास ही देता है, तो भी साथ साथ अपने समय की मौलिक भावनाओ का भी विवरण देता है और एक तरह से अपने काल के नैतिक इतिहास का एक खण्ड तैयार करता है।

रचनात्मक आलोचना कोई नई वस्तु नही है। उसका अभ्यास सदा से चला आता है। एक काल ऐसा होता है जिसमे रचनात्मक क्रिया अपनी पराकाष्ठा पर होती है। इसके पीछे अनुकरण काल आता है। यह काल पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली कलाकारो की रचनाओ से नियम निकालता है और उन्हे कठोरता से लागू करता है। पुन सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनो से एक नये काल की सृष्टि होती है जिसमे सौन्दर्य के नये रूप प्रकट होते हैं। इन नये रूपो से चकित होकर आलोचक पुराने नियमो का अविश्वास करने लगते हैं और अपनी रसज्ञ मूल प्रवृत्ति और अपने सुखानुभव के आश्वासन पर भरोसा करने लगते हैं। इस प्रका, जब प्राचीन यूनान मे बहुत समय तक अलङ्कारशास्त्र सम्बन्धी नियमो का

परिपालन रहा तब लॉञ्जायनस आया जिसने चित्तोत्सेक के सर्वोच्च मानदण्ड का पक्ष पौषित किया। इसी तरह जब सोलहवी शताब्दी मे अरिस्टॉटल का प्रभुत्व व्याप्त था तब सिन्थियो जैराल्डी उठ खडा हुआ जिसने अरिस्टॉटल के नियमो के विरुद्ध रोमास की स्वच्छन्दता को न्यायसङ्गत बताया, और पैट्रिजी उठ खडा हुआ जिसने इस बात पर जोर दिया कि काव्य के लिये विषय-वस्तु की विशेषता निरर्थक है। उसने सुझाया कि प्रत्येक बिषय-वस्तु उपयुक्त है यदि उसका निरूपण काव्यमय शैली मे हो। इसी तरह अठारहवी शताब्दी मे ग्रै, जोजफ वार्टन, और हर्ड ने उन नवशास्त्रीय नियमो की अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह घोषित किया जिनके परिपालन से उस शताब्दी मे काव्यप्रणयन होता था। शास्त्रीयता के विरोध मे रोमान्सवादित्व, वास्तविकता के विरोध मे आत्मीयता और उपयोगिता के विरोध में सौन्दर्यनिरूपण—ये विधिविरोध इतने पुरातन है जितनी स्वयम् आलोचना। पेटर, स्विनवर्न, और साइमन्स हाल के ऐसे उदाहरण है जिनकी रचना पिछली उन्नीसवी शताब्दी की रूढिबद्ध रचना की प्रतिक्रिया है।

———

३

व्याख्यात्मक आलोचना
(इन्टरप्रेटेटिव क्रिटीसिज़्म)

बहुत वर्षों तक आलोचना मे रूढिवाद की ध्वनि ही प्रबल थी। अरिस्टॉटल, हौरेस, और इन्ही के आधार पर पुनरुत्थानकालीन इटली और फ्रान्स के आलोचको के बनाये हुए नियम कठोरता से साहित्य समीक्षा मे प्रयुक्त होते थे। फलत एक लेखक के पश्चात् दूसरा लेखक आलोचक द्वारा दूषित और अपवादित होता था। रायमर जिसे पोप इङ्गलैण्ड का उच्चतम आलोचक कहता है, शेक्सपिअर के विषय मे यह लिखता है—"दुखान्त मे वह अपने मूलद्रव्य से बाहर है। उसका मस्तिष्क फिरा हुआ है, वह पागलो की तरह चिल्लाता है और असङ्गत बाते बकता है, न उसमे बुद्धि है और न उसे स्वच्छन्दता से रोकने के लिये उसके ऊपर नियमो का नियन्त्रण है।" ऑथेलो के विषय मे लिखता है—"इस दु खान्त मे वस्तु का कुछ लेश है परन्तु यह बडा दूषित लेश है। डैस्डैमोना का हब्शी को प्रेम करना उपहास्य है, इससे अधिक उपहास्य उसका ऑथेलो की साहसिक कथाओ से आकर्षित होना, और इससे भी अधिक उपहास्य यह बात है कि एक हब्शी को वैनिस मे सेनापति बनाया जाय। पात्रो मे तनिक भी सत्याभास नही। इआगो सैनिक वर्ग से बिल्कुल हटा हुआ है। सैनिक स्पष्टहृदय, निष्कपट, ओर शुद्धाचरण होता है। इआगो गोपनप्रिय, कपटी, और अशुद्धाचरणी है।" कट्टर रुढिवादी आलोचको की आलोचनाएँ इसी ढङ्ग की हैं। लॉर्ड लैन्सडाउन ने 'अननैचरल फ्लाइट्स इन पोइट्री' मे सेक्सपिअर के आतमक्त भाषणो पर कोई ध्यान ही न दिया क्योकि उसके मतानुसार सब अस्वाभाविक और तर्कहीन है। यही ध्वनि

वॉल्टेअर की है। वह शेक्सपिअर के दु खान्तो को वीभत्स प्रहसन कहता है। उसका मत है कि प्रकृति ने शेक्सपिअर को महान् और उत्कृष्ट गुणो के साथ-साथ अधम और अपकृष्ट गुण दिये थे, उसमे वे सब बाते थी जो प्रतिभाहीन असभ्य पुरुष मे होती है, उसकी कविता उन्मद जाङ्गल की कल्पना का फल है। वॉल्टेअर के विचार से एडीसन का 'केटो' उत्कृष्ट दु खान्त का उदाहरण है। ड्राइडन को अफसोस होता है कि स्पेन्सर ने इतनी बुरी नवपदी क्यो ग्रहण की और 'फेअरी क्वीन' के ढाँचे का अनुमोदन करता है। जब ड्राइडन मिल्टन के 'पैरैडाइज लॉस्ट' की ओर दृष्टि डालता है तो इस निर्णय पर पहुँचता है कि, क्योकि स्वग मे एडम को हार मिलती है, तो डैविल ही वास्तव मे मिल्टन का नायक है। इस आलोचना मे ड्राइडन अरिस्टॉटल से प्रभावित है जो महाकाव्य के लिये नैतिक वस्तु को अधिक उपयुक्त समझता था। एडम, क्योकि वह निष्पाप था कलङ्कित नही होना चाहिये था। एडीसन की 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की आलोचना का आधार भी अरिस्टॉटल है। पहला दोष जो एडीसन मिल्टन के महाकाव्य मे पाता है वह है कि उसका अन्त दु.खमय है। अरिस्टॉटल ने कहा था कि महाकाव्य का अन्त सुखमय होना अधिक उपयुक्त है। यह रुढिगत स्वमतासक्त ध्वनि जॉनसन के निर्णयो मे भी कम स्पष्ट नही है। स्पैन्सर के विषय मे कहता है कि उसकी नवपदी एकदम कठिन और अप्रिय है, उसकी एकरूपता कानो को थकाती है और उसकी लम्बाई ध्यान को अस्थिर करती है। शेक्सपिअर के विषय मे कहता है कि वह अपने दु खान्तो के लिये शब्दयोजना मे बहुत तुच्छता तक उतर जाता है और भाषा को हर प्रकार से भ्रष्ट करने पर उद्यत रहता है। मिल्टन के विषय मे कहता है कि उसकी कविता 'लिसीडाज़' कर्णकटु है, उसके 'कोमस' के गीत लक्षण नियम मे सङ्गीतानुकूल नही है, और उसके सबसे बढिया सौनेटो के बारे मे यही कहा जा सकता है कि वे बुरे नही है।

परन्तु जैसे-जैसे साहित्य की वृद्धि हुई और पाठको की रुचि साहित्य के इतिहास की ओर गई, यह सब को स्पष्ट हो गया कि शास्त्रीय नियम सर्वाङ्गी और सुघटित नही है। ड्राइडन, एडीसन, और जॉनसन जिन्होने इन्हे ग्रहण किया था, जगह-जगह पर इनसे असहमत हैं। ऐलीजैबैथ के काल के दु खान्त नाटको पर रायमर की आलोचना के विषय मे ड्राइडन कहता है,"यह कह देना कि अरिस्टॉटल का यह निर्देश है, काफी नही है। अरिस्टॉटल ने दु खान्त के वे आदर्श जिन पर उसके नियम आधारित थे, सोफोक्लीज और यूरीपीडीज़ मे पाये थे। यदि वह हमारे नाटक देख लेता, तो अपने नियम बदल देता।" पैरैडाइज़ लॉस्ट मे मिल्टन के पात्रो पर विचार करते हुए, एडीसन भी अरिस्टॉटल से अपनी असम्मति ऐसे ही शब्दो मे प्रकट करता है—"इस विषय मे और थोडे से कुछ और विषयो मे अरिस्टाटल के महाकाव्य सम्बन्धी नियम उन वीररस प्रधान काव्यो पर ठीक-ठीक लागू नही होते जो उसके काल के पश्चात् लिखे गये हैं। यह स्पष्ट है कि उसके नियम और भी पूर्ण होते यदि वह 'एनीड' को और पढ लेता जो उसकी मृत्यु के सौ-बर्ष पश्चात् लिखी गई थी।" जॉनसन मानता है कि शेक्सपिअर का अपने नाटको मे करुण और हास्य रसों का मिलना शास्त्रीय प्रथा के विपरीत है परन्तु उसका कहना है कि आलोचना के नियमो से परे प्राकृतिक

भी परवाह नही करता कि यह सत्य है या असत्य । इन सब बातो को ही अर्थवाद कहते है और तात्पर्य निर्णय करने मे इन्हे छोड देते हैं । अर्थवाद के पश्चात् उपपत्ति की ओर ध्यान दिया जाता है । किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिये बाधक प्रमाणो का खण्डन करना और साधक प्रमाणो का तर्कशास्त्रानुसार मण्डन करना उपपत्ति कहा जाता है । अर्थवाद से आनुषङ्गिक और अप्रधान विषयो का निश्चय हो जाता है, और उपपत्ति से हेत द्वारा प्रस्तुत विषयो का निश्चय हो जाता है । इस प्रकार उपक्रम और उपसहार दोनो के बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति परिष्कृत कर देते है और तात्पर्य का निर्णय हो जाता है ।

इन सिद्धान्तो की व्यापकता असन्दिग्ध है । पाश्चात्य वाग्मिता और साहित्यशास्त्रो मे प्राचीनकाल से ही निर्माण और व्याख्या के नियम बडे विस्तार से दिये गये है। उल्लेखनीय एरिस्टाटल की 'रेट्रिक' और क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीटचूट्स रयटम ऑफ ऑरेटरी' है ।

२

जब किसी कृति की व्याख्या के लिये व्याख्याता लेखक के समय के इतिहास का तथा उससे पहले के इतिहास का सहारा लेता है तो उसकी व्याख्या-पद्धति ऐतिहासिक कहलाती है ।

साहित्य, सामाजिक उत्पादन है । वह उस काल के जीवन को प्रतिविम्बित करता है जहाँ से उसका उद्गम होता है, काल की सूक्ष्मतर आत्मा को प्रतिविम्बित करता है, उसके स्थूल भौतिक वातावरण को नही । ऐसे प्रेरक हेतु जो काल की आर्थिक, राजनैतिक, और दार्शनिक पूर्वधारणाओ से निश्चित होते हैं साहित्य मे नग्न प्रदर्शित किये जाते है । उदाहरणार्थ, एडवर्ड तृतीय के दरबार की रोमासवादी आदर्शवादिता तत्कालीन गिर्जाघरो के दुराचार, और सस्कृत प्राधान्यवाद (ह्यमैनिज्म) के वे प्रभाव जो प्रकृति और गृहस्थ जीवन सौन्दर्य की वर्धित चेतना मे दीख पडते हैं, चॉसर की कविता मे स्पष्टतया अनुपादित है, एलीजैवेथ काल के साहित्य मे अग्रेजो की घनीभूत देशभक्ति भावना ही की छाया नही मिलती वरन् उनकी आत्मा के उस विस्तार की भी जो पुनरुत्थान काल के धार्मिक सुधार, आविष्कृत छापेखाने द्वारा ज्ञान के प्रचार और प्रदेशख्यापन के प्रभावी से हुआ, पुनरानयन (रैस्टोरेशन) काल के साहित्य की गिरी हुई नैतिक ध्वनि चार्ल्स द्वितीय के दरबारियो की वास्तविकता और उनके व्यभिचार की द्योतक है और उसकी नीरसता इस बात की कि प्रजा गम्भीर उद्देश्यो से पूर्णतया उदासीन थी, रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृतिवाद, जर्मनी के बोधातिरिक्त तत्त्वज्ञान और भूत के पुन प्रवर्तन के प्रभाव उन्नीसवी शताब्दी के रोमासिक (रोमाण्टिक) साहित्य मे भली प्रकार देखे जा सकते हैं, विक्टोरिया के काल का साहित्य प्रजातन्त्रवाद की वृद्धि, मानवहित प्राधान्यवादी (ह्यूमैनीटेरियनिज्म) उत्साह विज्ञान की

प्रगति श्रौर उसका धर्म से सङ्घर्ष जीवन की वर्धमान जटिलताएँ श्रौर उनको सुलझाने की योजनाएँ श्रौर कला के पुनर्जन्म से श्रनुप्राणित है, श्रौर स्वमतासक्ति श्रौर विश्वास के विनाश से श्राई बेचैनी श्रौर घबराहट, विभिन्न प्रिय मतो की निष्फलता श्रौर प्रतियोगी सत्यो के दावे श्राज कल के साहित्य मे प्रदर्शित है।

प्राचीन ससार मे साहित्य को तत्कालीन सामाजिक श्रौर राजनीतिक दशाश्रो से सम्बद्ध करने के प्रयास हुए थे। होमर कहता है, "दासता का दिन हमारे श्राधे गुण हमसे छीन लेता है। स्वामी, दास के प्रति चाहे जितनी उदारता से व्यवहार करे, दासता श्रात्मा की सङ्कीर्णता और उसकी निष्क्रियता का कारण होती है।" कोई दास न तो सुलेखक हो सकता है, न सुवक्ता, प्रजातन्त्रवाद सब महान् गुणो की खान है, शक्तिशाली साहित्यकार स्वतन्त्र शासन मे ही श्रपना यौवन प्राप्त करते है श्रौर उसके समाप्त होते ही श्रन्त हो जाते है—यह प्राचीन जगत् की जनता की श्राम पुकारे थी। टैसीटस साहित्य कला को स्वातन्त्र्य की पोष्यपुत्री कहता है। लॉन्जायनस भी श्रपने समय मे महान् साहित्य के श्रभाव पर दृष्टि डालता हुश्रा मानता है कि इसका कारण प्रजातन्त्रवाद से जो उत्तेजना मिलती है उसका श्रभाव हो सकता है, परन्तु वह जातिगत सासारिक धन्धो मे लिप्तता को श्रधिक बलवान कारण समझता है। श्राधुनिक ससार मे भी उस प्रभाव का श्रच्छा श्रध्ययन हुश्रा है जो ऐतिहासिक परिस्थितियो के साहित्य पर पडता है। बेकन के साहित्यिक इतिहास के विषय मे बडे ऊँचे विचार है। साहित्यिक इतिहासकार उसके मतानुसार, साहित्य रचना को उसके उद्गम राजनीतिक और धार्मिक जीवन से सम्बन्धित करता है, श्रौर साहित्य के विकास मे प्रत्येक काल की प्रतिभा को चित्रित करता है। मिल्टन शास्त्रीय विचार को फिर से दृढ करता है कि राजनीतिक स्वातन्त्र्य महान साहित्य के उत्पादन के लिये श्रति श्रावश्यक है। ड्राइडन का कथन है कि प्रत्येक जाति श्रथवा काल की श्रपनी प्रतिभा होती है, जलवायु का भी मनुष्य स्वभाव पर प्रभाव पडता है श्रौर मनुष्यो की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न कालो श्रौर स्थानो मे भिन्न-भिन्न होती हैं तथा इसी विभिन्नता से रुचि श्रौर कला मे विभिन्नता श्राती है। हॉब्स साहित्यिक रूपो का ऐतिहासिक विवरण देता है। वे वाह्य जगत् के विभागो से निर्दिष्ट होते हैं—महाकाव्य श्रौर दुःखान्त राजदरबारी जीवन से, सुखान्त श्रौर भी व्यग्यपूर्ण कविताएँ नागरिक जीवन से, श्रौर जान-पदकाव्य (पैस्टोरल) ग्राम्य जीवन से। उसका यह भी तर्क है कि शैली के तत्व मानवाचार के परिचय से आते हैं—मनुष्य स्वभाव के विशद, स्पष्ट श्रौर घनिष्ट ज्ञान से शैली मे उपयुक्तता श्रौर वैशद्य श्राते हैं श्रौर चरित्र-चित्रण मे श्रौचित्य श्राता है, मनुष्य स्वभाव के विस्तृत ज्ञान से अभिव्यञ्जना मे अपूर्वता श्रौर वैचित्र्य श्राते है। कारलायल की साहित्यालोचना का प्रधान रस ऐतिहासिक है, कविता जीवित इतिहास है श्रौर कवि की निष्पत्ति उसके श्रपने इतिहास श्रौर जाति के इतिहास से होती है। मैथ्यू श्रार्नल्ड कहता है कि उत्कृष्ट साहित्य के उत्पादन के लिये मनुष्य की शक्ति श्रथवा प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है वरन् साथ ही साथ शक्तिवान् श्रथवा प्रतिभाशाली

लेखक का जीवन ऐसे काल मे हो जिसमे उत्कृष्ट भावो और विचारो का असामान्य मात्रा मे सञ्चार हो। सञ्चारित भावो और विचारो की शक्ति को वह कालशक्ति कहता है। अपने पक्ष की पुष्टि मे वह यूनान के पिण्डार और सौफोक्लीज़ और इङ्गलेण्ड के शेक्सपिअर के उदाहरण देता है। तीनो के महान् कवि होने का कारण यही है कि उनके समय के यूनान और इङ्गलैण्ड मे ऐसे भावो और विचारो का सञ्चार था जो रचनात्मक शक्ति के लिये उच्चतम परिमाण मे पोषक और जीवनप्रद होते है। इसके विपरीत वह जर्मनी के हीन और इङ्गलैण्ड के बायरन की ओर सङ्केत करता है जो महान् पद पाने मे निष्फल रहे, क्योकि पहले कवि के सम्बन्ध मे मानुषिक शक्ति और दूसरे कवि के सम्बन्ध मे कालशक्ति का अभाव था। फिर्डिक श्लाजल उन चार शक्तियो का जिक्र करता है जो मनुष्यो को सम्बद्ध करती है और उनको और उनकी प्रकृतियो को निर्दिष्ट करती है—धन और व्यापार की शक्ति, राष्ट्रशक्ति, धर्मशक्ति, और प्रज्ञशक्ति। सबसे पिछली शक्ति को वह साहित्य मानता है। साहित्य उसकी राय मे किसी जाति के प्रज्ञा जीवन का सर्वाङ्गी सार है। फलत उसका निर्णय यही है कि साहित्यालोचन मनुष्य के प्राज्ञ जीवन के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरी बात नही है। टी० एस० ईलियट का विचार है कि किसी काल की आलोचनात्मक शैली उस काल की सांस्कृतिक दशा से निश्चित होती है और इसी कारण से प्रत्येक नया काल अपनी आलोचना आविष्कृत करता है और लेखको और उनकी कृतियो के मूल्याङ्कन के लिये नये निर्देश देता है।

इस विषय मे अंग्रेजी साहित्य के फ्रेञ्च इतिहासकार टेन का महत्व इतना भारी है कि हम उसका अलग से जिक्र करते है। वह ऐतिहासिक पद्धति का उचित स्पष्टीकरण ही नही करता वरन् उसका विस्तृत प्रयोग भी करता है। प्रत्येक कृति मे उसके लेखक की भावात्मक और विचारात्मक रूढि सुरक्षित रहती है। यदि हम लेखक के जीवन को भली-भाँति समझ ले तो उसकी कृति मे सुरक्षित उसके भाव और विचार भलीभाँति समझ मे आ जाये। बस, लेखको का ऐतिहासिक अध्ययन व्याख्याता का परम कर्तव्य है। इतिहास को प्राणिशास्त्र की तरह शरीरव्यवच्छेद विद्या प्राप्त हो गई है। पुनश्चिन्तरण(रेजोल्यूशन) से धारणा अथवा सङ्कल्प रेजोल्यूशन की ओर जाना ही मानसिक विकास का नियम है और पुनश्चिन्तरण से धारणा अथवा सङ्कल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता से ही मनुष्य स्वभाव की विभिन्नता निर्दिष्ट होती है। पुनश्चिन्तरण से धारणा अथवा सङ्कल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता तीन शक्तिओ से निश्चित होती है—जाति, परिस्थिति और विशिष्ट काल। जाति से तात्पर्य उन जन्मजात और पैतृक प्रवृत्तियो से है जिन्हे लेकर मनुष्य इस जगत् मे पैदा होता है और जो शारीरिक निर्माण और मानसिक स्वभाव की विभिन्नता मे निहित रहती है। यह प्रवृत्तियाँ जाति-जाति मे भिन्न होती है। आर्यजाति की प्रवृत्तियाँ मुगल जाति की प्रवृत्तियो से और मुगल जाति की प्रवृत्तियाँ आर्यजाति अथवा सैमाइट जाति की प्रवृत्तियो से भिन्न मिलगी यद्यपि यह जातियाँ पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्रो मे फैली हुई

है और अनेक उपजातियो मे विभक्त हो गई है। आर्य जाति गङ्गा नदी से लेकर हैम्ब्रीडीज द्वीपो तक फैली हुई है और उसकी उपजातियाँ विभिन्न देशो की जलवायु से और हजारो वर्षों की क्रान्तियो से एक-दूसरी से भिन्न हो गई हैं, किन्तु तो भी वह अपनी भाषाओ, धर्मों, साहित्यो, और दर्शनो मे रक्त और बुद्धि की समानता प्रदर्शित करती है। आद्य प्रवृत्तियाँ भौतिक और सामाजिक दशाओ से प्रभावित होती है। इन्हे टेन परिस्थिति कहता है। परिस्थिति और स्वभाव दोनो बहुत काल तक साथ-साथ क्रियाशील होकर ऐसे विचार, भावगतियाँ और स्फूर्तियाँ उत्पन्न करते हैं जो उस उपजाति की विशेषताएँ हो जाती है जिसमे वे विकसित होती है। आर्य जाति के स्वभाव की विभिन्नता जैसे-जेसे वह भिन्न दशाओ मे निर्णीत हुई उदाहरणीय हे। जर्मन उपजाति मे, जिस का निवास ठण्डे, आर्द्र देश मे, ऊबड-खाबड दलदले जङ्गलो मे,अथवा एक प्रचण्ड महासागर के तट पर हुआ, हिसा, अतिभक्षण और मदिरापान, लडने और खून बहाने की प्रवृत्तिया आ गई है, यूनानी उपजाति ने जो रम्य प्रदेश मे और चमकीले मनोहर समुद्रतट पर रहती आई हे और जो सदा शान्तिमय उद्यम मे सलग्न रही है, कलात्मक और वैज्ञानिक स्वभाव की वृद्धि की हे, जिस राष्ट्रनीति ने इटली की एक सभ्यता को लोलुप बनाया उसी ने दूसरी सभ्यता को विलासप्रिय बनाया, चिरकालीन अविरत आक्रमणो से निष्पन्न सामाजिक दशाओ ने हिन्दुओ के मस्तिष्क मे त्याग,अहिंसा, और विश्वव्यापी असारता के भाव भर दिये हैं, आठ शताब्दियो के राजनीतिक सस्थापन ने अग्रेजो को उच्छृत और आदरणीय, स्वतन्त्र और आज्ञाकारी तथा सार्वजनिक कल्याण के लिये सन्नद्ध बना दिया है। किसी जाति के लिये परिस्थिति वही काम करती है जो किसी व्यक्ति के लिये शिक्षा, जीवनवृत्ति और निवास-स्थान। परिस्थिति मे इन सब बाह्य शक्तियो का समावेश हे जो मानव पदार्थ को रूप देती है। जाति और परिस्थिति की शक्तियो के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति है जो मानव मात्र के लिये सहायक होती है। इसे टेन, युग (एपौक) कहता हे। यह शक्ति पहली दोनो शक्तियो से प्राप्त दशा के परिणाम रूप मे प्रकट होती हे। किसी विशेष समय तक जो प्रगति हुई है, उनका प्रभाव राष्ट्रीय प्रतिभा और परिस्थिति के प्रभावो से मिल जाता है और यह सम्मिश्रित प्रभाव रचनात्मक मन को एक विशेष झुकाव और निर्देश दे देता हे। कौर्निल के समय का फ्रासीसी दुखान्त वौल्टेअर के समय के दुखान्त से भिन्न है, एसकीलस के समय का यूनानी नाटक यूरीपीडीज के समय के नाटक से भिन्न हे, डॉ० विन्साई के समय की इटली की चित्रकला गाइडो के समय की चित्रकला से भिन्न है। इसका कारण यही है कि यद्यपि दुखान्त का मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहा है, उत्तराधिकारी को अग्रगामी लेखक की कृति का लाभ मिला है। उलटी तरह से यो समझ सकते है कि शेक्सपिअर आर्यों की उसी उपजाति का व्यक्ति होता हुआ और उसी प्रदेश मे निवास करता हुआ यदि बीसवी शताब्दी मे पैदा होता तो वह उस तरह का नाटक न लिखता जैसा कि उसने सोलहवी शताब्दी के अन्त और सतरहवी शताब्दी के आरम्भ मे लिखा, युग प्रभाव से उसकी प्रतिभा और तरह की हो जाती। यह

तीनो शक्तियाँ, जाति अथवा आन्तरिक शक्तिप्रभाव, परिस्थिति अथवा वाह्य बल, युग अथवा प्राप्त गतिवेग, सभी सम्भावित अथवा वास्तविक कारण है जिनसे मनुष्य की सास्कृतिक प्रगति निश्चित होती है। टेन का मत है कि इनसे परे और चौथी कोई शक्ति नही जिससे मनुष्य प्रभावित होता हो।

इन सिद्धान्तो का विवरण टेन अपनी 'हिस्ट्री ऑफ इग्लिश लिटरेचर' की भूमिका मे देता है। ये सिद्धान्त सर्वाङ्गी नही है। यह विस्तृत, व्यापक और निर्णायक शक्तियाँ जो मनुष्यो को आगे बढाय लिये जाती है, पर्याप्त नही है। प्रत्येक मनुष्य मे एक ऐसा विशिष्ट गुण भी पाया जाता है जिसके कारण वह विचित्र और अनवगम्य होता है, और इसी विशिष्ट गुण से मनुष्य के व्यक्तित्व मे वह अद्भुत विशेषता आ जाती है जिसका आविर्भाव ही साहित्य का प्रधान आकर्षण है। टेन ने इस पर ध्यान न देने से अपने अग्रेजी-साहित्य के इतिहास को दोषपूर्ण बना लिया। टेन क्रम से प्रत्येक काल की प्रतिनिध्यात्मक कृतियो और लेखको का अध्ययन करता है और उसकी सर्वोत्तम आलोचनाएँ अपने सिद्धान्तो की उपेक्षा मे ही है।

व्याख्यात्मक आलोचक ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग साहित्य समझने के लिये करता है। वह इस पद्धति को वैज्ञानिक की तरह इस्तेमाल नही करता कि साहित्य को समाजशास्त्र विषयक तथ्य समझे और उन तथ्यो मे निविष्ट हेतुओ की खोज करे। इस प्रकार की हेतुसिद्धि उसका मुख्य कर्तव्य नही है, यद्यपि अपने उद्देश्य की ओर बढता हुआ वह यह भी कर सकता है। उसकी धारणा तो यह होती है कि समस्त साहित्य मे जो पुराने समय से वर्तमान समय तक आता है, एक अनुभवी आत्मा दूसरी से समय की बृहत् खाडी पार करती हुई बोलती है। इस आत्मा के ठीक तात्पर्य को वह कल्पनात्मक सहानुभूति की सहायता से ही उसके समय के जीवन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके समझ सकता है। अतः ऐसी दैविक सहानुभूति की दृष्टि से वह उन सर्वव्यापी शक्तियो का अध्ययन करता है जिनके खेल मे पुरानी आत्माओ ने अपने मनो और कल्पनाओ मे उस समय पृथ्वी और आकाश की एक विशिष्ट चित्तसृष्टि का निर्माण किया था।

२

साहित्य आगामी पाठको के आनन्द के लिये प्रतिभाशाली लेखको की भावनाओ का सञ्चय करता है। इन भावनाओ की विशेषता निश्चित करने के लिये सर्वव्यापी शक्तियो का मूल्याङ्कन ही पर्याप्त नही है। जाति, परिस्थिति, और युग—यह तीनो सर्वव्यापी शक्तियाँ कृति मे साहित्यकार के व्यक्तित्व द्वारा पुञ्जीभूत होती हैं। व्यक्तित्व द्वारा ही रचनात्मक प्रयास मे रचना की सिद्धि होती है और व्यक्तित्व का विकास जीवन द्वारा होता है, इसलिये साहित्यकार के जीवन का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जीवनचरित सम्बन्धी व्याख्या पद्धति ऐतिहासिक व्याख्या को पूर्ण करती है।

साहित्य का जीवनचरित सम्बन्धी अध्ययन हाल ही मे हुआ है। मध्यकालीन लेखक अधिकाश निम्नवर्ग के होते थे। और उनका कार्य प्राचीन सत्यो और परम्पराओ का सम्प्रेषण होता था। अतएव उनकी कृतियो और उनके जीवन मे कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नही होता था। सोलहवी शताब्दी मे जब साहित्य का पुनरुत्थान हुआ, तब ऐस लेखको की सख्या बढी जिन्होने साहित्य मे अपनी स्वतन्त्र जीवन-व्याख्या और जीवन-दृष्टि व्यक्त की। ऐसे लेखको की सख्या की वृद्धि के साथ-साथ ही लेखको के जीवनचरित मे रुचि बढी। फिर भी आदि के जीवनचरितकार, वाल्टन, फुलर, एडवर्ड फिलिप्स, ऑब्रे, वुड, ओल्ड्स और किवर, कवियो क जीवन की मनोरञ्जक सामग्री के रूप मे ही प्रयोग करते ह। कभी-कभी तो व कवियो के विषय मे बडी अमूल्य सूचना देते हे, परन्तु ज्यादातर उल्लिखित बाते तुच्छ, ऊपरी और आकस्मिक होती है, ऐसी बहुत कम होती हे जो गौरवपूर्ण, आभ्यन्तर और सारभूत हो और उनकी कृतियो पर प्रकाश डालती हो। आशानुसार ड्राइडन असाधारण है। उसके लिखे हुए लुशियन और प्लूटार्क क जीवनचरितो म जीवनचरित और आलोचना का वह अपूर्व सम्मिश्रण मिलता हे जो डाक्टर जॉनसन की आलोचना की विशेष देन ह। अपने प्रस्तावनात्मक कथनो मे भी पहले पहल वह ही उन प्रभावो का निरुपण करता है जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्व बनता है। 'फेब्ल्स' के प्राक्कथन म वह लिखता ह, "मिल्टन स्पेंसर का सच्चा काव्यमय पुत्र था और मिस्टर वॉलर, फेअर-फैक्स का, क्योकि हम कवियो को भी जाति, परिवार और वशपरम्परा वैसी ही होती हे जैसी और लोगो की। स्पेन्सर अनेक बार सङ्केत देता है कि चॉसर की आत्मा उसके शरीर मे निविष्ट थी और चॉसर ने अपनी मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद उसे जन्म दिया।" जैसा पहले सङ्केत कर चुके हे, जॉनसन की लाइन्ज ऑफ द पोइट्स' मे लेखक के जीवन का उसकी कृतियो से निकटतम सम्बन्ध दिखाया गया है। कवियो के जीवन के विषय मे जब वह तथ्यो का वर्णन करता है तो वह प्रसङ्गानुकूल चाहे जितने उपाख्यान दे व्यर्थ के प्रलाप मे नही पडता; उनके चरित्रो का विश्लषण सारपूर्ण होता है और यदि जॉनसन के आलोचनात्मक सम्प्रदाय का ख्याल न करे, उनकी कृतियो की आलोचना न्यायपूर्ण होती है। जॉनसन हैजलिट जैफ्रे, हैलम, मैकोले, कार्लायल और अन्य ऐसे आलोचको तथा लेखको का पथप्रदर्शक है जिन्होने लेखको के जीवन को उनकी कृतियो की टीका-टिप्पणी माना है।

आलोचना की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति के प्रतिपादन मे सेण्ट ब्यूव का वही स्थान है जो ऐतिहासिक पद्धति के प्रतिपादन मे टेन का स्थान है। दोनो व्याख्यात्मक विवरण मे एक सी उपयुक्तता और विद्वत्ता का प्रदर्शन करते है। सेण्ट ब्यूव को अपनी जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति को वैज्ञानिक विस्तार देने की सूझ नवशास्त्रीय मत के विच्छेद से हुई, जब कि आलोचको ने सब नियमो का परित्याग कर दिया था और आलोचनात्मक ससार मे कोलाहल मच गया था। कलाकार ने वाह्य प्रमाण अथवा निर्देश का सहारा बिल्कुल छोड़ दिया और अपनी प्रतिभा ही अपनी काव्य रचना का नियम समझने लगा।

आलोचक ने भी अपने विचारो को कलाकार के अनुरूप कर लिया। आत्मीय रुचि और वैयक्तिक निर्णय मे उसे पूर्ण आश्वासन मिला। यदि वह उचित समझे तो सार्वजनिक भावना के अनुकूल अपनी आलोचना करे और पठनशील जनता के मन्त्री की हैसियत से उसके मत का सम्पादन करे। यहाँ तक ही रुढिगत आलोचना के लिए सेण्ट ब्यूव की रियासत है। नही तो वह रुचि के ऐसे नये मन्दिर के निर्माण के पक्ष मे है जहाँ किसी वस्तु का बलिदान न हो, जहाँ उचित गौरव का ह्रास न हो न सर्वमान्य अधिकार का बहिष्कार हो, जहाँ चाहे शेक्सपिअर हो चाहे पोप, चाहे मिल्टन हो चाहे शैली, सब को योग्यतानुसार स्थान मिले। आलोचक का तो कर्त्तव्य यही है कि वह कृति को पढे और जाने तथा अपने पठन और ज्ञान से दूसरे का पठन और ज्ञान सुगम करे। परन्तु कृति का पढना और जानना कृतिकार के जीवन से सम्बद्ध है। कृति उसी प्रकार कृतिकार का जीवन-मूलक विस्तार है जिस प्रकार फल पेड का जीवनमूलक विस्तार है। जैसे फल को जानने के लिये हमे पेड का जानना आवश्यक है उसी प्रकार कृति को जानने के लिये हमे कृतिकार को जानना आवश्यक है। कृतिकार के विकास का नियम एक ऐसा नियम है जिसे कृति माने बिना नही रह सकती। बस, विज्ञान की सहायता से सेण्टब्यूव ने ऐसी प्रणाली का अनुसन्धान किया जिसके द्वारा कृतिकार के जीवन विकास का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया।

पहले, टेन की रीति के अनुसार, आलोचक लेखक की जाति और वाह्य परिस्थिति का अध्ययन करे। उसके पूर्वजो उसके माता-पिता, भाई—बहन, सम्बन्धी और मित्र, उसके गुरु और अध्यापक, तथा उस काल के महान् व्यक्ति जिनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है—सब का ज्ञान प्राप्त करे। माता-पिता मे आलोचक माता की ओर अधिक ध्यान दे क्योकि प्रतिभाशाली पुरुष पिता की अपेक्षा माता मे अधिक प्रभावित होता है। द्वितीयतः आलोचक उस मण्डली की ओर ध्यान दे जिसमे उसका विषय उठती जवानी मे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बातचीत करता था। यह ऐसा समय है जिसमे होनहार लेखक की प्रतिभा खुलती है, जिसमें भावो के अकुर जमते है और जिसमें मस्तिष्क, मस्तिष्क की ओर आकर्षित होता है। मित्र-मण्डली की काव्यगोष्ठी में भावो और विचारो का जल्दी-जल्दी आदान-प्रदान होता है और समान योग्यता के कारण मनो में प्रतिस्पर्धा जागृत होती है, प्रतिभाशाली युवक समझ लेता है कि उसकी रुचि किस प्रकार की है और उसके अनुरूप अपने आन्तरिक गुणो के विस्तार के लिये मार्ग ढूंढ निकालता है। मित्र-मण्डली कौस के प्रभाव को सेण्ट ब्यूब बडे महत्त्व का बताता है, वह वृन्द (ग्रूप) कहता है और उसकी परिभाषा इस प्रकार करता है, "मैं वृन्द से चतुर मनुष्यो के उस आकस्मिक और कृत्रिम समुदाय को नही समझता जो किसी उद्देश्य पर सहमत होते है। मेरा वृन्द से मतलब उस स्वाभाविक और स्वेच्छित साहचर्य का है जिसकी ओर ऐसे नये मस्तिष्को और नये कौशलो की प्रवृत्ति होती है जो न तो एक दूसरे के बिल्कुल सदृश्य होते हैं और न बिल्कुल एक जाति के होते हैं, परन्तु एक ही नक्षत्र मे पैदा होकर एक सी उछल और उड़ान

दिखाते हुये उद्यम और रुचि की विभिन्नता के साथ-साथ एक ही कार्य मे सलग्न होते है। वृन्द का महत्त्व भारतीय काव्य मीमासा मे भी माना गया है। राजशेखर ने इसे काव्य की एक माता माना है। उपयोगी विद्याओ तथा उपविद्याओ के पठन और अनुशीलन के अतिरिक्त कवि की रुचि सत्सङ्ग, देशज्ञान, लोकव्यवहार, विदग्धवाद और विद्वानो की गोष्ठी की ओर होनी चाहिये। कवि की दिनचर्या मे दोपहर के भोजन के बाद काव्यगोष्ठी के अधिवेशन मे कवि को सम्मिलित होने की राय दी गई है। अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास मे ऐसे वृन्द विख्यात है जिन्होने अपने समय के प्रतिभाशाली लेखको को काव्य के सिद्धान्तो से विवाद द्वारा परिचित किया, पहला वृन्द सतरहवी शताब्दी के आदि मे मर्मेड टैवर्न का था और दूसरे वृन्द कॉफीहाउज़ेज मे एकत्रित विद्वानो के थे। पाश्चात्य टेब्लटॉक्स और सिम्पोजिया उपर्युक्त भारतीय काव्यगोष्ठी के प्रतिरूप है। तृतीयत व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के प्रथम काव्यात्मक अथवा आलोचनात्मक केन्द्र का अध्ययन करना चाहिये। इस केन्द्र को सेन्टब्यूव वह गर्भाशय बताता है जिसमे लेखक अपना रूप धारण करता है। कोलरिज ने शेक्सपिअर के व्यक्तित्त्व को समझने के लिये उसकी पहली दोनो कृतियो—'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'न्यूक्रेसी' को उसका काव्यात्मक केन्द्र माना। इन दोनो मे हमे शेक्सपिअर दौर्बल्य का साक्ष्य ही नही मिलता कि कहाँ किसकी स्वच्छन्द कल्पना की गति अवरुद्ध होती है, कहाँ वह केवल भरने के लिये अलङ्कार की अवाञ्छनीय प्रवृत्ति दिखाता है, कहाँ-कहाँ उसकी व्यञ्जना अनियन्त्रित हो जाती है, उसके रूपक कृत्रिम हो जाते है और वह स्वय अतिशयोक्ति के हाथ मे विवश हो जाता है, किन्तु इन्ही मे हमे उसकी शक्ति का भी साक्ष्य मिलता है कि उसकी प्रतिभाएँ कितनी सुस्पष्ट हैं, उसका आवेग कैसा व्याप्त है और उसके विचार गहरे और प्रबल है। इन्ही दोनो कृतियो मे हमे शेक्सपिअर के दुःखान्त भाव का अकुर मिलता है कि अनिष्ट दृढाग्रह मे होता है—वीनस, बडी कामातुर स्त्री, सुन्दर और पवित्र युवक एडोनिस पर आसक्त होकर नाश को प्राप्त होती है, टार्क्विन न्यूक्रेसी के सतीत्व भङ्ग करने पर उतारू होकर उसकी आत्महत्या और अपने निर्वासन का कारण हो जाता है। दोनो दशाओ मे काम-चेष्टा का दृढाग्रह ही दुःखमूलक है। शैली का आलोचनात्मक केन्द्र उसकी 'क्वीन, मैब' मे मिलता है। इस काव्य मे जैसा पीछे से 'प्रौमीथ्यूस अनबाउण्ड' से प्रकट है, अनिष्ट का कारण एक ऐसी स्वेच्छाचारी क्रिया माना गया है जिसके निर्मूलन से मनुष्य और प्रकृति दोनो पूर्णता प्राप्त करते है। चतुर्थतया, व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के जीवनचरित की प्रगति का अध्ययन करना चाहियै, कब-कब उसको सफलता प्राप्त हुई और कब-कब असफलता और उन सफलताओं और विफलताओ का उसकी विचारगति पर क्या प्रभाव पडा, इस अध्ययन मे आलोचक को लेखक के धार्मिक विचारों पर उसकी मित्रताओ पर, तथा प्रकृति प्रेम, और द्रव्य की ओर उसकी भावनाओ पर पूरा ध्यान देना चाहिये। डाउडन ने शेक्सपिअर की रचनाओ का क्रम उसकी बदलती हुई विचारगतियो के अनुसार बडी आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ किया है। आदि के हास्य नाटक उल्लसित हास से परिपूर्ण हैं; अगले हास्यो और ऐतिहासिक नाटको के अङ्को में दुर्निग्रह हर्ष का

प्रदर्शन मिलता है, इनसे भी अगले करुण नाटक गाढ निराशावाद से भरे हुए है और अन्त के रोमान्सवादी हास्य जीवन समस्याओ पर स्वच्छ प्रकाश डालते है ।

किसी लेखक का उपर्युक्त रीति से अध्ययन करने के लिये आलोचक मे बहुत से विशेष गुणो की आवश्यकता है । उसमे वैज्ञानिक की जैसी पर्यवेक्षण शक्ति, कलाकार का जैसा अन्तरवबोध और ऋषि की जैसी विषयनिष्ठता होनी चाहिये । इन गुणो से सम्पन्न वह किसी ऐसे सूत्र को न छोडे जिससे लेखक के व्यक्तित्त्व का स्पष्टीकरण हो । व्यक्ति की परिभाषा ही आलोचक का अन्तिम धर्म है । जैसे ही व्यक्ति की परिभाषा निश्चित हुई,उसकी कृति की परिभाषा निश्चित हो जाती है, क्योकि परिभाषा से कृतिकार की उस व्यक्तिगत शक्ति का पता चल जाता है जो उसकी कृति मे प्रवाहित होती है । आलोचक एक ऐसा विशेषज्ञ है जिसमे सब सङ्गत तथ्यो को खोजने और उनकी परीक्षा करने की योग्यता होती है और जो इस योग्यता से साहित्यिक वशो और जातियो की परम्परा निश्चित कर देता है । सेण्ट ब्यूव ने अपना कर्तव्य इसी तरह समझा । शैंतोब्राया पर अपने निबन्ध मे जहाँ उसकी रीति वर्णित है, वह साफ कहता है कि लेखक का व्यक्तित्त्व बिल्कुल सही परिभाषित हो सकता है । वह स्वय शैंतोब्राया को विश्वजनीन कल्पना वाला भोगासक्त पुरुष कहता है । इसी प्रकार आर्नल्ड शैली को एक ऐसा सुन्दर परन्तु प्रभावहीन देवदूत कहता है जो अन्तरिक्ष मे अपने परो को व्यर्थ मे फडफडाता है । इसी प्रकार मिडिल्टन मरे शेक्सपिअर की प्रतिभा को ऐसे गुण से सम्पन्न मानता है जिसके द्वारा उसे सुख-दु ख, भलाई-बुराई और सफलता-विफलता, सब एक से ग्राह्य थे । हिन्दी मे, सूर वात्सल्य और सख्य भाव से शुद्धाद्वैत की भक्ति का चित्रण करता है, तुलसी मे दासदैन्य भाव से विशिष्टाद्वैत की भक्ति प्रधान है और कबीर निर्गुणोपासक होते हुए भी माधुर्य या दाम्पत्य-भाव की भक्ति के साथ शुद्धप्रेमनिष्ठ एकेश्वरवादी हठ योगी है । काव्यरचनाओ की परिभाषाएँ पहले से ही बडी सही हो रही थी—जैसे होमर के 'इलियड की मुख्य विचार धारा है कि लडई मनुष्य जीवन का अनिष्ट है, मिल्टन के 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की मुख्य विचारधारा निश्चित भाग्य या मुक्त इच्छाशक्ति की समस्या है जैसे 'उसके पैरैडाइज़ रिगेण्ड' की मुख्य विचारधारा सासारिक लिप्तता पर आत्मा की विजय है; और गटे के 'फौस्ट' की मुख्य विचारधारा है कि ज्ञान की प्रगति अनिष्टकारी है और उसकी तृष्णा दण्डनीय है । 'महाभारत' मे ऐतिहासिककारो की उपासना प्रधान है, "गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्त्तव्यधर्मशास्त्र है जो ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है," जैसा परमहस श्रीकृष्णानन्द स्वामी के इन शब्दो से स्पष्ट है, "तस्मात् गीतानाम ब्रह्मविद्यामूल नीतिशास्त्रम् ।" और 'रामचरित-मानस' मे सर्वांगपूर्ण सगुणोपासना का निरूपण है । लेखको की इतनी सही परिभाषाएँ पहले नही होती थी । आलोचना का इस ओर दृष्टि खींचना सेण्ट ब्यूव की विशेषता है ।

सेण्ट ब्यूव ने टेन की आलोचना ठीक की है । वह कहता है कि टेन ने निस्सन्देह लेखक की उस शरीर-रचना की नस-नस और रग-रग तक बडी निकट परीक्षा की है जिसमे

आत्मा का प्रवेश हुआ, जहाँ उसने अपना खेल खेला और अपने व्यक्तित्व का विकास पाया परन्तु वह प्रतिभा के ज्योतिविन्दु तक पहुँचने मे असमर्थ रहा। इस ज्योतिविन्दु को अपने प्रकाश मे दिखाने का साहस सेण्ट ब्यूव ने किया। परन्तु सेण्ट व्यूव की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति मे कई स्वाभाविक कठिनाइयाँ निहित हैं। पहली कठिनाई यह है कि जीवनवस्तु पर इस प्रकार प्रयोग नही किया जा सकता जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे प्रकृतिवस्तु पर किया जाता है, न उसके निरीक्षण की वैसी सुविधाएँ ही हैं। साधारण रूप से देखने मे ऐसा भी मालूम होता है कि उक्त पद्धति के अङ्गो मे दोष है। पैत्रिक प्रभाव को ही लीजिए। हम जानते हैं कि मार्लो एक मोची का लडका था, स्पेन्सर का बाप एक जुलाहा था जो दिन प्रतिदिन कपडा बेचकर जीवन निर्वाह करता था, बैन जॉनसन एक राज के घर मे पला था, मिल्टन एक मुन्शी का लडका था, वर्ड्सवर्थ एक ग्रामीण परकार्यसाधक 'का पुत्र था, और कीट्स का बाप एक परिवेषधारी साईस था। कालिदास एक गरीब ब्राह्मण का लडका था जिसे छ वर्ष की अवस्था से अनाथ रह जाने के कारण एक बैल हाँकने वाले ने पाला था, कबीरदास ने आदि ग्रन्थ मे अपने को जुलाहा लिखा है, "तू ब्राह्मण मै काशी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना" और सूरदास, तुलसीदास तथा मलिक मुहम्मद जायसी, सब बडे दरिद्र घरो मे पैदा हुए थे। गॉल्टन अपनी 'हैरैडिटैरी जीनियस' नामक पुस्तक मे इस आशय का प्रस्ताव पेश करता है कि प्रतिभाशाली पुरुष के वश मे अवश्य कोई प्रतिभाशाली पुरुष रहा होगा। ऐसा होता है कि प्रतिभा के जीवाणु कई पुश्तो तक बिना विकसित हुए प्रवाहित रहे और प्रतिभाशाली पुरुष के माता-पिता मे प्रतिभा का कोई अप्रच्छन्न चिह्न न दीख पडे। किन्तु अकस्मात् प्रतिभावान् पुरुष मे प्रतिभा के जीवाणु उचितस्थान पाकर विकसित हो जाते है और अपना चमत्कार दिखाने लगते हैं। परन्तु इसकी कोई वैज्ञानिक जाँच नही है। फिर आलोचनात्मक परीक्षा की जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति ऐसे लेखको के विषय मे विफल होती है जो अपने को अपनी कृतियो मे व्यक्त नही करते। शैली, ज्यॉर्ज इलियट और आर० एल० स्टैबैनसन जैसे लेखक अपने जीवन की कृतियो और घटनाओ से समझ मे आ सकते है, परन्तु शेक्सपिअर और वर्ड्सवर्थ ऐसे भी लेखक है, जो अपनी काव्यकृतियो से अपने जीवन चरित्रो को बिल्कुल अलग रखते है। अन्त मे जीवनचरित सम्बन्धी पद्धति ऐसे मृत लेखको के विषय मे तो असम्भव ही है जिनके बारे मे उनकी काव्यकृतियो के अतिरिक्त हमारे पास कोई किसी प्रकार की सूचना ही नही है।

४

कुछ रचनाएँ ऐसी है जिनमे मनोवैज्ञानिक अनुराग होता है। हैम्लैट के विषय मे अर्नैस्टि जेम्स का मत है कि वह एडीपस ग्रन्थि की क्रियाशीलता के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ हुआ। उसके आरम्भिक मातृप्रेम मे एक अव्यक्त कामवासना थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे यह देखना असह्य हुआ कि उसके चचा क्लॉडिअस ने उस स्थान को ले लिया जिस पर वह स्वय होना चाहता था। उसके अचेतन ने अपने पिता की मृत्यु को अपनी

माता के पुर्नविवाह से सम्बन्धित कर रखा था । अतः वह अपने चचा को सफल प्रतियोगी पाकर घृणा की दृष्टि से देखने लगता है । स्थिति यह हो जाती है कि वह अपने चचा की खुल्लम खुल्ला भर्त्सना इस डर से नही कर सकता कि कही अपनी माँ की ओर अपनी प्रच्छन्न कामवासना न खोल बैठे, और क्लॉडिअस की हत्या से इस विचार से हिचकने लगता है कि ऐसा करने से उसकी माँ को, जिसके प्रति उसका कोमल भाव वर्तमान है, क्लेश हो जायगा । इन वृत्तियो के निरोध का फल सङ्कल्पाघात हो जाता है । विण्डहम लेविस का दृढ विचार है कि शेक्सपिअर की दु:खान्त रचना मे चित्तविक्षेप एक साधारण तत्त्व है, और हेम्लैट, लीअर, ऑथैलो, और टाइमन सब मतिभ्रष्ट है । डॉक्टर समरविल ने शेक्सपिअर के पात्रो का बडी सावधानी से मनोविश्लेषण किया है और प्रत्येक के विक्षेप को अपनी 'मेंडनेस इन शेक्सपीरिअन ट्रेजेडी' नाम की पुस्तक मे बडी सूक्ष्मता से वर्णित किया है—हेम्लैट ऐसी प्रकृति का समलिङ्गरत मनुष्य है जो कभी-कभी असामान्यत. भडक जाता है और कभी-कभी असामान्यत शान्त हो जाता है, मैक्बैथ शक्ति और महत्त्व के भ्रम से मदान्ध है और इसी से उत्ताप की दशा मे भूत-प्रेत देखने लगता है, ऑथैलो हिजडा है और अपनी पेशियो और सैनिक प्रतियोगिता मे प्राप्त पुरस्कारो से अधिक प्रेम करता है, डैस्डैमोना से कम, लीअर तीव्र एकचित्तता से रुग्ण है, टायमन को अहङ्कारोन्माद है और उपदश रोग का बीमार है । प्रेमतत्त्व के आधिक्य के कारण उपन्यासो और आख्यायिकाओ मे मनोविश्लेषण का समावेश अनिवार्य है, रिचार्डसन 'क्लैरिसा हार्लो' मे स्त्री-चित्त की चञ्चलता अङ्कित करता है, एन्थनी ट्रौलोप 'द वार्डन' मे एक वृद्ध अध्यक्ष की सद्विवेक बुद्धि का विश्लेषण करता है, मिसिज गेस्कल अपने 'रूथ' मे वाह्य घटनाओ का आन्तरिक विचारो और भावनाओ से सम्बन्ध स्थापित करती है, ज्यॉर्ज इलियट डैनियल डिरोडा के भद्र ज्यू मौर्डिकाई और उसकी मृदु पुत्री मीरा से आकर्षण मे अचेतन पैत्रिक प्रभाव का बल दिखाती है, ज्यॉर्ज मैरिडिल अपने उपन्यासो मे हमारे अदृश्य जीवन की घटनाओ को हमारी बोधशक्ति के सम्मुख तर्कपूर्ण स्पष्टता से रखता है, आर० एल० स्टीवैन्सन अपने 'मारखेम' और 'डॉक्टर जैकिल एण्ड मिस्टर हाइड' मे मानव स्वभाव के द्वित्व का अध्ययन करता है कि कैसे मनुष्य कभी भलाई की ओर और कभी बुराई की ओर प्रवृत्त होता है, शारलोट यङ्ग अपनी पुस्तको मे बडे घराने की कुमारियो की प्रेमवासना की उत्कृष्ट शोधि वर्णित करती है, और डी० एच० लॉरेन्स जो अपने नायको के लिये सङ्कल्प सिद्धि का उद्देश्य निर्धारित करता है, जेम्सजॉयस की तरह, उनकी चेतन कल्पनाओ को ही नही वरन् उनकी अचेतन उन्मुक्त कल्पनाओ को भी चित्रपट पर लाता है । आज कल मनो-विश्लेषण का प्रयोग गद्य कथाओ मे बढता ही जाता है और जो अतीत मे वाह्य दृश्य का महत्त्व था, वह अब आन्तरिक दृश्य का महत्त्व होता जाता है । समकालीन उपन्यासकार अपने पात्रो के निर्णयावसरो मे मानसिक गति के प्रदर्शन हेतु इतना परिश्रम करता है कि पुराने उपन्यासकार की तरह वह असङ्गत घटनाओ के चित्रण से कथा प्रवाह को रोक देता है ।

ऐसी कृतियो की व्याख्या जो आन्तरिक यथार्थ पर आधारित है, मनोवैज्ञानिक ही होगी। परन्तु इस प्रसङ्ग मे 'मनोवैज्ञानिक' सज्ञा का सङ्केत वस्तु की ओर है, व्याख्या-पद्धति की ओर नही। पिछले खण्डो मे 'ऐतिहासिक' और 'जीवन-चरित्र सम्बन्धी' सज्ञाएँ पद्धति की सूचक थी, वस्तु की नही। अत मनोवैज्ञानिक कृतियो की आलोचना दूसरे अर्थ मे मनोवैज्ञानिक समझनी चाहिये। जब सङ्केत पद्धति की ओर हो तो मनोवैज्ञानिक व्याख्या वह व्याख्या कही जायगी जिसमे कृति का सम्बन्ध कृतिकार के मस्तिष्क से स्थापित किया जाता है।

जब से मनोविश्शेषण मे अनुराग की वृद्धि हुई तब से मनुष्य स्वभाव के अध्ययन को बडी उत्तेजना मिली है। फ्रायड ने तीन प्रकार के स्वभावो का वर्णन किया है—मौखिक, गुदासम्बन्धी और जननेन्द्रिय सम्बन्धी। इन तीनो सज्ञाओ की व्युत्पत्ति मुख, गुदा, और जनेन्द्रिय से है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी कामवासना तृप्त करता है। फ्रायड काम-प्रवृत्ति का उदय यौवनकाल नही मानता और उसकी समाप्ति परिवतन (क्लाइमक्टैरिक) नही मानता। उसकी धारणा है कि बच्चे का जीवन पैदा होने के कुछ दिन पीछे ही लिङ्गमूलक हो जाता है, क्योकि वह माँ का दूध चूसने मे आनन्द की अनुभूति करता है। फिर उसे गुदा से विष्टा निकालने की क्रिया मे आनन्द आने लगता है। और फिर धीरे-धीरे उसका आनन्द जनेन्द्रिय मे सङ्केन्द्रित हो जाता है, यह यौवनकाल मे होता है। यदि बच्चे को दूध चूसने मे विशेष आनन्द आया है तो बडा होकर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा, यदि उसे गुदा से विष्टा फेकने की क्रिया मे विशेष आनन्द आया है तो बडे होने पर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा। बचपन की यह दोनो प्रवृत्तियाँ यौवनकाल मे जनेन्द्रिय तृप्ति के साथ मिलकर लिङ्गमूलक जीवन को उत्तेजित करती है। यदि किसी व्यक्ति को बचपन मे दूध चूसने मे विशेष आनन्द आया है तो उसका स्वभाव मौखिक होगा। मौखिक स्वभाव के दो रूप है—यदि उसे चूसने मे पूरी तृप्ति हुई है तो वह स्वभाव का मौजी और आशावादी होगा और यदि चूसने मे उसे माता के स्वभाव से अथवा उसकी व्यस्तता से रुकावट हुई है तो वह स्वभाव का ग्रहिल और अवलम्बी होगा। आमतौर से मौखिक स्वभाव जल्दबाज, अश्रान्त और अधीर होता है और इन्ही कारणो से उसकी नये विचारो तक पहुँच होती है। यदि किसी व्यक्ति को बचपन मे निष्क्रमण क्रिया मे विशेष आनन्द आया है, तो उसका स्वभाव गुदा सम्बन्धी होगा। गुदा-सम्बन्धी स्वभाव के प्रधान गुण सुव्यवस्थिति, कृपणता, और हठीलापन हैं। कभी-कभी इस स्वभाव के साथ निर्दयता भी मिला दी जाती है। यह मिश्रित स्वभाव कामाग्नि के उत्तेजित होने पर दूसरो पर सख्ती या ज्यादती करने मे आनन्द लेता है। गुदासम्बन्धी स्वभाव मौखिक स्वभाव के विपरीत दीर्घोद्यमी और दृढाग्रही होता है, और जैसे मौखिक स्वभाव नूतनप्रेमी होता है, गुदासम्बन्धी स्वभाव नूतनद्वेषी होता है। यौवनकाल में ये दोनो तृप्तियाँ साधारणत. जननेन्द्रिय सम्बन्धी तृप्ति के अधीन हो जाती हैं क्योकि इस तृप्ति का सम्बन्ध मनुष्यजाति के उत्पादन और सरक्षण से सम्बन्धित है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी स्वभाव यथादर्श होता है। यह स्वभाव पहले दोनो स्वभावो से वे तत्त्व ले लेता है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यापारो मे सहूलियत देते हैं, मौखिक स्वभाव से

उसे स्फूर्ति और आशायुक्तता मिलती है, और गुदासम्बन्धी स्वभाव से उसे सञ्चालन और सहिष्णुता मिलती है। मौखिक अथवा गुदासम्बन्धी स्वभाव का प्राबल्य सामाजिक अनुपयुक्तता का चिह्न है। कलाकार का स्वभाव जनेन्द्रिय स्वभाव से मौखिक और गुदासम्बन्धी स्वभाव की ओर विचलित होगा। यह रहा फ्रायड का वर्गीकरण। यूङ्ग का मानसिक स्वभावो का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। वह पहले मन की ज्ञानात्मक, भावात्मक, अन्तरवबोधात्मक, और सवेदनात्मक—चार क्रियाओ के अनुरूप चार प्रकार के स्वभाव निश्चित करता है। व्यक्ति मे वाह्य जगत् से अपने को उपयुक्त करने मे जिस मानसिक क्रिया का प्राधान्य होगा उसके अनुरूप उसका स्वभाव माना जायगा। ज्ञानात्मक और भावात्मक क्रियाएँ तर्कमूलक हैं और अन्तरवबोधात्मक क्रियाए अतर्कमूलक हैं। ज्ञानात्मक स्वभाव भावुकता मे कमजोर होता है और हर एक स्थिति का बहुत सोच-समझ कर सामना करता है। भावात्मक स्वभाव वस्तुओ के प्रति अपनी रुचि अथवा अरुचि प्रकट करता है। और कभी-कभी तो केवल वस्तुजनित भावगति से ही सतुष्ट हो जाता है। सवेदनात्मक स्वभाव अन्तरवबोध मे कमजोर होता है और तात्कालिक और तत्स्थानीय यथार्थ से सीमित रहता है। अन्तरवबोधात्मक स्वभाव सवेदना मे कमजोर होता है और वस्तु के अस्तित्व से पराङ्मुख हो उसके सम्भाव्य की ओर देखता है, कोई घटना वास्तव मे कैसी है इससे कोई मतलब नही, आगे कैसी हो सकती है इसकी ओर मानसिक दृष्टि प्रवृत्त होती है। इन चारो स्वभावो मे से हर एक को अन्तर्मुखी या वहिर्मुखी होने के आधार पर फिर विभक्त किया जाता है। वहिर्मुखत्व मे जीवनशक्ति बाहर की ओर वस्तु तक गतिशील होती है और अन्तर्मुखत्व मे वस्तु से परे भीतर की ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार यूङ्ग के स्वभाव के प्रकार आठ हो जाते है। पहला वहिर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। वह अपना जीवन ऐसे तार्किक निष्कर्षों से व्यवस्थित करता है जो वास्तविक अनुभवो के तथ्यो पर या मान्य सिद्धान्तो पर आधारित होते हैं। उस का विचार अवैयक्तिक और निर्णायक होता है तथा जीवन के उन दृश्यो पर अपना अभिनय करता है जहाँ पदार्थनिष्ठ निर्णायक योग्यता की आवश्यकता होती है। इस स्वभाव का मनुष्य भौतिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, धनाधिकारी, वकील अथवा एञ्जिनियर होता है। दूसरा अन्तर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। जब विचार अन्तर्मुखी स्वभाव का निर्देश देता है तो विचार आत्मिक हो जाता है, अनात्मिक नही रहता। अन्तर्मुखी विचार मन मे पडी हुई प्रतिमाओ के सम्पर्क मे आता है और जब यह प्रतिमाएँ अचेतन से जागृत होकर चेतन मे आती हैं तो मन उन्हे अनात्मिक तथ्यो पर आरोप कर देता है। फलत. इस स्वभाव का मनुष्य कल्पनाशील, रचनात्मक, और रहस्यवादी होता है। इस वर्ग मे आदर्शवादी, दार्शनिक और उन्मुक्त कल्पना को प्राधान्य देने वाले लेखक पडते हैं। तीसरा वहिर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक होता है अर्थात् उसका भाव स्वय पदार्थ पर या मूल्याङ्कन के परम्परागत मानदण्डो पर निर्भर होता है। वह उसी चीज को पसन्द या नापसन्द करता है जिसे सब पसन्द या नापसन्द करते हैं और उसे वही सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है

जो सब को सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है। उसका भाव उसके विचार के अधीन होता है और वही उत्तेजित होता है जहाँ उसके विचार से उत्तेजित होना चाहिये। इस स्वभाव का मनुष्य मिलनसार और सर्वप्रिय होता है। काव्य मे अमौलिक शास्त्रीय रचयिता इस वर्ग मे पडते है। चौथा अन्तर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव के मनुष्य का भाव आत्मिक होता है और प्राय. वस्तु की उपेक्षा करता है। वह बडा सवेदनशील होता है परन्तु अपनी सवेदनाओ और भावो को व्यक्त नही कर पाता। इसीलिए दूसरे आदमी उसे ठीक-ठीक नही समझ सकते। यदि काव्य मे ऐसा पुरुष आत्माभिव्यञ्जना करे तो वह अद्भुत श्रेणी का स्वच्छन्दवादी लेखक होगा। पाँचवी वहिर्मुखी सवेदनात्मक स्वभाव है। यह दूसरे वहिर्मुखी स्वभावो की तरह अनात्मिक है। वास्तविक स्थूल पदार्थ ही उसके मूल तथ्य है और उनसे जो सवेदनाएँ उसे प्राप्त होती है, वे ही उसके लिये जीवन का मूल्य है। वस्तुएँ उसके भोग और सुख के लिये वर्तमान है। इसका यह अर्थ नही कि वह लम्पट और अशिष्ट हो। उसके भोग और सुख शुद्ध हो सकते है और सौन्दय का सच्चा अनुभव हो सकता है। फिर भी सवेदनाएँ ही उसके लिये जीवन सार है। कीट्स उठती जवानी मे ऐसे ही स्वभाव का कवि था। वह सवेदनाओ के जीवन पर विचारो को न्योछावर करने के लिये उद्यत रहता था। छठा अन्तर्मुखी सवेदात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक नही होता। वह वस्तु से अलग रहता है और अपने और उसके बीच मे अपना आत्मिक अवबोध, अपना आत्मिक विचार ले आता है। वह वस्तु मे ऐसे गुणो का समावेश कर देता है जो उसमे नही होते और वस्तु-जनित उसका सुख अनुपस्थित और परिवर्धित होता है। सातवाँ वहिर्मुखी अन्तरवबोधात्मक है। जबकि सवेदनात्मक स्वभाव का मनुष्य स्थूल वस्तु को जैसी है वैसी ही देखता है, अन्तरवबोधात्मक स्वभाव जैसी वस्तु उसके सामने है वैसी उसे नही देखता वरन् उसमे जसका भविष्य सभ्याव्य देखता है। संवेदना अन्धोटे लगे हुए घोडे की तरह है जो सडक को अगले पैरो के नीचे ही देख सकता है और उससे आगे नही, अन्तरवबोध उस घोडे की तरह है जो अपनी टागो के नीचे की सडक नही देख सकता क्योकि उसकी आँखे निरन्तर आगे लगी हुई है। इसीलिये बहिर्मुखी अन्तरवबोधात्मक स्वभाव के मनुष्य की लालसा वाह्य घटनाओ के सम्भाव्यो की ओर रहती है। वह वस्तु के वर्तमान मूल्य की उसके भविष्य के हेतु उपेक्षा करता है। भविष्य मूल्य के निदर्शन मे उसका दिमाग यथाभूत तथ्य को नये सयोग मे और नये रूपो मे देखता रहता है। इस वर्ग मे उच्चकोटि के कवि, आविष्कारक, और वैज्ञानिक पडते हैं। आठवी अन्तर्मुखी अन्तरवबोधात्मक स्वभाव है। इस स्वभाब का मनुष्य वाह्य वस्तुओ से कोई प्रयोजन नही रखता। उसका अवबोध आत्मिक है और अचेतन की प्रतिमाओ पर निर्दिष्ट होता है। वे ही उसकी कल्पनाओ की उपकरण सामग्री बनती है। उसके लिये आन्तरिक प्रतिमाओ का वही मूल्य होता है जो बहिर्मुखी स्वभाव के मनुष्य के लिये वाह्य जगत् की प्रतिमाओ के लिये होता है। यदि इस स्वभाव का मनुष्य कलाकार हो तो उसकी कृतियाँ स्वच्छन्द, विलक्षण और तर्कहीन होगी। फ्रायड और यूङ्ग दोनो के स्वभाव वर्गीकरण आलोचनात्मक मस्तिष्को को अग्राह्य हैं। वास्तव में

स्वभावो का कोई स्थैर्य नही। स्वभाव बने भी रहते है और साथ ही साथ रूपान्तरित भी होते रहते है। उह उक्ति भले ही सत्य न हो कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पहले डायोजैनीज और भोजन के पीछे एपीक्यूरस हो जाता है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि शारीरिक अवस्थाएँ सवेदना शक्ति ही मे नही वरन् अन्तरवबोधात्मक ग्रहण, भावात्मक मूल्याङ्कन, और प्राज्ञ-निर्णय मे भी अन्तर पैदा कर देती है। शरीर और मन वास्तव मे एक है, अपनी निकृष्टतम दशा मे मन शरीर हो जाता है और शरीर अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा मे मन हो जाता है। हमारी सब प्रतिक्रियाएँ शरीर—और—मनमय होती हैं। इस तरह वहिर्मुखत्व और अन्तर्मुखत्व एक-दूसरे के बहिष्कारी नही है। एक ही व्यक्ति की वृत्ति कभी बहिर्मुखी और कभी अन्तर्मुखी हो सकती है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक इच्छित वस्तु से वञ्चित रहे तो वह अन्तर्मुखी हो जाता है, और वही मनुष्य यदि उसे इच्छितवस्तु प्राप्त हो जाय तो वहिर्मुखी हो जाता है। ऐसे वर्गीकरणो का उद्देश्य केवल यही है कि इनके द्वारा वह चेतन अवस्था परिभाषित हो जाती है जिसका प्राधान्य व्यक्ति की वृत्ति का जीवन और जीवन के व्यापारो मे निश्चित करता है।

मनुष्य मन के स्वभाव का यह विस्तृत हाल इस कारण दिया है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के मन मे देखती है जैसे कि जीवन-चरित-सम्बन्धी आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के जीवन मे ढूँढती है और ऐतिहासिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के समय के इतिहास मे देखती है। जैसे जीवनचरितात्मक आलोचना ऐतिहासिक आलोचना को पूरा करती है, वैसे ही मनोवैज्ञानिक आलोचना जीवनचरितात्मक आलोचना को पूरा करती है। बस, बात यह है कि जीवनचरितात्मक आलोचना का निर्देश ऐतिहासिक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचना का निर्देश जीवनचरितात्मक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है।

आलोचक को जीवित लेखक के मन को समझने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। परन्तु पुराने लेखक के मन का पुनर्निर्माण उतना ही कठिन है जितना कि उसके जीवन का पुनर्निर्माण। यहाँ भी आलोचक की सहायता विज्ञान ने की है। विज्ञान मे विश्लेषण सश्लेषण से पहले आता है। पहले वैज्ञानिक किसी पदार्थ के घटनावयवो का विश्लेषण करता है और फिर उन्हे मिलाकर उसी पदार्थ का पुनर्निर्माण करता है। किस प्रकार पानी का विश्लेषण ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मे होता है और किस प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिलकर फिर पानी मे सश्लेषण हो जाता है, विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। जब तक वैज्ञानिक विश्लेषण और सश्लेषण मे सफल नहीं होता तब तक वह पदार्थ के विषय मे अपने ज्ञान को पूरा नही मानता। आलोचना ने भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग आरम्भ किया है। लेखक का व्यक्तित्व उसकी कृति मे प्रविष्ट होता है और उसके स्पष्टतम चिह्न उन स्थानो मे मिलते है जहाँ वह बार-बार एक ही बात कहता

है या जहाँ वह मानव स्वभाव के गहनतम स्तरो तक पहुँचता है, क्योकि ऐसे स्थलो मे वह अवश्य आत्मानुभूति से बोलता है। ऐसे चिह्नो को एकत्रित करके आलोचक अपने कार्यार्थ लेखक के उस मन का पुन सृजन करता है जो बहुत सी धाराओ मे कृति मे प्रवाहित हुआ। पुन सृजन की सफलता पुन सृजित मन का दूसरे स्थलो मे अथवा उसकी रचित दूसरी कृतियो मे प्रयोग करने से जाँची जा सकती हैं। समस्त रीति का सत्यापन उन जीवित लेखको पर प्रयोग करने से भी हो सकता है जिनके मन को हम अपने अनुभव से भी जानते है और उनकी रचनाओ से भी जान सकते हैं।

उन्नीसवी शताब्दी से पहले मनोवैज्ञानिक आलोचना बहुत कम मिलती है। बैन जॉनसन अपनी 'डिस्कबरीज' मे कहता है कि शेक्सपिअर एक ऐसा व्यक्ति था जो अपनी प्रतिभा का नियन्त्रण करने मे असमर्थ था। इसकी पुष्टि वह 'जूलियस सीजर' मे प्रयुक्त एक व्यंग्यार्थ से करता है। इस दोष के लिये बाद के और भी बहुत से आलोचको ने शेक्सपिअर को अपराधी ठहराया है—विशेषतया डॉक्टर जॉनसन ने अनुचित श्लेषप्रियता के लिये। ड्राइडन भी कवियो की व्याख्या के लिये कभी-कभी मनोविज्ञान तक चल जाता है। शेक्सपिअर कल्पनासृष्टि और पात्रनिरूपण मे प्रवीण था, इसका कारण यही है कि उसकी प्रतिभा बडी विशाल और सर्वाङ्गी थी। बैन जॉनसन के नाटको मे काट-छाँट और परिवर्तन के लिये बहुत कम गुन्जाइश है। वे इतने दुरुस्त हैं, इसका कारण यही है कि वह अपने अन्त करण का स्वय बडा योग्य परीक्षक था। वह अपने दृश्यो मे प्रेम को बहुत कम स्थान देता है और आवेगो का बहुत कम प्रदर्शन करता है, क्योकि उसकी प्रतिभा बडी रुष्ट और निरुल्लास थी। मिल्टन के विषय मे एडीसन का मत है कि वह महत्त्वाकाक्षी पुरुष था, और इसी कारण वह अपने महाकाव्य मे पाण्डित्य प्रदर्शन करता है, यहाँ वहाँ प्रारब्ध अथवा युक्त सङ्कल्प की समस्या पर अपने विचार प्रकट करने लगता है, इतिहास, ज्यौतिष और भूगोल विद्याओ के विषयो मे उन्मार्गगमन कर जाता है, और पारिभाषिक शब्दो तथा शास्त्रीय उल्लेखो की भरमार कर देता है। डॉक्टर जॉनसन का काउली के बारे मे कथन है कि वह बडे सङ्कीर्ण चित्त का मनुष्य था और बजाय इसके कि अपने आनन्द के स्रोत अपनी आत्मा मे देखे वह अचिरकालिक भावनाओ मे अनुरक्त रहता था, इसी कारण उसकी कविता मे वे सब दोष विद्यमान हैं जो कृत्रिम कल्पना की कविता मे पाये जाते हैं, जैसे, पाण्डित्य प्रदर्शन, असहज ओर निसर्गविरुद्ध रूपक, घृणास्पद अतिशयोक्तियाँ, अविश्वसनीय कथाएँ, कोरी नवीनता की खोज, और सामयिक अभद्रता। अठारहवी शताब्दी के अन्त मे काण्ट के आलोचनात्क दर्शन के प्रभाव से यूरोप के साहित्य मे व्याख्या के लिये मनोविज्ञान का प्रयोग बढने लगा। आलोचना का स्थान सवेदनात्मकतावाद और प्रज्ञात्मकतावाद के मध्य मे है। जबकि सवेदनात्मकतावाद यह दृढ करता है कि हमारे सब बोध (आईडिया) इन्द्रियजनित है और बुद्धि उन्हे केवल ग्रहण करती है परन्तु उन्हे उत्पन्न नही करती, और जबकि प्रज्ञात्मकतावाद यह दृढ़ करता है कि हमारे सब बोध बुद्धिजनित

हैं, आलोचना यह दृढ करती है कि हमारे बोधो की वस्तु सवेदनाजन्य है और उनका रूप बुद्धिजन्य है। इस प्रकार प्रत्येक बोध मे एक वास्तविक तत्त्व होता है जिसे इन्द्रियाँ प्रदान करती है और एक रूपात्मक तत्त्व होता है जिसे बुद्धि प्रदान करती है। कोलरिज अपनी बाइग्रफ़िया लिट्रेरिया' मे यह स्वीकार करता है कि कोनिङ्गसवर्ग के प्रख्यात ऋषि काएट की आलोचनात्मक व्यवस्था ने उसकी बुद्धि को वाञ्छनीय बल और अनुशासन दिया। इस स्वीकृति का यही अभिप्राय है कि कोलरिज पहले ही से दार्शनिक प्रवृत्ति का था। उसे अपने जीवन के आरम्भ काल मे कविता पढने का बडा शौक था और सब प्रकार की कविता पढने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समस्त कविता मे भाव की अन्तर्धारा विद्यमान् है, कि सच्ची कविता हृदय और मस्तिष्क मे सख्यभाव पैदा करती है। इस निश्चय की पुष्टि वर्ड्सवर्थ की कविता ने बलपूर्वक की। एक समय जब वर्ड्सवर्थ ने अपनी एक कविता स्वय पढकर कोलरिज को सुनाई तो वह इतना प्रभावित हुआ कि वह उच्च स्वर से बोला कि वर्ड्सवर्थ को कल्पना शक्ति अपने उच्चतम और गूढतम अर्थ मे प्राप्त थी, उस अर्थ मे प्राप्त थी जिसमे वह विरोधी गुणो का एकीकरण करती है, परिचय और अपरिचय, अन्तर्वेग और व्यवस्था, अवधारणा और भाव का सख्यकरण करती है। कविता के ऐमे निजी अनुभव ने कोलरिज को कल्पना का एक नया सिद्धान्त बनाने की क्षमता दी और इस सिद्धान्त का जर्मनो के आलोचनात्मक दर्शन ने समर्थन किया। कार्लायल को गटे का मस्तिष्क यूरोप भर मे श्रेष्ठ प्रतीत होता था क्योकि उसने द्वन्द्व द्वारा शान्ति प्राप्त की थी और ऐसा ही मस्तिष्क उसके 'फौस्ट' मे प्रतिबिम्बित है। आर्नल्ड की कीट्स की कविता की परीक्षा मनोवैज्ञानिक आधार पर है। कविता, जीवन को व्याख्या दो रूप मे करती है—या तो उसकी नैसर्गिकावस्था मे या उसकी नैतिकावस्था मे। आर्नल्ड का निर्णय है कि कीट्स अनुभव की न्यूनता के कारण जीवन की पहले रूप मे ही व्याख्या करने की योग्यता रखता था दूसरे रूप मे नही। पेटर ने कोलरिज के लेखो का सम्बन्ध उसके मन से स्थापित किया है। कोलरिज ने अपना सारा जीवन अपेक्षावाद के प्रतिरोध मे व्यतीत किया, वह अपनी दृष्टि सदा निरपेक्ष की ओर लगाये रहता था, इसीसे जो वर्ड्सवर्थ को स्थायीभाव अथवा मूलप्रवृति मालूम होती थी, वही कोलरिज को दार्शनिक बोध मालूम होता था। कोलरिज की एसी मनोवृत्ति ही उसे इस विश्वास की ओर ले गई कि कविता का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक जीवन की प्रत्येक अवस्था को उसका मूल्य और उसका उचित स्थान निश्चित करना है। परन्तु, क्योकि मन अपनी समस्त अवस्थाओ से ऊपर है, मन की अगणित अवस्थाओ मे से किसी एक का एकान्नीकरण कलात्मक अनुराग को अशान्त करना ही नही है प्रत्युत् उसका नाश करना है। कलाकार को अपने भाव और बोध अनेकान्तिक वृति से ग्रहण करने चाहिये। कोलरिज के दार्शनिक स्वभाव ने उसके अधिकाश गद्य और पद्य को उस वशीकरण से वञ्चित कर दिया है, जो उनमे होता यदि वह ससार की सञ्चित ज्ञानराशि को हास्यप्रिय दृष्टि से देखता। वर्तमान शताब्दी में साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अधिक सुव्यवस्थित होती जा रही है। फ्रैंक हैरिस का 'द मैन शेक्सपिअर' निश्चित

मति से मनोवैज्ञानिक है। वह शेक्सपिअर की कृतियो की पूर्ण परीक्षा के बाद उसे मन्द-वैषयिक कवि दार्शनिक कहता है। अपनी युवावस्था मे वह अशिष्ट था और उसके मनोवेग उसके शासन मे नही थे। वह अपने तुच्छ साथियो के बहकावे मे आकर एक पार्क मे घुस गया और वहाँ एक हिरन के मारने का अपराधी ठहराया गया। वह बन्धनमुक्त था और सब तरह की शरारते करता था। उसने एन हैथेवे की प्रेमोपासना की और उसे वश मे करने के पश्चात् उसे उमसे विवशत शादी करनी पडी। एन हैथेवे बडी ईर्ष्यालु और कर्कशा स्त्री थी। शेक्सपिअर उससे घृणा करता था। १५८५ ई० के बाद एन हैथेवे से उसके कोई सन्तान उत्पन्न नही हुई और लन्दन मे अपना निवास-स्थान बनाने के बाद आठ-नौ वर्ष तक वह घर नही लौटा। यहाँ १५९७ ई० के लगभग वह एलीजैवेथ की सखी मैरी. फिटन के चक्कर मे पड गया। मैरी फिटन पर उसका प्रतिपालक लॉर्ड हर्बर्ट भी आसक्त था। यह घटना शेक्सपिअर के घोर मानसिक क्लेश का कारण बनी, परन्तु अन्त मे उसके सहनशील स्वभाव ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को क्षमा प्रदान की। शेक्सपिअर की कामातुरता इस घटना से और विवाह सम्बन्धी व्यभिचार से ही पुष्ट नही हो जाती, वरन् और भी दो घटनाएँ हैं, जो इसे पुष्ट करती है। उसका डेवनैण्ट की दूसरी स्त्री, जो बडी सुन्दर और रुचिर वृति की थी, अवैध प्रेम था और एक समय उसने अपने मित्र रिचर्ड बर्बेज को एक दुराचारिणी स्त्री के विषय मे हास्यास्पद बनाया था। शेक्सपिअर की शरीर-रचना कोमल थी। वह उन्निद्र होने के कारण बेचैन रहता था, शराब पीने से दुर्बल हो जाता था और कामासक्ति के आधिक्य से डरता था। उसकी भोगासक्ति और उसके शारीरिक दौर्बल्य ने और शायद उसके व्यवसाय की लज्जा ने उसे स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त बना दिया था। इसमे शक नहीं कि उसमे कलात्मक और स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त स्वभाव के बहुत से गुण और दोष थे। यदि उस समय के लन्दन के अशिष्ट और जोखिमी जीवन मे उसका भाग्य उसे नाटय-व्यवसाय हेतु वहाँ न ले जाता और उसे वहिर्मुखी न बनाता तो वह बिल्कुल अन्तर्मुखी हो जाता और स्नायुव्यतिक्रम के कारण चूर्ण हो जाता। लन्दन के जीवन मे उसका प्रवेश करना ही ससार को हितकारी साबित हुआ, क्योकि उसकी उत्कृष्ट कृतियाँ उसके मानसिक प्रतिरोधो की शोध है। हमे शेक्सपिअर का प्रतिरूप कुछ-कुछ रोमियो जैक्वीज़, मैक्बैथ, विन्सैन्शियो और प्रास्पैरो मे मिलता है परन्तु उसका निकटतम सादृश्य हैम्लैट मे मिलता है। ब्रैडले और फ्रैंक-हैरिस दोनो हैम्लट के विषय में कहते है कि शेक्सपिअर के सब पात्रो मे हैम्लैट ही उसके सब नाटको को लिख सकता था। यदि हम किसी दूसरे पात्र मे शेक्सपिअर के व्यक्तित्व की छाया पाते है तो हमे फौरन हैम्लैट की याद आ जाती है। हैम्लैट मे शेक्सपिअर की प्रकृति के सभी गुण उपस्थित हैं, उसका मननशील स्वभाव, उसकी ऐसे आदमियों की प्रशसा जिनमे आवेग और विवेक का समुचित सम्मिश्रण होता है, आकाश और पृथ्वी के ऐश्वर्य तथा मनुष्य के विस्मयकारक गुणों का उसका काव्यात्मक प्रत्युत्तर, उसकी पदार्थनिष्ठता, निष्पक्षता, हास्यरसपूर्णता, उदासीनता, और रहस्यात्मकता—शेक्सपिअर के इन गुणो मे से किसी का अभाव हैम्लैट मे नहीं है। मनोवैज्ञानिक

आलोचना का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हर्बर्टरीड है। अपनी आलोचना मे वह सर्वत्र कृतिकार के मन को निश्चित करके कृति मे उसकी क्रियाशीलता के ढङ्ग की व्याख्या करता है। स्विफ्ट के विषय मे वह अशत एलिस रोबर्ट्स के इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है कि लेखक मे स्नायु-दौर्बल्य के सभी पक्के चिह्न थे, परन्तु उसका स्वतन्त्र विश्लेषण उसे इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि लेखक एक ऐसा बुद्धिमत् आदर्शवादी था जिसने ससार को धीरे-धीरे प्रयत्न और भ्रान्ति द्वारा समझा था और जिसकी यह निष्पन्न समझ यश की तृष्णा और आशाओ के निरन्तर भङ्ग होने से निष्फल हो गई थी। स्मौलैट तत्त्वत एक बहिर्मुखी था। गूढ विचार उसके मन मे घुसते ही नही थे और स्थूल से सूक्ष्म की ओर आना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। उसका मन ऐसी घटनाओ की चेतना से भरा था जो उसने देखी थी या जो उससे बीती थी। इसी कारण उसकी अभिव्यञ्जना का विशेष गुण हास्यकत्व है, श्लेष और वक्रोक्ति नही। हौथौर्न यद्यपि स्वय रहस्यवादी न था फिर भी वह रहस्य और रहस्यपूर्ण विषयो मे तल्लीन रहता था। उसके मन पर सदा यह दृढाग्रह रहता था कि मनुष्य की शक्ति सीमित है और परमसत्ता असीमित है। इस प्रकार का मन अभिव्यञ्जना के लिए किसी सुसङ्गठित और विश्वव्यापी धर्म का सहारा लेता है, परन्तु क्योकि हौथौर्न को कोई ऐसा धर्म सुलभ नही, तो उसे, उसकी जगह लक्षण-पद्धति का सहारा लेना पडा। वर्ड्सवर्थ मे जो १७९८ ई० से आगे दस वर्ष तक काव्योद्गार हुआ, उसे हर्बर्टरीड उस अन्तर्वेगीय सङ्कट की प्राज्ञ प्रतिक्रिया समझता है जिसका निवारण ऐनैट से बाकायदा पृथक् होने मे हुआ। हर्बर्टरीड की अधिकतम विस्तृत मनोवैज्ञानिक आलोचना, शैली का परिपोषण है। आर्नल्ड, शैली के विषय मे कहता है कि उसमे सारपूर्ण वस्तु की पूर्ण कमी है और टी० एस० इलियट का कथन है कि शैली के विचार युवको के से हैं। दोनो उस पर दुराचार का दोषारोपण करते है। साथ ही साथ दोनो उसकी प्रतिभा के चमत्कार से आकृष्ट होते है। शैली के व्यक्तित्त्व का निकटतम अध्ययन करने के पश्चात् हर्बर्टरीड का यह निर्णय है कि ये दोनो आलोचक बडे अहिल है। कोई कवि हमे वह सन्तुष्टि नही दे सकता जिसका देना उसकी प्रकृति के बाहर है। शैली समलिङ्गरत अवस्था मे स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिरता के उसमे सब चिह्न मिलते हैं। उसके जीवन और लेखों के यह तीन मुख्य लक्षण हैं – पहला लक्षण यह है कि जब तब वह रोगात्मक मतिविभ्रम का प्रदर्शन करता है, दूसरा लक्षण यह है कि उसकी रचनाओ मे अगम्यगमन का प्रयोग मिलता है, उदाहरणार्थ 'द रिबोल्ट ऑफ इस्लाम' की पहली प्रति, 'रौज़लिण्ड एण्ड हैलन', और 'द सेन्साई' मे, और तीसरा लक्षण यह है कि उसके आत्माभिव्यञ्जना के साधारण ढङ्ग में वास्तविकता का अभाव है जिसकी सिद्धि इस प्रकार होती है कि उसमे न तो मूर्तिकला और न वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरणो के सौन्दर्य की प्रशसा करने की क्षमता थी। इन सब लक्षणों का सम्बन्ध समलिङ्गरति से है। समलिङ्गरति का प्रादुर्भाव बच्चे की आत्मरति की अवस्था मे होता है जब वह अपनी माँ को देखते-देखते अचेतन रूप से अपने शरीर से प्रेम करने लगता है। अपने शरीर से प्रेम करना अपने लिङ्ग वाले व्यक्तियो से प्रेम करना है।

यही मनोविज्ञान मे समलिङ्गरति कहलाती है। अचेतन समलिङ्गरति जब किसी बच्चे की प्रधान वृति हो जाती है तो उसमे मानसिक व्यक्तिक्रम अथवा परिवर्द्धित आत्मिकता आ जाती है, और आगे चल कर यह उसके स्वभाव को भ्रमात्मक बना देती है। आत्मरति की अवस्था के पश्चात् वह अवस्था आती है जिसमे बच्चा अपने आस-पास के व्यक्तियो मे अपनी कामवासना सम्बन्धी मुक्त कल्पनाओ की सिद्धि चाहता है। क्योकि बच्चे की माँ और बहिने ही सदा उसके समीप रहती है उसमे अगम्यगमन की भावना वर्द्धमान हो जाती है। परन्तु समाज इस भावना की सिद्धि का निषेध करता है और बच्चा बार-बार रोके जाने के कारण उसका दमन करने लगता है। इस दमन से बाद मे या तो बच्चे के हृदय मे अगम्यगमन के प्रति घृणा पैदा हो जाती है या वह अगम्यगमन की कल्पनाओ से अपने दिल को बहलाने लगता है, विशेषतया जब बच्चा समलिङ्गरत रहा आता है। ऐसा बच्चा जो समलिङ्गरति की अवस्था मे स्थिर हो जाता है, अपनी सासारिक उपयुक्तता मे अवास्तविकता का प्रदर्शन भी करता है। यदि वह जीवन मे कवि हो जाता है, तो उसकी अवास्तविकता उसकी प्रतिमाओ और उसके शब्दविन्यास मे साफ़ दीख पडती है। समलिङ्गरत व्यक्ति दूसरे लिङ्ग के व्यक्ति के साथ समागम नही चाहता, उसकी कामना एक ऐसे साधारणीकृत ऐक्य की होती है जिसमे व्यक्ति अपने को विस्तृत जगत् से पृथक् नही समझता। इससे शैली की परहितनिष्ठा भी स्पष्ट हो जाती है, जैसे इससे ऊपर के विवेचन से उसकी और तीनो विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है। इस विवेचन मे शैली को समलिङ्गरत कहा गया है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि वह जीवन भर दूसरे लिङ्ग के ऐसे व्यक्तियो की खोज मे रहा जो उसे पूरी तुष्टि दे। परन्तु उसके इन कई प्रेमव्यापारो को हम अनात्मिकता की अवस्थाएँ नही मान सकते, क्योकि उसकी अभिलाषा प्रत्येक स्त्री मे अपनी आदर्श आत्मा का प्रतिरूप देखने की रहती थी। और यह प्रतिरूप उतना ही दूर चला जाता था जितना निकट वह अपनी प्रिया के पास आता था। प्लैटो ठीक था जब उसने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव प्रेम की प्राप्ति का साधन माना था। शैली मूर्ख था जब उसने अपनी आदर्श आत्मा की प्रतिमा 'स्त्री के शरीर और स्वभाव मे देखने की कोशिश की और उसकी यही मूर्खता उम्रभर उसकी विपत्तियो का कारण बनी।

प० रामचन्द्र शुक्ल कहते है कि सस्कृत और हिन्दी मे किसी कवि या पुस्तक के गुण-दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल पहले थी ही नही। फिर उसकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा मे विस्तृत लेख लिखने की तो बात ही क्या। परन्तु ऐसी परीक्षा के लिये सस्कृत और हिन्दी मे बडा क्षेत्र है क्योकि इन भाषाओ के कवि बहुधा दार्शनिक अथवा साम्प्रदायिक मतो से सहानुभूति रखा करते थे। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' की विचारधारा में गहन प्रवेश कर अश्वघोष के मस्तिष्क का पुनर्निर्माण करना और फिर उसे उनकी इन्ही और दूसरी कविताओ मे घटाना कितने आलोचनात्मक अनुराग का विषय होगा। कालिदास की साख्य धार्मिक मनोवृत्ति और जीवन के प्रति उसकी शास्त्रसम्मत दृष्टि और शृङ्गार रस का सञ्चार करने

वाली उसकी अद्भुत प्रतिभा उसके 'रघुवश,' 'कुमारसभव' और 'शकुन्तला' मे भली भाँति मिल सकती है जैसे भारवि की पौराणिक वीरोपासना उसके 'किरातार्जुनीय' मे। सूरदास की सख्यभावपूर्ण कृष्णोपासना की मनोवृत्ति जैसे वह वल्लभाचार्य से प्रभावित हुई थी, उनके गीतकाव्य मे देखी जा सकती है, जैसे तुलसीदास की रचनाओ मे राम के प्रति उनकी दास्य-भावपूर्ण भक्ति प्रदर्शित है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे बहुत से लेखको के मन को निश्चित करके उनकी कृतियो को उससे सम्बन्धित किया है। कबीर के मन का विकास कई तत्त्वो के सश्लेषरण से हुआ था। साधारणत कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है, परन्तु उनके अन्त करण पर भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद, और वैष्णवो के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद इन सब का प्रभाव था। मलिक मुहम्मद जायसी के मन को शुक्ल जी ने बडा कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ कहा है और इन्ही विशेषताओ के कारण उन्हे उस हृदयसाम्य की प्राप्ति हुई जिसे कबीर पूरी तरह न पा सके। यदि कबीर को परोक्षसत्ता की एकता का आभास हुआ तो मलिक मुहम्मद जायसी को प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास हुआ। इसी से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का जो सफल भाव जायसी की रचनाओ के पढने से उत्पन्न होता है, वह कबीर की रचनाओ से नही।

रचना-शक्ति और काव्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे तो मनोवैज्ञानिक रीति का प्रयोग काफी रहा है। प० गगानाथ झा अपने 'कवि-रहस्य' मे प्राचीन मतो के आधार पर लिखते है कि "कवि की श्रेष्ठता उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या, और औपदेशिक। सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के सस्कारो से उत्पन्न होती है और अपना चमत्कार सहज ही मे दिखाती है, उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम नही चाहती। आहार्या प्रतिभा इस जन्म के सस्कारो से प्राप्त होती है और उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम चाहती है। औपदेशिक प्रतिभा मन्त्रो और शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त होती है और बडे परिश्रम से मामूली चमत्कार दिखाती है। इन तीन प्रतिभाओ के अनुसार तीन तरह के कवि होते है—सारस्वत, आभ्यासिक, और औपदेशिक। "जन्मान्तरीय सस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है, वह बुद्धिमान् सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भासित हुई है, वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्य-रचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" स्पष्ट है कि इन तीनो प्रकार के कवियो मे पहला दूसरे से और दूसरा तीसरे से अधिक प्रसिद्ध होता है। प्रतिभा के साथ-साथ यदि कवि मे व्युत्पत्ति अथवा उचित अनुचित का विवेक कराने वाली शक्ति भी रहे तो वह अधिक उत्कृष्ट होता है।

हम पीछे रचनात्मक प्रक्रिया के प्रसङ्ग मे इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवरण दे चुके हैं। यहाँ हम प० रामदहिन मिश्र के 'काव्य-दर्पण' से रस और मनोविज्ञान का यह सम्बन्ध उद्धृत करते हैं—"मानसशास्त्र की दृष्टि से एक काव्यपाठक के मानस-व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बाते हमारे सामने आती है। एक तो है उत्तेजक वस्तु

(स्टिमुलस)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि। दूसरी है उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध मे प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करने वाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। और तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (रैस्पौन्स) का स्वरूप है उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कम्प, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रकट होता है।" मिश्र जी का रस का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अच्छा है परन्तु जैसे वे कहते है रसिकगत ही है। हम उपर्युक्त प्रसङ्ग मे रस का रचयितागत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दे चुके है।

५

वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग आलोचना की विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे हम पहले कर चुके है। इस शब्द का प्रयोग पद्धति के सम्बन्ध मे भी हो सकता है। विज्ञान, व्यवस्थित ज्ञान है और ज्ञान को व्यवस्था देने के लिये आगमन अधिक से अधिक फलदायक रीति है। जब साहित्य के अध्ययन मे आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो फल होता है आगमनात्मक आलोचना अथवा व्याख्या।

आगमनात्मक पद्धति क्या है? आगमनात्मक पद्धति मे पहला क्रिया प्रदत्त का एकत्रीकरण है। इसके लिये अवलोकन की आवश्यकता है जो सही और न्यायसङ्गत हो। एकत्रित तथ्य वे हो जो प्रकृति मे मिले न कि वे जो निरीक्षक को उपयुक्त लगे। नियतत्व (प्रीसीशन) पर जितना जोर दिया जाय उतना ही थोडा है। विज्ञान का प्रत्येक पण्डित जानता है कि किस प्रकार नियतत्व पर आग्रह करने से एक नई गैस आर्गन की खोज हुई। दूसरी क्रिया प्रदत्त का क्रमबद्ध करना है जो विश्लेषण और सश्लेषण द्वारा होता है और जिसका उद्देश्य अन्योन्यान्वय और अनुक्रम की एकरूपताओ का ज्ञान है। तीसरी क्रिया कल्पना की सृष्टि है। प्रयोग और परीक्षा के पश्चात् कल्पना सिद्धान्त के पद पर पहुँचती है। सिद्धान्त तभी पक्का माना जाता है जब वह तथ्यो का पूरी तरह वर्णन करता है, जब उसके ब्योरे प्रयोग द्वारा स्पष्ट हो जाते है, और जब वह साक्ष्य पर ही आधारित होता है।

मोल्टन का मत है कि साहित्यालोचन का आगमनात्क विज्ञान सम्भव है। प्रत्येक विज्ञान तीन अवस्थाओ से निकलने पर अस्तित्व मे आता है, विषय-वस्तु का अवलोकन, विश्लेषण और वर्गीकरण, और व्यस्थापन। ज्योतिष बहुत काल तक नभश्चरो और तारागणो के अवलोकन मे व्यस्त रही। वह दूसरी अवस्था को तब प्राप्त हुई जब उसने सौर, चान्द्र, ग्रहविषय, और धूम्रकेतु विषयक वस्तुओ का अलग-अलग अध्ययन किया। वह नियमित विज्ञान तब बना जब उसने गति और केन्द्राकर्षण के नियमो द्वारा अपना ज्ञान व्यवस्थित किया। इसी प्रकार भाषाविज्ञान तब तक पहली अवस्था मे रहा जब तक वह शास्त्रीय भाषाओ का ज्ञान सञ्चित करता रहा। ग्रिम के व्यञ्जन-परिवर्तन सिद्धान्त ने सञ्चित ज्ञान को क्रमबद्ध करके उसे दूसरी अवस्था तक पहुँचाया। वह अपनी अन्तिम अवस्था को स्वरशास्त्रविषयक विलोपन के सिद्धान्त (प्रिन्सीप्ल ऑफ फ़ौनैटिक डिके)

की सहायता से पहुँचा। साहित्यालोचन का विज्ञान अब भी अपने सञ्चित ज्ञान को क्रमबद्ध कर रहा है और अभी दूसरी अवस्था से आगे नही बढा। वह अपनी तीसरी अवस्था को तभी प्राप्त होगा जब वह उन नियमो का अन्वेषण कर लेगा जो इस बात को स्पष्ट करेगे कि तरह-तरह की साहित्यिक कृतियाँ किस प्रकार अपने प्रभावो को पैदा करती है। इस बीच मे साहित्यालोचन को वैज्ञानिक कठोरता से अन्वेषण और वर्गीकरण के काम को अग्रसर करना चाहिए।

आलोचक को साहित्य का निरीक्षण वैज्ञानिक वृत्ति से करना चाहिये। वह अपने तथ्य कृति के ब्यौरो मे ढूँढे। परन्तु कुछ शास्त्रज्ञो का कहना है कि साहित्य की विषय-वस्तु मे कोई निश्चितता नही है। साहित्य का एक तथ्य उतने तथ्य हो जाते है जितने पाठक होते हे। इसके उत्तर मे मोल्टन की दलील है कि यह कठिनाई और विज्ञानो मे भी मिलती हे। भय की एक वस्तु दर्शको को तरह-तरह से प्रभावित करती है, कोई आत्मसयम दिखाता है तो कोई मूर्छा से विवश हो जाता है। फिर भी मनोविज्ञान सम्भव हुआ है। प्रश्न केवल यह उठना हे कि तथ्य से प्रभावित होने की विभिन्नता कैसे दूर की जाय। साहित्य मे यह विभिन्नता किताब की ओर बार-बार ध्यान देने से निकाली जा सकती है क्योकि तथ्य उसी मे निश्चित है। जब तथ्य ऐसे शुद्ध रूप मे एकत्रित किये जाते है तो उनके आधार पर साधारणीकरण सम्भव हो सकता है। मान लो, हमे मैक्बैथ के चरित्र की व्याख्या करनी है। हम नाटक को अनात्मिकता से पढ़े, उसमे मैक्बैथ जो कुछ कहता है या करता है और उसके विषय मे जो कुछ दूसरे कहते या महसूस करते है, इन बातो पर और दूसरी ऐसी बातो पर ध्यान देकर मैक्बैथ के विषय मे हम अपनी मति निर्धारित करे। बस, यही मैक्बैथ के चरित्र की आगमनात्मक व्याख्या होगी। इस व्याख्या की सत्यता से हम तभी प्रभावित होगे जब वह उन सब ब्यौरो को स्पष्ट कर देगी जो मैक्बैथ के चरित्र के सम्बन्ध मे नाटक मे मिलते है। यह व्याख्या चरित्र के निहित उद्देश्य को विदित करेगी, चरित्र के शरीर अथवा अन्तर्जात उद्देश्य को, ऐसे किसी उद्देश्य को नही जो स्वय नाटककार का अभिप्रेत हो। वैज्ञानिक आलोचक इस बात को मानता है कि कला प्रकृति का अश है। जैसे प्रकृति के नियम प्रकृति ही देती है, उनका आरोप बाहर से किसी शक्ति द्वारा प्रकृति पर नही होता, वैसे ही साहित्य के नियम साहित्य देता है, बाहर से कोई व्यक्ति उन्हे निश्चित नही करता। यह नियम धार्मिक अथवा राजनीतिक नियमो से भिन्न होते है। केचुए का उद्देश्य धरती फाडकर उसे उपजाऊ बनाना है। क्या कोई बाहर से केंचुए को इस उद्देश्य की पूर्ति की शिक्षा देता है? इसी तरह फूलो के रङ्ग-बिरङ्गे होने का उद्देश्य कीडों को आकृष्ट करना है। कौन फूलों की पूर्वप्रबोध के लिये प्रशसा करता है? ऐसे ही उद्देश्य साहित्य के होते है और ऐसे ही उद्देश्यो और नियमो की खोज वैज्ञानिक आलोचक साहित्य मे करता है। जिस नियम की उसे उपलब्धि होती है वह रचना-विस्तार विषयक व्यापार का वर्णन होता है। यदि वैज्ञानिक आलोचक को निश्चित नियम से हटा हुआ कोई दृष्टान्त मिलता है तो वह उसे किसी नये वंश का सूचक मानता है। साहित्यिक वशो का अन्तर निरूपण ही मोल्टन के

मतानुसार वैज्ञानिक आलोचना का मुख्य कर्त्तव्य है। वह इस बात को मानती है कि साहित्य मे असीम परिवर्तन और नानाविधित्व की पूरी क्षमता है और इसी क्षमता के फल-स्वरूप उसकी वृद्धि होती है। और क्योकि साहित्योत्पादन आलोचना के आगे आगे चलता है, आलोचना का फर्ज यही है कि वह उसके पीछे-पीछे चले और उसकी उत्पादित नई वस्तुओ की व्यवस्था करे।

आगमनात्मक आलोचना पुराने समय से चली आ रही है। अरिस्टॉटल आगमनात्मक आलोचक था। उसने उस यूनानी साहित्य का जो उसके समय से पहले लिखा जा चुका था, पूरा अध्ययन किया था। कविता, करुण, और महाकाव्य के सम्बन्ध मे उसके साधारणीकरण हमे उसकी 'पोइटिक्स' मे मिलते है, और गद्य और सुभाषणकला के सम्बन्ध मे उसके साधारणीकरण हमे उसकी 'रैटॉरिक' मे मिलते है। उसके प्रदत्त मे आख्यायिको की कमी थी। इसी से उसने कविता को आत्मिक रूप की जगह अनुकरणात्मक तत्त्व कहा। फिर भी करुण और महाकाव्य के क्षेत्रो मे उसके साधारणीकरण अब तक बडे उपयोगी साबित हुए है। करुण की कई बातो पर तो उसका कथन अन्तिम है। बेकन ने कविता के रूपो की परीक्षा करके उनको तीन वर्गो मे विभक्त किया - कथात्मक, प्रतिनिध्यात्मक, और लाक्षणिक। अठारहवी शताब्दी के अँग्रेजी-साहित्य की विवेचना मे पैरी का यह दृढ विश्वास है कि साहित्य का विकास उतना ही नियमबद्ध है जितना कि समाज का विकास। पोसनैट ने साहित्य की प्रगति चिह्नित करने के लिये स्पैंसर के वैज्ञानिक अनुसन्धानो की सहायता ली है। उसका यह निष्कर्ष है कि साहित्य पहले कुल सम्बन्धी था, फिर नगर प्रजातन्त्र सम्बन्धी हुआ, फिर ससार सम्बन्धी हुआ, और अन्त मे राष्ट्रीय हुआ। ब्रूनैटियर ने साहित्यिक प्रकारो के विविधत्व की परीक्षा स्पैन्सर के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार की है, उनके रूपान्तर की परीक्षा टेन के ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार की है, और उनके परिवर्तन की परीक्षा डार्विन के जीवनहेतु सघर्ष और प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तो के अनुसार की है। मोल्टन को आगमनात्मक आलोचना मे पथप्रदर्शक नही कह सकते। अपनी 'शेक्सपिअर एज ए ड्रैमैटिक आर्टिस्ट' नाम की पुस्तक मे जिसमे उसने शेक्सपिअर के नौ नाटको के आधार पर उसकी आगमनात्मक व्याख्या की है, वह साफ कहता है कि साहित्यिक आलोचना मे आगमनात्मक काम काफी हुआ है, खेद इसी बात का रहा है कि आलोचको ने अपने काम को आगमनात्मक कह कर घोषित नही किया है।

आगमनात्मक आलोचना मे मनोवृत्ति पूर्ण सहानुभूति की रहती है। और सहानुभूति ही वास्तविक व्याख्याता है। निर्णयात्मक क्रिया मे सहानुभूति सीमित हो जाती है। निर्णय की भावना ही चाहे जितनी ग्रहणशील क्यो न हो, पक्षपातपूर्ण होती है। इसीसे मोल्टन आगमनात्मक आलोचना को निर्णयात्मक आलोचना से उच्चतर कहता है। परन्तु साहित्यिक अध्ययन की आगमनात्मक पद्धति के आवेश मे आकर वह अपने सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आलोचना उसी साहित्य का एक अश है जो सदा वृद्धि की ओर अग्रसर होता है। निर्णयात्मक आलोचना साहित्य मे अपना अस्तित्व रखती है और वैज्ञानिक

गवेषणा का विषय उसी तरह बन सकती है जिस तरह शेक्सपिअर का नाटक मोल्टन बडी दृढता से इस बात की पुष्टि करता है कि साहित्यिक व्यापारो का विज्ञान उतना ही न्याय्य है जितना कि बनस्पति व्यापारो का अथवा वाणिज्य व्यापारो का। यदि बनस्पतिशास्त्र और अर्थशास्त्र सम्भव है तो आलोचना-शास्त्र भी सम्भव है। गुण और दोष के सवाल आलोचना के बाहर है। कोई भूगर्भविज्ञानवेत्ता इस चट्टान को बुरा और उस चट्टान को भला कहते हुए नही सुना गया। उसे सब चट्टाने एक समान ग्रहणीय है और सब का वह आगमनात्मक रीति से अध्ययन करता है। उसी वृति से आलोचना साहित्यिक तथ्यो का अध्ययन करती है। परन्तु भूगर्भविज्ञान अथवा बनस्पति विज्ञान मे वैयक्तिक तत्त्व का लोप हो जाता है। साहित्य मे व्यक्तित्व प्रधान होता है। दूसरी बात यह है कि साहित्य कला की हेसियत से जीवन का चित्रण करता है। जब तक साहित्यिक तथ्यो की मानुषिक और रचनाप्रक्रिया-विषयक सङ्गतता का मूल्य न निर्धारित किया जाय तब तक ठीक आलोचना सम्भव नही और ऐसी सङ्गतता के मूल्य-निर्धारण से आगमनात्मक आलोचक विमुख रहता है। फिर भी आगमनात्मक आलोचना की उपयोगिता है। किसी कृति अथवा कृतिकार को आलोचना उसके सम्यक् बोध के बाद ही आ सकती है। आगमनात्मक आलोचना हमारा ध्यान उन सिद्धान्तो पर एकाग्र करती है जो साहित्यिक कृतियो के ब्योरो को सम्बद्ध करते और उनका एकीकरण करते है। ऐसे सिद्धान्तो की पकड के अतिरिक्त क्या कोई और तरीका ऐसा है जिससे कृति का ज्ञान अधिक पूर्णता से हो जाय ?

चौथा प्रकरण

निर्णयात्मक आलोचना (जुडीशल क्रिटीसिज़्म)

आलोचना के लिये अंग्रेजी का शब्द क्रिटीसिज़्म है। यह शब्द जिस ग्रीक धातु से आया है उसका अर्थ निर्णय करना है। पश्चिम मे आलोचना की आरम्भिक रीति निर्णयात्मक ही थी, और निर्णय करने के मानदण्ड नैतिक होते थे। धीरे-धीरे आलोचना ने प्रेक्षावत् विश्लेषण द्वारा साहित्याध्ययन की प्रक्रिया का निष्पादन किया। आलोचना की आधुनिक चाल साहित्यिक कृतियो से प्राप्त मनाङ्को को लिख डाल कर सन्तुष्ट होने की है। इस क्रम से आलोचना का विकास समय मे हुआ। आदर्श रूप मे यह क्रम उलट जाना चाहिये। पहली अवस्था मे आलोचक पूर्ण ग्रहणशीलता से कृति को पढे और उसके सम्पर्क मे अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रिया का अनुभव करे। दूसरी अवस्था मे कृति का सम्पर्क ज्ञान प्राप्त करे, जो तभी सम्भव हो सकता है जब आलोचक उत्तरप्रद और उत्तरदायी दोनो हो। और अन्त मे कृति के मूल के विषय मे अपना निर्णय निश्चय करे। जो कि रचनात्मक और व्याख्यात्मक आलोचक इस बात को मानने के लिये तैयार नही है, फिर भी यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि आलोचना का मुख्य कार्य निर्णय रहा है और रहेगा।

कृति का मूल्य उसी मे पहले से ही निहित है अभिव्यक्त अनुभव मे ही नही, वरन् अनुभव की अभिव्यञ्जना मे भी। यदि कलाकार का अनुभव उसके लिये मूल्यवान् नही है और अनुभव की अभिव्यञ्जना उसे सन्तुष्ट नही करती, तो वह कलाकृति की रचना मे असफल रहेगा, आलोचक का यही कर्त्तव्य है कि वह उन मूल्यो की खोज करे जिनके प्रभाव से कलाकार की रचनात्मक क्रियाशीलता सञ्चालित हुई थी और उन मूल्यो के जीवन और कलासम्बन्धी औचित्य की परीक्षा करे। इस प्रकार आलोचक मूल्यो का निर्णायक है। कलाकार जीवन के जङ्गल और अभिव्यञ्जना की परिक्रिया के परिष्कारकों का साहसी नेता है। आलोचक देखता है कि भटकी हुई मानवजाति के लिये उसने रास्ता साफ किया है या नही। और जिसे मानव जाति सत्य समझती थी, उसे उसने व्यक्त किया है या नही। आदर्श आलोचक तो असम्भव सी चीज़ है। वह सर्वज्ञ हो तथा जीवन और अस्तित्व की योजना मे प्रत्येक वस्तु का आवश्यक स्थान समझता हो। उसकी बुद्धि दैविक होनी चाहिये। जिस आलोचक को हम आदर से सुन सकते है, वह मानव जाति की सञ्चित ज्ञानराशि का पूर्णतया जानता हो और उसमे यह निर्णय करने का सामर्थ्य हो कि कहाँ

मनुष्य जाति सत्य के मार्ग पर थी और कहाँ वह भ्रान्तिमय भटकती थी। आलोचक कलाकार से उसके स्थल पर ही भेट नही करता वरन् उससे आगे जाता है। उसकी यह क्षमता जीवन व्याख्या तक ही सीमित नही है। उसे रूप के मूल्याङ्कन और शब्दो की व्यञ्जना-शक्ति की परीक्षा मे प्रवीण होना चाहिये, क्योकि कलाकार अपने जीवनदर्शन को क्रमिक प्रतिमाओ और प्रत्ययो द्वारा रूप देता है। जिस प्रकार आलोचक जीवन के मूल्याङ्कन मे कलाकार से आगे होता है उसी प्रकार वह उससे रूप और रचनाप्रक्रिया के मूल्याङ्कन मे आगे होता है। उसमे यह देखने की योग्यता होती है कि धारणा और अभिव्यञ्जना दोनो मे रूप प्राप्त करने के लिये कलाकार ने जीवनवस्तु का निष्कपटता से प्रयोग किया है और उपकरण रूप के पूर्णतया उपयुक्त है। ऐसे आलोचक को सास्कृतिक अनुशासन अविरत और सोत्साह स्वीकार करना चाहिये। ग्रीस के एक प्राचीन आलोचक लॉञ्जायनस का कहना है कि साहित्य की योग्यता पर निर्णय देना अतिशय प्रयास का मिष्ठ फल है। आलोचक को कला का विस्तृत अनुभव और दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र तथा आलोचना का सर्वाङ्ग अध्ययन होना चाहिये। ऐसे अनुभव और अध्ययन से उसे मूल्याङ्कन के उन मान-दण्डो की सूझ होगी जिन्हे वह साहित्य की परीक्षा मे सविश्वास इस्तेमाल कर सकता है।

साहित्य और कला के मूल्याङ्कन की समस्या को भलीभाँति समझने के पहले यह जानना लाभदायक होगा कि भिन्न-भिन्न काल के कवियो, दार्शनिको और आलोचको ने हमारे पथप्रदर्शन के लिए कौन-कौन सङ्केत, सिद्धान्त, और विशदीकरण दिये है।

१

यूनानियो मे आलोचनात्मक शक्ति होमर से ही क्रियाशील हो जाती है। उसकी 'इलियड' के अठारहवें सर्ग मे कलात्मक रचना के विषय मे एक प्रसिद्ध स्थल है। हिफैस्टस ने एकीलीज की माँ थैटिस की प्रार्थना पर उसके लिए एक ढाल बनायी थी। वह युद्ध और शान्ति के दृश्यो से आभूषित थी। इनमे से एक दृश्य बसन्त ऋतु मे किसी कृषक को खेत मे हल चलाता हुआ उपस्थित करता है। खेत की कन्दाकारी का वर्णन करते हुए होमर, हिफैस्टस की प्रशसा मे लिखता है, "और हल के पीछे धरती काली पड़ गई और जुती हुई धरती की तरह दिखाई पडने लगी, यद्यपि वह सोने की बनी हुई थी, और यही उसकी कला का अद्भुत चमत्कार था।" कवि का कहना है कि यद्यपि कलाकार सोने पर काम कर रहा था फिर भी वह सोने के पीलेपन को काला कर दिखाने मे सफल हुआ। स्पष्ट है कि कलाकार माध्यम को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर उसके द्वारा अपने विचार प्रकट कर सकता है। यहाँ हिफैस्टस ने सोने मे वह बात पैदा कर दी जो सोने का गुण नहीं था। गोकि होमर साफ-साफ नहीं कहता, इस स्थल का आलोचनात्मक महत्त्व कलाकार की सफलता का मानदण्ड निर्दिष्ट करना है। जहाँ तक कलाकार अपने माध्यम के अन्तर पर विजय प्राप्त करता है, वहाँ तक ही उसे सफल कहा जा सकता है। होमर के बाद यूनानी आलोचना मे कूटतार्किकों (सोफिस्ट्स) का स्थान है। वे व्याकरण

और वाग्मिता मे निपुण होते थे। इसी से उन पर यह आक्रमण होता था कि वे नवयुवको को वाक्चपल बनाकर उन्हे भ्रष्ट करते थे। परन्तु उनके छोटे नगरराज्य मे जनसत्तावादी वक्ता की आवाज़ कान मे गूँजती थी और सुभाषणकला मे चातुर्य्य दिखाने की प्रवृत्ति प्रत्येक नागरिक मे देखी जाती थी। इस कारण से आलोचना का एक ओर तो सुभाषण-कलाकौशल मे अनुराग बढ़ा और दूसरी ओर उसी कला की विषय-वस्तुओ मे। बस, आलोचनात्मक मूल्याङ्कन के दो मानदण्ड भली-भाँति परिभाषित हो गये। जो लेख अथवा वक्तव्य जितना अलङ्कारयुक्त, व्यग्यार्थपूर्ण, प्रभावशाली हो वह उतना ही सुन्दर है और उसकी विषयवस्तु जितनी शिक्षाप्रद हो वह उतना ही महान्। यूनानी मस्तिष्क पर धर्म और जनतन्त्रीय राजनीति का दृढाग्रह था और इन्ही दोनो गुणाको ने यूनान के साहित्य का विकास निश्चित किया। यूनानी मत के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्यो को सत्य, धर्म्यता, और नागरिकता का उपदेश देना है। सभी यूनानी आलोचक इस बात पर सहमत है कि साहित्य का कर्तव्य पढाना है, परन्तु क्या पढाया जाय और कैसे पढाया जाय, इन बातो पर मतभेद है। साहित्य उपदेशात्मक हो, इस मत का सबसे बली प्रकाशक प्लैटो था। प्लैटो आदर्शवादी सुधारक था और वह प्रत्येक एथैन्स निवासी को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। मनुष्य के दो धर्म हैं। बतौर विशिष्ट व्यक्ति के उसे सत्य की प्राप्ति मे संलग्न रहना चाहिये और बतौर समाज के सदस्य के उसे सदाचारी होना चाहिये। सत्य और सदाचार की प्राप्ति ज्ञान द्वारा सम्भव है, ज्ञान जीवन के अनुभव के अतिरिक्त साहित्य द्वारा भी आता है। यह जानने के लिए कि साहित्य द्वारा प्राप्त ज्ञान एथैन्स के नवयुवक को लाभदायक था अथवा हानिकारक, उसने यूनानी साहित्य की कड़ी परीक्षा की। उसने होमर के महाकाव्य के बहुत से अशो को पावित्र्यदूषक और झूठा साबित किया। पावित्र्यदूषकता का तो साहित्य मे व्यापक दोष है। 'इसका कारण यह है कि साहित्यकार अपने काव्यों मे भले आदमियो को दु खी और बुरे आदमियों को सुखी करके चित्रित करता है। नाटक मे तो बहुधा यही मिलता है। कविता भी मनोवेगो को दबाने के बजाय उन्हें उत्तेजित करती है और पाठक की बुद्धि पर अन्धकार का आवरण आच्छादित करती है। झूठेपन का दोष भी साहित्य मे व्यापक है। प्लैटो का विश्वास था कि लौकिक सत्य अलौकिक सत्य की छाया है। कलाकार लौकिक सत्य का अनुकरण करता है और जिस सत्य को वह अपनी कला मे चित्रित करता है वह लौकिक सत्य की छाया है। इस प्रकार कला का सत्य दैविक अथवा सारभूत अथवा शुद्ध सत्य की छाया है। बस, यह बात सिद्ध हो जाती है कि साहित्य, नागरिक को न तो सत्य की शिक्षा देता है और न नीति की। इसी विचार से प्लैटो ने अपने जनसत्तात्मक राज्य मे कवि को कोई स्थान नही दिया। परन्तु इस विचार को प्लैटो का अन्तिम विचार नही समझना चाहिये। यदि कोई कवि दार्शनिक मनन मे व्यस्त रहता हुआ आध्यात्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करे और ब्रह्मनिष्ठ गति को प्राप्त करके दैविक सत्य का अनुभव करने मे समर्थ हो और ऐसे अनुभवो को अपनी कविता मे चित्रित करे, तो ऐसा कवि मानव जाति का सच्चा पथप्रदर्शक होगा

और उसकी कविता मानव जाति की वाञ्छित विपुल धनराशि होगी। दोनो पक्षो मे जब वह कवि का बहिष्कार करता है और जब कवि को सच्चा पथप्रदर्शक कहता है, प्लैटो का निष्कर्ष यही है कि कविता अथवा कला वही उत्कृष्ट मानी जायगी जो नैतिक और दार्शनिक सत्य पर आधारित होगी। प्लैटो की कलात्मक उत्कृष्टता के मूल्याङ्कन का मानदण्ड सत्य की अनुकूलता है। प्लेटो कला को उपदेश के अधीनस्थ करके उसकी उपेक्षा करता है। अरिस्टॉटल उसे कल्पनात्मक आदर्शीकरण से सम्बन्धित करके उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करता है। प्लैटो ने सुन्दर और शिव का समीकरण किया। अरिस्टॉटल ने सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना। उसने कहा कि कल्पनात्मक अनुकरण तो चाहे बुराई का हो चाहे कुरूपता का सदा सुखदायक होता है और उपलब्ध सुख सदा मानसिक शोध का होता है। इस बात को उसने करुण की परिभाषा के अन्तिम भागो मे स्पष्ट किया हे कि वह करुणा, दया और भय के भावो को उत्तेजित करके उनका शोध करता है। इस विचार से कला पर पावित्र्यदूषकता का दोषारोपण करना वृथा है। झूठेपन का दोषारोपण भी सर्वथा निरर्थक है। कला का सत्य, भाव का सत्य होता है, तथ्य अथवा इतिहास का सत्य नही। अमुक पुरुष अमुक परिस्थिति मे अमुक चारित्रिक विशेषताओ के कारण ऐसा करेगा, यह कलात्मक सत्य है। एलकीवियेडीज ने यह किया, यह ऐतिहासिक सत्य है। इस विचार से यह निश्चित हुआ कि अरिस्टॉटल का कला के मूल्याङ्कन का पहला मानदण्ड कलात्मक आदर्शीकरण है। कला के मूल्याङ्कन का अरिस्टॉटल का दूसरा मानदण्ड रूपसौष्ठव है। इसका स्पष्टीकरण उसने करुण के विवेचन मे किया है। करुण के छ घटकावयव होते हैं—वस्तु अथवा घटनाओ का विन्यास; चरित्र अथवा सकल्पात्मक वृत्ति का वाह्य प्रदर्शन, वाक्सरणि जिसके द्वारा पात्रो के विचार व्यक्त होते है, भाव जिनसे वे उत्तेजित होते है, रङ्गमञ्च पर अभिनेताओ का खेल, और सङ्गीत। इन छहों मे वस्तु करुण की जान है और कवि को उसके निर्माण मे बडी सावधानी दिखानी चाहिये। वस्तु का आदि, मध्य, और अन्त हो और समस्त वस्तु मे ऐक्य हो। उसका घटना-विन्यास सम्भाव्य और अनिवार्यता के सिद्धान्तो पर हो। नायक के भाग्य मे एक परिवर्तन हो सकता है, सुख से ही दु ख की ओर; और दो परिवर्तन भी हो सकते हैं, सुख से दु:ख की ओर और फिर दु ख से सुख की ओर, परन्तु नाटककारो को एक परिवर्तन वाली वस्तु को अधिक पसन्द करना चाहिये। वस्तु का विकास अनुवृत्ताधार पर हो। नायक की परिस्थिति, उसके मित्रो और शत्रुओ के वर्गों के विवरण के पश्चात् धीरे-धीरे नायक का भाग्य उच्चतम स्थान तक उत्कृष्ट हो और फिर वहाँ से शात्रव-शक्तियो के बल पकड जाने के कारण धीरे-धीरे उसके भाग्य का पतन हो यहाँ तक कि उसका दु खमय परिणाम मे अन्त हो। पात्रो मे चार विशेषताएँ होनी चाहिये—वे पुण्यात्मा और उत्कृष्ट वृत्ति के हो, उनमे विप्रतिपत्ति न हो, उनमे यथार्थता हो, और अन्त तक उनके विकास मे सङ्गीत हो। करुण और भयानक रसों की उत्पत्ति के लिये नाटककार अभिनय और सङ्गीत का सहारा न ले वरन् चरित्र और सङ्घर्ष की विशेषताओं का।

पात्र बडे घराने का हो और अनजाने किसी घातक भूल के कारण विपत्ति मे फँसे। सङ्घर्ष निकट सम्बन्धियो मे हो। शैली विशद और उत्कृष्ट हो। शब्द साधारण बोलचाल के हो, वैदेशिक शब्दो का प्रयोग किया जा सकता है, उपयुक्त अलङ्कार भाषा को रोचक और आकर्षक बनाएँ। करुण का यह विवेचन जिसे वह महाकाव्य के विषय मे भी ठीक समझता है, इस बात का पूरा साक्ष्य है कि अरिस्टॉटल रूपसौष्ठव को कविता की परीक्षा मे कितने महत्त्व का समझता था। अरिस्टॉटल ने करुण के विषय मे विशिष्ट सुख का उल्लेख किया था, जो हमे रङ्गमञ्च पर उसके अभिनय अथवा घर मे उसके पढ़ने से मिलता है, परन्तु उसने इसे इतने महत्त्व का नही समझा था कि उसे कविता की परीक्षा का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड माने। यूनान के अन्तिम महान् आलोचक लॉन्जायनस का ध्यान इसी ओर गया। वह अपनी 'एट्रीटिज कन्सर्निङ्ग सब्लीमिटी' नामक पुस्तक मे लिखता है कि साहित्य मे अत्युदात्तत्व सदा भाषा की उच्चता और वैशिष्ट्य है। इसी गुण के कारण कवि और गद्य-लेखक यशस्वी और अमर हुए है। असाधारण प्रतिभा के गद्याश और पद्याश हमे बोध ही प्रदान नही करते, वरन् हमे अलौकिक चमत्कारक आनन्द का आस्वादन कराते हैं। रचना-कौशल और अनुक्रममूलक व्यवस्थापन तो समस्त रचना मे रचयिता परिश्रम से ले आता है, परन्तु अत्युदात्तत्व उचित समय पर आकर विषय-वस्तु को इधर-उधर अलग कर देता है और रचयिता की समस्त शक्ति को बिजली की जैसी एक चमक मे प्रकाशित करता है। साहित्य मे अत्युदात्तत्व पाँच तत्त्वो से आता है। पहला तत्व है महान और ऊँचे विचारो को सोचने और ग्रहण करने की शक्ति जो नैसर्गिक प्रतिभा का फल होती है। अत्युदात्तत्व का स्वर महानात्मा से ही निकलता है। महान् शब्द अनिवार्यत महान् प्रतिभा से ही उत्पन्न होते है। दूसरा तत्त्व है प्रबल और द्रुतक्रम मनोवेग जिसकी क्षमता भी प्रकृति देती है। तीसरा तत्त्व है शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का उपयुक्त प्रयोग। चौथा तत्त्व है पदरचना अथवा वाक्शैली। पाचवाँ तत्त्व है चमत्कारक प्रणयन। इन सब गुणो से सम्पन्न अत्युदात्तत्व की पहचान यह है कि इससे सहृदय की आत्मा सत्व के उद्रेक से आनन्दमय हो उत्कृष्ट होती है। वही महान् साहित्य है जो नये मनन के लिये उत्तेजना देता है, जिसके प्रभाव को रोकना असम्भव हो जाता है, जिसकी स्मृति शक्तिवान् और अमिट होती है। यह सर्वथा सत्य है कि अत्युदात्तत्व के वही सुन्दर और सच्चे प्रभाव हैं जो सब कालो मे और सब देशो मे सहृदयो को आनन्द देते हैं। अत्यानन्दमय प्रभावोत्पादकता ही लॉन्जायनस का साहित्यिक गुण जाँचने का मानदण्ड है।

सेण्ट्सबैरी के कथनानुसार तुलना ही उच्चतर और श्रेष्ठतर आलोचना का जीवन और प्राण है। रोम के आलोचकों को तुलना का लाभ था, क्योकि उनके सामने यूनानी साहित्य उपस्थित था। इस लाभ के परिणामस्वरूप वे यूनान की आलोचना से अधिक सयुक्तिक आलोचना छोड सकते थे। परन्तु रोम की प्रतिभा व्यवहार-कौशल मे चाहे जितनी उत्कृष्ट हो, तत्त्वत शौर्यहीन थी और यूनानी प्रतिभा की अपेक्षा अपने को तुच्छ समझती थी। रोम, ग्रीस को साहित्यिक बातो मे अपना शिक्षक और पदप्रदर्शक समझता

रहा। और जिस उपयोगिता के दुराग्रह ने यूनानी आलोचना को पथभ्रष्ट किया उसी दुराग्रह ने रोम के आलोचको को और भी पथभ्रष्ट किया। सिसरो और क्विण्टीलियन दोनो वाग्मित्ता पर जोर देते है। वे किसी साहित्य को वही तक ऊँचा समझते है जहाँ तक वह सुभाषणकला के लिये लाभकारी हो। सुभाषणकला ही उनका प्रधान हित है और साहित्य गौण। रोम के आलोचको मे एक हौरेस अवश्य ऐसा आलोचक है जो साहित्य को ही प्रधान हित मानता है। हौरेस कवि आलोचक था और कवि आलोचक कोरे आलोचक से सदा अधिक विश्वसनीय होता है, क्योकि वह कविता का अभ्यास करने के कारण कविता के सब नियमो को अपने भीतर देखने की क्षमता रखता हे। परन्तु होरेस भी हमे निराश करता है। साहित्य के किसी रूप का उसे गहरा ज्ञान नही हे। उसके सारे नियम ऐच्छिक है और वे पूर्वगामी आलोचको से लिये गये हे। जिस बात पर उसका जोर हे, वह रचनाकौशल मे व्यवहारिक बुद्धि का प्रदर्शन है। उसके नियम उसके 'दि एपीसल टू द पीसोज अथवा आर्ट ऑफ पोयट्री' मे वर्णित है। औचित्य का ध्यान रखो। ऐसा न करो कि स्त्री का सर घोडे की गदन और किसी पक्षी के शरीर पर रख दो। हाँ, कविओ को सब प्रकार के साहस का अधिकार प्राप्त है। फिर भी प्रकृति और व्यावहारिक बुद्धि असगत बातो को मिलाने से रोकती है। अलङ्करण विषयोनुकूल होना चाहिये। इन बातो का ध्यान रखो कि कहीं सक्षेप होने मे अस्पष्ट न हो जाओ, स्पष्टता के प्रयास मे बलहीन न हो जाओ, उडान के पीछे वृहच्छन्दस्फीत न हो जाओ, सादगी का गौरव प्राप्त करने मे नीरस न हो जाओ, और विभिन्नता के उद्देश्य की पूर्ति मे अमर्यादित न हो जाओ। विषय अपनी शक्ति को ध्यान मे रख कर बाँटो। शब्दो की छाँट मे रिवाज का ख्याल रखो। जिस प्रकार की कविता मे जैसा छन्द का प्रयोग चला आ रहा है, उससे न हटो। काव्यो के पात्र अब तक जैसे चित्रित होते आये है वैसे ही चित्रित होते रहने चाहिये, एकीलीज को सदा असहिष्णु, कठोर और घमण्डी चित्रित करना चाहिये और मैडी को रुधिरप्रिय और प्रतिशोधनोत्सुक चित्रित करना चाहिए। नये विषयो की अपेक्षा पुराने विषय अधिक अच्छे है। पुराने विषयो पर नया प्रकाश डाल कर मौलिकता दिखाना ज्यादा ठीक है। किसी प्रबन्ध का आदि शब्दाडम्बर पूर्ण शैली मे नही होना चाहिये। आग जलाकर धुँए मे अन्त करने से धुँए से आग जलाना अधिक चित्तवशकर होता है। अपने पाठक को धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये। जीवन-चित्रण मे साधारणीकरण सविवेक हो, बच्चे को बुड्ढे के गुण देना और बुड्ढे को जवानो के गुण देना अनुचित है। प्रत्येक नाटक मे पाँच अक होने चाहिये और एक दृश्य मे तीन पात्रो से अधिक न बोले। कार्य की कमी को गायक-गण पूरी करे, उनके भाव नैतिक और धार्मिक हो। हास्य और करुण का सम्मिश्रण अनुचित है। हर प्रकार के लेख को जितना माँजा जाय उतना अच्छा। अचिन्तित और प्रेरित रचना की चर्चा सारहीन है। जीवन और दर्शन के कवि को जितना ज्ञान हो उतना ही थोडा। (राजशेखर भी अपनी 'काव्यमीमासा' मे कहता है कि बिना सर्वज्ञ हुए कवि होना असम्भव है) कवि शिक्षा दे, अथवा दु ख दे, अथवा शिक्षा और सुख दोनो दे। दोषो

से बिल्कुल बचने की कोशिश ज्यादा आवश्यक नही, पर दोषो से जितना बचा जाय उतना अच्छा। (इस विषय मे लॉन्जायनस की यह उक्ति ध्यान मे रखने योग्य है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उस ऊँचाई से जानी जाती है जिस तक वह चढ जाता है । उस नीचाई से नही जिस तक गिर जाता हे।) मध्य श्रेणी की कविता असह्य है। कविता या तो उदात्त ही होती है नही तो दूषित और घृणित ही। अपनी रचना को प्रकाशित करने की जल्दी न करो परन्तु अपनी और दूसरो की आलोचना से उसे ठीक करते रहो। इन नियमो मे बडी ऊँची बाते नही है और इन नियमो का पालन करके कोई मध्यम श्रेणी का कवि ही बन सकता है, फिर भी पुनरुत्थान और नवशास्त्रीय कालो मे हौरेस का बडा आदर था, नवशास्त्रीयकाल मे तो उसका अरिस्टॉटल से भी अधिक आधिपत्य था। इन नियमो से हौरेस ने शास्त्रीय मत की स्थापना की।

मध्यकालीन विचार सामूहिक था, स्वतन्त्र और वैयक्तिक था। स्वभावत आलोचना के अनुकुल न था। बीथियस का मानदण्ड प्लैटो का है। काव्य देवियाँ मनुष्यो को मधुर विष पिलाती है, बुद्धि के प्रचुर फल का विनाश करती है, और दर्शन देवी को आते देखकर खिसक जाती है। सेण्ट ऑगस्टिन भी साहित्य के सुख को राक्षसी सुख बताता है। डाण्टे अकेला ही आलोचना का ऐसा महान् उदाहरण है जिसने बिना धार्मिक पक्षपातो के साहित्य की परीक्षा की। वह हौरेस से काव्यशक्ति और आलोचनात्मक प्रेरणा मे कही बढा-चढा था। उसके निर्णयात्मक मानदण्ड उसकी 'डे वल्गैराई एलोक्विओ' की दूसरी पुस्तक से निकाले जा सकते है। इस पुस्तक मे वह कविता के लिये सास्कृतिक भाषा की उपयुक्तता की जाँच करता है। उसके विचार ये है। उत्कृष्ट कविता सास्कृतिक भाषा ही मे हो सकती है। उत्कृष्ट कविता के विषय युद्ध, प्रेम और धर्म होते है। कवियो के अभ्यास से भी यही स्पष्ट है और दार्शनिक विचार से भी। मनुष्य—पौधा-जातीय-पाशविक-बौद्धिक प्राणी है। पौधाजतीय होते हुए बढवार के लिये रक्षा चाहता है जिसके लिये उसे शत्रुओ से लडना पडता है, पाशविक होते हुए भिन्न लिङ्ग पर आसक्ति की उसमे प्रवृत्ति है; और बौद्धिक होते हुए धर्म और नीति के पालन करने मे तत्पर होता है। उत्कृष्ट कविता का पद ग्यारह मात्रा का होता है। डाण्टे कविता की परिभाषा ऐसे करता है, "कविता वग्मितापूर्ण पद्यकृत कल्पित कथा के अतिरिक्त और कोई चीज नही है।" इस परिभाषा मे कल्पित कथा जातिसूचक है और वाग्मिता और पद्यात्मकता पार्थक्य सूचक है, कल्पना और पद्यात्मकता इस प्रकार कविता के दो मुख्य लक्षण हो जाते हैं। महान् शैली के लक्षण डाण्टे के अनुसार चार है—अर्थगुरुता जो युद्ध, प्रेम, और धर्म उपर्युक्त विषयो का प्रयोग से आती है; पद्य-चमत्कार जो ग्यारह मात्राओ के पद के प्रयोग से आता है; शैली की उत्कृष्टता जो सालङ्कार भाषा के प्रयोग से आती हैं, और शब्द-सग्रह की श्रेष्ठता जो मध्य आकार के शब्दो के प्रयोग से आती है। डाण्टे मुख्यत. रूप का आलोचक है गोकि जैसा स्पष्ट हैं विषयवस्तु की ओर भी वह ध्यान देता है। यदि

कविता रूपसौष्ठव मे उच्चश्रेणी की है तो वह ही सराहनीय है। इस विषय मे उसकी दो उक्तियाँ स्मरणीय है—पहली यह कि जो कुछ सङ्गीत के नियमो के अनुसार पदो मे व्यक्त हो चुका है, एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवादित नही हो सकता। इससे स्पष्ट है कि डाण्टे को रूपसौष्ठव का ज्यादा ख्याल है क्योकि अनुवाद मे विषय तो ज्यो का त्यो रहता है परन्तु रूपसौष्ठव की हानि होती है। दूसरी उक्ति है कि किसी भाषा की आन्तरिक शक्ति उसकी गद्य मे जानी जाती है न कि उसकी पद्य मे। भारतीय विचार के अनुसार भी गद्य को कवि को कसौटी कहते है—"गद्य कवीना निकष वदन्ति"। यहाँ भी डाण्टे का ध्यान अर्थ की अपेक्षा शब्द और शब्दयोजना की ओर अधिक है। काव्यगुण निर्णय करने का डाण्टे का मानदण्ड रूप का सौन्दर्य है।

पुनरुत्थान के समय कई प्रभाव ऐसे क्रियाशील थे जिन्होने योरोपीय मस्तिष्क को स्पष्टतया आलोचनात्मक मनोवृति प्रदान की। जागीरदारी की प्रथा का केन्द्रित राज्य मे परिवर्तन, प्राचीन शास्त्रो का अध्ययन, भ्रष्ट पादरी जीवन का स्पष्ट विरोध—ये ऐसी बाते थी जिनसे राजनीतिक, सास्कृतिक, और धार्मिक क्षेत्रो मे क्रान्ति पैदा हो गई। क्रान्तिकारी वृत्ति जो आलोचना से उत्तेजित होती है, स्वय आलोचना को वृद्धि भी देती है। शैतान ही तो पहला आलोचक था जिसने भगवान के विरुद्ध स्वर्ग मे क्रान्ति फैलाई और फिर नरक मे पहुँच कर अपने अनुयायियो को आलोचनात्मक व्याख्यान दिये। पुनरुत्थान मे मुद्रणकला द्वारा विचारो के प्रसार ने आलोचनात्मक प्रक्रिया को और प्रवर्तक-शक्ति दी। साहित्य मे आलोचनात्मक प्रवृत्ति को नई भाषाओ की कमजोरी, ग्रीक और लैटिन आलोचना की पुनर्प्राप्ति और प्योरीटन आक्रमणो के विरुद्ध प्रतिवाद ने और मदद दी। पुनरुत्थान की पहली अवस्थाओ मे इटली आलोचनात्मक सस्कृति का घर था और इटली के आलोचक योरोप भर मे तब तक सम्मानित रहे जब तक कि फ्रान्स के आलोचक सत्तरहवी शताब्दी मे उच्चतर पद को न प्राप्त हुए। विडा का मत है कि कवियो को शास्त्रीय लेखको का अनुकरण करना चाहिये, विशेषतया वर्जिल का जो कि होमर से बढ़ा चढा था। वह वर्जिल को सब गुणो का प्रतिमान और सब श्रेष्ठताओ का आदर्श मानता है। डैनीलो सुख और शिक्षा देने के अतिरिक्त कविता का उद्देश्य आवेग और सानन्दाश्चर्य का उत्तेजित करना भी मानता है। फ्राकैस्टौरो अरिस्टॉटल के अनुकरणात्मक सिद्धान्त के प्रत्ययात्मक तत्त्व को स्पष्ट करता है, कवि वस्तुओ के सादे और तात्विक सत्य का वर्णन करता है, वह नग्न वस्तु का वर्णन नही करता वरन् सब प्रकार के आभूषणो से सजा कर उसके प्रत्यय का वर्णन करता है। फ्राकैस्टौरी के समय तक सौन्दर्य के तीन विचार प्रचलित थे। पहला शुद्ध अनात्मिक विचार था जिसके अनुसार सौन्दर्य स्थिर और रूपात्मक माना जाता है, वही वस्तु सुन्दर कही जा सकती है जो किसी यान्त्रिक अथवा रेखागणित विषयक रूप के समान हो जैसे गोलाकार, सम-चतुर्भुजाकार और सारल्य। दूसरा प्लैटी सम्बन्धी विचार था जिसके अनुसार शिव, सत्य और सुन्दर को समान माना जाता है; तीनो दैविक शक्ति के प्रकटन हैं। तीसरा सौन्दर्य शास्त्रसम्बन्धी विचार था जिसके अनुसार

सौन्दर्य को उन सब उपयुक्तताओ के अनुरूप माना जाता है जो किसी वस्तु से सम्बन्धित की जा सकती है। यह विचार आधुनिक विचार के निकट आ जाता है जिसके अनुसार सौन्दर्य किसी पदार्थ के वास्तविक लक्षण का प्रत्यक्षीकरण है अथवा उसके अस्तित्व के नियम की सिद्धि है। इतिहासकार अपने लेख को इतिहास सम्बन्वी सौन्दर्य ही दे सकता हे, दार्शनिक दर्शन सम्बन्धी सौन्दर्य दे सकता हे, परन्तु कवि अपने लेख को सब प्रकार के सौन्दर्य से सजा सकता है। वह किसी एक क्षेत्र के सौन्दर्य ही की धारणा नही करता, वरन् उन सब सौन्दर्यो की जो किसी वस्तु के शुद्ध प्रत्यय से सम्बन्ध रखती हे। इस प्रकार कवि और सब लेखको से श्रेष्ठ है क्योकि वह अपनी वर्णित वस्तु को सम्पूर्ण सौन्दर्य मे प्रदर्शित करता है। मिण्टरनो के मतानुसार कवि को सदाचारी और विद्वान् पण्डित होना चाहिये। यदि वह प्रतिभाशाली हो तो नियमो का उल्लङ्घन कर सकता है। स्कैलीगर कवि के पाण्डित्य पर जोर देता है। जिराल्डी सिन्थियो करुण और हास्य पर अपने विचार व्यक्त करता हे। करुण के पात्र ऊँची पदवी के होते हे और हास्य के साधारण और नीची पदवी के। करुण महान् और भयानक घटनाओ का वर्णन करता है और हास्य सुज्ञान और घरेलू बातो का। करुण सुख से दुःख की ओर परिवर्तित होता है और हास्य बहुधा दुःख से सुख की ओर। करुण की शैली और वाक्सरणि उत्कृष्ट और उदात्त होती है और हास्य की अपकृष्ट और सालापिक। करुण के विषय अधिकाश ऐतिहासिक होते है और हास्य के कवि के आविष्कृत। करुण का वातावरण अधिकतया निर्वासन और रक्तपात का होता है और हास्य का प्रधानत प्रेम और सग्रहण का। कैस्टेलवैट्रो का ध्यान भी नाटक की आलोचना की ओर जाता है। वह उसी नाटककार को सफल मानता है जो अपने नाटक मे वस्तु-सङ्कलन, कालसङ्कलन, और देशसङ्कलन तीनो मे से किसी को भङ्ग नही करता और जो रङ्गमञ्चीय सत्याभास देता है। टासो ने रोमान्सिक महाकाव्य का आदर्श निश्चित किया है। उसमे विषय की आनन्दप्रद विभिन्नता के साथ-साथ महाकाव्य का तात्विक वस्तुसङ्कलन भी होता है। रोमासिक वीरकाव्य की यह विशेषताएँ बताता है। विषय ऐतिहासिक होना चाहिये। ऐतिहासिकता से काव्य मे सत्य का आभास होने लगता है और पाठक को भान होता है कि लिखित बाते सब सप्रमाण है। वीरकाव्य मे सच्चे धर्म का अर्थात् ईसाई मत का वृतान्त होना चाहिये, झूठे मत का नही, यूनानी धर्म की बाते वीरकाव्य के लिये ठीक नही क्योकि उसमे अद्भुत तत्त्व तो है परन्तु सम्भाव्य नही और वीरकाव्य के लिये दोनो आवश्यक है। काव्य मे धर्म की ऐसी कट्टर बातो का समावेश न होना चाहिये जिनका थोडा बहुत परिवर्तन कर देना अधर्म का दोष ले आये और कवि की कल्पना बाधित हो जाय। विषय-वस्तु न तो अधिक प्राचीन हो, न अधिक आधुनिक हो, क्योकि यदि बहुत प्राचीन हुई तो उसमे ऐसे अनोखे रीतिरिवाजो का वर्णन आयेगा जिसमे पाठक का अनुराग कठिनाई से हो सकता है और यदि विषयवस्तु बहुत आधुनिक हुई तो उसमे सम्भाव सहित अद्भुत बातो का लाना कठिन हो जायगा। शार्लमेन और आर्थर के काल उचित माने जा सकते है। घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये। नायक भद्र और जाति-

पालक होना चाहिये। पैट्रिजी का कहना है कि कविता किन्ही विशिष्ट विषयो से सीमित नही है, उसमे कला, विज्ञान इतिहास सब विषयो का निरूपण हो सकता है, बस बात यह है कि शैली काव्यमय हो।

पुनरुत्थान काल की अँग्रेजी आलोचना न इतनी प्रचुर है, न इतनी प्रभावशाली और विभिन्नतापूर्ण है जितनी कि इटली की। परन्तु उसका अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पुनरुत्थान काल मे आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध थे और इस उपलब्धि मे इङ्गलैड का भी पूरा भाग था। दूसरी बात जो यह अध्ययन स्पष्ट करता है वह यह है कि किस प्रकार अग्रेजी आलोचना मे शास्त्रीयता का प्रचार बढा। अग्रेजी आलोचना के विकास की पहली अवस्था मे आलोचको ने आलङ्कारिता, रूप, और शैली की ओर ध्यान दिया। दूसरी अवस्था मे भाषा और पदयोजना के प्रश्नो को हल किया। तीसरी अवस्था मे कविता का दार्शनिक विचार से अध्ययन, विशेषतया इस हेतु से कि किस प्रकार उसे प्योरीटनो के आक्रमण से बचाया जाय जो कविता को झूठी और कलुषीकारक कह कर दूषित करते थे। चौथी अवस्था मे कविता का अध्ययन काव्यरचना और आलोचनात्मक सिद्धान्तो के समर्थन के उद्देश्यो से हुआ। उस काल के सिडनी, बैनजॉन्सन, और बेकन, तीन ऐसे आलोचक हैं जिनसे साहित्य परीक्षा के मानदण्ड मिलते है। सिडनी, कविता को अरिस्टॉटल की तरह अनुकरण मानता है। सालङ्कार भाषा मे उसे बोलती हुई तस्वीर कहता है जिसका उद्देश्य सुख और शिक्षा देना है। छन्द कविता के लिये तात्त्विक नही है, वह उसका आवश्यक आभूषण है। कविता नीति की शिक्षा देती है और मनुष्य के जीवन को उच्चतम स्तर तक ले जाने मे समर्थ होती है। कविता नैतिक ज्ञान ही नही देती, वरन् नैतिक जीवन व्यतीत करने की उत्तेजना भी देती है। कवि तत्त्ववेत्ता और इतिहासकार दोनो से उच्चतर है। तत्त्ववेत्ता तो नीति और अनीति का स्पष्टीकरण करता है और अपने अनुयायियो को आदेश देता है, परन्तु कवि नैतिक आदेश को एक कल्पित व्यक्ति के जीवन मे अनुप्राणित कर एक प्रभावोत्पादक उदाहरण पेश करता है। इतिहासकार किसी सासारिक महान् व्यक्ति के जीवन का वृतान्त देता है जिसको पढकर पाठक को यह विश्वास नही हो पाता कि जिन नियमो का पालन करके उस महान् व्यक्ति ने यश और गौरव पाया वे व्यापक महत्त्व के हैं, परन्तु कवि साधारणीकरण शक्ति के द्वारा पाठक को नियमो का प्रभाव कारणकार्य रूप मे दिखाता है। इतिहास मे कभी-कभी बुरे आदमी सफल हो जाते हैं और कभी-कभी भले आदमी विफल हो जाते है और साहित्यकार उनके जीवन को वैसे ही वर्णित करता है, परन्तु कवि भले आदमी को सदा सफल कर दिखा सकता है और बुरे आदमी को सदा विफल कर दिखा सकता हैं। इसी विशेषता से कविता को अज्ञानी पुरुष झूठा कह देते हैं। वे ऐतिहासिक सत्य और काव्यमय सत्य मे भेद नही कर सकते। बैनजॉन्सन की रुचि व्यवस्था, एकरूपता, और शास्त्रीयता की ओर थी। उसने बडे पाण्डित्य से उन सब बातो को कह डाला है जिन्हें अग्रेजी आलोचक ऐस्कन से लेकर पटनहम तक

कहने का प्रयास कर रहे थे और वह ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन के मत की रूपरेखा निश्चित करता है। नाटक-प्रणयन मे वह शास्त्रीय मत का प्रकाशक है और नियमो का बडा निर्भीक प्रतिपादक है, गो कि अभ्यास मे वह काल और देशसङ्कलन और गायकगण सम्बन्धी नियमो का उल्लङ्घन करता है। करुण के लेखक को नियमो के पालन के साथ-साथ वस्तु की सत्यता, पात्रो की गम्भीरवृत्ति, वक्तृत्व की उत्कृष्टता और सारपूर्ण वाक्यो की बहुतायत पर ध्यान देना चाहिये। बैनजॉन्सन ने करुण की अपेक्षा हास्य का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। हास्य के अङ्ग वे ही है जो करुण के है और करुण की तरह हास्य का उद्देश्य भी सुख और शिक्षा देना है। हास्य मनुष्य के छोटे-छोटे दोषो को रङ्गमञ्च पर खोल दिखाकर उन्हे उपहास्य बताता है ताकि दर्शक लोग अपने ऐसे दोषो पर स्वय दृष्टि डाले और उन्हे छोडे। जैसे करुण, शोक और भय द्वारा नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है वैसे ही हास्य छोटे परिमाण के कमीनेपन और बेवकूफी की हँसी उडाकर नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है। दोनो मे क्रिया सुधारक है, बस उपकरण का अन्तर है। करुण ऊँची और असाधारण बातो से मतलब रखता है और हास्य छोटी बातो से, जो साधारण अनुभव की होती है, हास्य मे अन्तर्वेगो का द्वन्द्व और घटनाओ का भाग्य से और उनका परस्पर सङ्घर्ष दिखाया जाता है, करुण मे चरित्रो का भेद और कूटयुक्तियो की सफलता अथवा विफलता दिखाई जाती है, हास्य मे कृत्य की विशेषता यह है कि उसका कोई वाह्य आधार नही होता, बल्कि चरित्र-विभेद का आन्तरिक प्रभाव ही कृत्य का रूप दृढ करता है। ऐसे सादृश्य के आधार पर ही बैनजॉन्सन ने हास्य का विवेचन किया। हास्य का मुख्य उद्देश्य हँसी और विनोद नही, वे उसके साधक है। हास्य के लेखक को उन्हे मुख्य उद्देश्य बनाने के विलोभन से बचते रहना चाहिये। यदि वह इस विलोभन मे पड गया तो सम्भव है कि वह घोर पापो का प्रदर्शन कर उनकी ओर हँसी दिलाने की चेष्टा करने लगे। इससे हास्य का उद्देश्य मारा जायगा क्योकि घोर पापो की ओर घृणा उत्पन्न करना चाहिये न कि हँसी। हँसी उत्पन्न करने के विलोभन मे यह भी खतरा है कि हास्य का लेखक अतिवाद मे पड जाय, और अतिवाद प्रहसन (फार्स) मे ठीक है, हास्य मे गलत। प्रचलित सुखान्त हास्य को बैनजॉन्सन निन्दनीय मानता है। ठीक हास्य समाज का सुधारक होता है, इस धारणा से उसने स्वभाव (ह्यूमर) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि इन चार तत्वो के अनुरूप मनुष्य के शरीर मे कृष्ण पित्त, कफ़, रक्त, और पित्त इन चार द्रव्यो का सञ्चार है। जब ये चारों द्रव्य ठीक-ठीक अनुपात में किसी मनुष्य मे विद्यमान होते हैं तो मनुष्य का मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। यदि इनमे से किसी एक द्रव्य का अनुपात अधिक हो जाय तो मनुष्य का स्वभाव अधिक मात्रा वाले द्रव्य की विशेषता दिखायेगा। यदि मनुष्य में कृष्ण पित्त अधिक हुआ तो उसका स्वभाव निरुत्साह होगा, यदि उसमे कफ का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव मन्द होगा, यदि उसमें रक्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव उल्लसित होगा, यदि उसमे पित्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव

क्रोधी होगा। हास्य का उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार मे उन तत्त्वो का निरीक्षण करना है जो या तो उसमे नैसर्गिक रूप से प्रधान होते है या जो जीवन-व्यापार मे उत्तेजना पाने पर दूसरे तत्त्वो को दबाकर अपनी सीमा से बढ जाते है। ऐसा निरीक्षण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले बहुत से मनुष्यो मे किया जाय और जब बिगडे हुए स्वभावो का एक-दूसरे से सङ्घर्ष हो तो इन व्यतिक्रमो का अनैतिक प्रभाव प्रदर्शित किया जाय। मान लो कि हम किसी आदमी को लोभी कहते है क्योकि लोभ उसकी विशेषता है और उसके लिए लोभ स्वाभाविक है, यह आदमी जीवन-व्यापार मे इस प्रकार काम कर सकता है कि लोभ की प्रवृत्ति उभरने न पाये, और मूर्खो अथवा शैतानो के बीच मे पड जाने से ऐसा भी व्यवहार कर सकता है जिससे उसकी लोभ की प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्तियो पर आधिक्य पा जाये। पहली दशा मे मनुष्य अपने स्वभाव के अन्तर्गत कहा जायगा और दूसरी दशा मे अपने स्वभाव के वहिर्गत कहा जायगा। दोनो दशाओ मे हास्य को अवकाश है और प्रश्न केवल परिमाण का है। पिछली दशा नाटककार को अधिक प्रिय है क्योकि आधिक्य रङ्गमञ्च पर अधिक प्रभावोत्पादक होता है और आधिक्यो के सङ्घर्षो का प्रदर्शन अधिक शिक्षाप्रद होना है। इस सिद्धान्त पर हास्य लिखने मे पात्र कठपुतली की तरह रुक्ष और एकरूपहो सकते है और वे सरल तो हो ही जाते हैं, तथा वे आन्तरिक-शक्ति की न्यूनता के कारण जीवित से भी प्रतीत नही होते। परन्तु बैनजॉन्सन का हास्य विषयक मानदण्ड यहाँ स्पष्ट है। कविता के विषय मे पहली बात जो बैनजॉन्सन की आलोचना मे एकदम द्रष्टव्य है वह कवि की नैतिकता है। बिना सदाचारी हुए कवि अच्छी कविता नही कर सकता। अपनी 'डिसकवरीज' मे कवि की आवश्यकताओ का वर्णन देते हुए बैनजॉन्सन कहता है कि "कवि मे उपयुक्त स्वाभाविक बुद्धि हो, क्योकि बहुत सी दूसरी कलाएँ नियमो और आदेशो के परिपालन से भी आ सकती है, परन्तु कवि जन्मना ही होता है। दूसरी आवश्यकता कवि मे जन्मप्राप्त बुद्धि का अभ्यास है। बहुत से पद जल्दी लिख डालने से ऊँची श्रेणी की कविता नही आ सकती। काट-छाँट और पदो को धीरे-धीरे माँजना आवश्यक है। अच्छा लिखने से जल्दी लिखना आता है न कि जल्दी लिखने से अच्छा लिखना। वर्जिल कहा करता था कि वह अपनी कविताओ को पीछे से ऐसे रूप देता था जैसे रीछनी अपने बच्चो को डालकर फिर चाट-चाट कर उन्हे रूप देती है। तीसरी आवश्यकता अनुकरण की है। किसी महान् कवि को छाँट कर उसका ऐसे अनुकरण करना कि धीरे-धीरे स्वय उसी कवि के समान हो जाना, जैसे वर्जिल और स्टेटिअस ने होमर का अनुकरण किया था। अनुकरण दास तुल्य न हो। चौथी आवश्यकता अध्ययन की सूक्ष्मता और विस्तार, ऐसा अध्ययन जो जीवन का अश हो जाय और उचित समय पर काम आ जाय। पाँचवी आवश्यकता नियमो का ज्ञान है, क्योकि बिना नियमो के ज्ञान के प्रतिभा का नियन्त्रण और उससे पैदा हुए भावो का व्यवस्थापन सम्भव नहीं। इस प्रकार लिखी हुई कविता को कवि ही जाँच सकता है, कविता की समीक्षा की शक्ति कवियो मे ही होती है। बेकन ने इतिहास का निर्देश मेधा से, दर्शन का ज्ञानशक्ति से,

और कविता का कल्पना से मान लेने मे परम्परा का अनुसरण किया। नाटक को उसने सारङ्गी बजाने वाले का गज कहा जिससे निकली हुई तान द्वारा बडे-बडे मस्तिष्क प्राभवित हो सकते है। रङ्गशाला मे नाटक के अद्भुत प्रभाव का कारण सामूहिक मनोवृत्ति बताई गयी है। जब बहुत से दर्शक एक जगह एकत्रित होते हैं तो उनमे रस का सञ्चार आधिक्य पा जाता है। कविता कल्पनामय ज्ञान है। उसका स्रोत मनुष्य की इस ससार से असन्तुष्टि है। सासारिक गौरव, सासारिक-व्यवस्था, सासारिक विभिन्नता मनुष्य को सन्तुष्ट नही करती और वह अपनी कल्पना से वास्तविक गौरव से अधिक श्रेष्ठ गौरव, वास्तविक व्यवस्था से अधिक पूर्ण व्यवस्था और वास्तविक विभिन्नता से अधिक सुन्दर विभिन्नता सोच सकता है। कविता वस्तुओ के रूप को मानसिक इच्छाओ के अनुरूप परिवर्तिन कर देती है। बेकन का मानदण्ड कल्पनात्मक सुख है।

सत्तरहवी शताब्दी के फ्रान्सीसी आलोचको के नियम फ्रान्स ही मे नही वरन् समस्त यूरोप मे सम्मानित थे जिनमे से तीन अधिक माननीय हैं—बोयलो, रैपिन और लै बौस्यू। वोयलो की 'एल आर्ट पोयटीक' से यह मत यहाँ उल्लेखनीय है। कविता के प्रत्येक विषय मे चाहे वह मोदजनक हो चाहे उदात्त, विवेक अवश्य होना चाहिये। पद्य-रचना से अधिक मूल्यवान् विवेक ही है और इसी से काव्य मे गुण और चमक पैदा होती है। बहुत से कवियो को इस बात का मान होता है कि उनकी कविता मे ऐसी अद्भुत बाते है जो आज तक किसी दूसरे ने नही लिखी। यह सब अयुक्त है। कविता विवेकपूर्ण होनी चाहिये। कविता मे कोई अविश्वसनीय बात नही होनी चाहिये, जिस बात मे विश्वास नही उससे मन कैसे प्रभावित हो सकता है। यदि तुम अपनी कविता को प्रिय बनाना चाहते हो तो तुम्हारी काव्यदेवी ज्ञानपरिपूर्ण होनी चाहिये। सौरस्य के साथ-साथ सार और उपयोगिता भी होनी चाहिये। . प्रकृति ही हमारा अध्ययन होनी चाहिये। हम प्रकृति से कभी विमुख न हो। बोयलो का मत इस बात पर आधारित है कि प्रत्येक साहित्यिक रूप की सम्पूर्णता की चरम सीमा अथवा मर्यादा है। रचनात्मक कलाकार इस मर्यादा को पूरी तरह समझे और आलोचक इसी के मानदण्ड से साहित्य समीक्षा करे। इस मत मे वस्तु के विषय मे प्रार्थना की कचहरी विवेक अथवा प्रकृति है और प्रणयन के विषय मे प्रार्थना की कचहरी रुचि है। रैपिन अपनी 'रिफ्लेक्शन्स सर लापोयटीक' मे कविता पर अपने विचार प्रकट करता है। वह प्लैटो और अरिस्टॉटल के इस मत का प्रतिवाद करता है कि कविता मे विक्षिप्ति का प्रवेश होना चाहिये। चित्त-विक्षेप का कविता से कोई सम्बन्ध नही।. कविता सुख का प्रयोग उपदेश के लिये करती है। . अरिस्टॉटल के नियम प्रकृति के व्यवस्थापन है। यदि किसी नाटक मे सङ्कलन-त्रय न हो तो उसमे सत्याभास भी नही आ सकता। ले बोस्यू महाकाव्य मे अरिस्टॉटल और हौरेस को नियमो के सम्बन्ध मे और होमर और वर्जिल को आधार के सम्बन्ध मे सब अधिकार देता है।

नवशास्त्रीय काल की रूपरेखा बैनजॉन्सन और बोयलो मे निश्चित हो जाती है। आलोचनात्मक एकरूपता इस काल की मुख्य विशेषता है। मिल्टन कहता है कि शिक्षणपूर्णता मे कविता तर्क और वाग्मिता से दूसरी श्रेणी की है और शिक्षणपूर्ण होने के लिये कविता सरल, इन्द्रियमूलक और आवेगमय होनी चाहिये। ड्राइडन आलोचना को शिक्षण के उद्देश्य से बचाकर उसे सैद्धान्तिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक बनाता है। वह कवि आलोचक था, साहित्य मे उसका सच्चा अनुराग था, उसने प्राचीन ग्रीक और रोमी साहित्य खूब पढ रखा था और तत्कालीन यूरोप के साहित्य का भी उसे अच्छा ज्ञान था। ड्राइडन नाटक को जीवन का जीवित चित्र मानता है। इसी कारण वह ऐसे नाटको से जो नियमो का पालन करते हो पर जीवन-चित्रण मे कृत्रिम हो जाते हो, उन नाटको को ज्यादा अच्छा समझता है, जिनमे नियमो का चाहे उल्लङ्घन हो, परन्तु उनमे अकृत्रिमता हो। वह करुण-हास्य के पक्ष मे है। करुण-हास्य अधिक सुखमय होता है। यह बात नही मानी जा सकती कि करुण और प्रमोद एक-दूसरे को निष्फल बना देते है, सच यह है कि सम्मिश्रण मे वे एक-दूसरे को और फलीभूत कर देते है। यदि वस्तु के साथ किसी नाटक म उपवस्तु भी हो और उपवस्तु के होने से अस्तव्यस्तता न आये तो उपवस्तु का प्रयोग दोष की जगह गुण माना जायगा। नाटक के चित्रित कृत्य और वर्णित कृत्य मे ठीक सामञ्जस्य हो, एलीजेबैथ के काल का नाटक कृत्य को अधिक दिखाता है और फ्रान्स का नाटक कम दिखाता है, नाटककार को दोनो के बीच का रास्ता पकडना चाहिये। करुण की भाषा के विषय मे ड्राइडन का मत है कि वह पद्यात्मक होनी चाहिये, पहले तो तुकान्त पद्य के पक्ष मे था पर पीछे से अतुकान्त के पक्ष मे हुआ। वह पद्यात्मक भाषा के प्रयोग का समर्थन इस विचार से करता है कि उसके द्वारा एक ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है जिसमे काव्य की आदर्शवादिता अच्छी तरह ग्रहणीय होती है। इसमे शक नही कि पद्यात्मक भाषा से अकृत्रिमता तो आ ही जाती है, क्योकि जीवन मे पद्यात्मक भाषा नही बोली जाती और नाटक जीवन का अनुकरण होता है। नाटक के विषय मे ड्राइडन का मत नियमो के कठोर बन्धन से मुक्त होने का है। वह 'डिफैन्स ऑफ दी एसे' मे बिना हिचक के स्वीकार करता है कि कविता का प्रधान उद्देश्य सुख देना है, शिक्षा गौण। 'प्रैफैस टू एन ईवनिङ्ग्ज लव' मे हास्य और प्रहसन (फार्स) मे यह भद लक्षित करता है। हास्य मे पात्र निम्न-श्रेणी के होते है पर उनके चरित्र और कृत्य निसर्गज होते है, उसमे ऐसी वृत्तियाँ, योजनाएँ और ऐसे साहसी कार्य प्रदर्शित होते है जो दिन-प्रतिदिन जीवन मे मिलते है; प्रहसन मे बनावटी वृत्तियाँ और अप्राकृतिक घटनाएँ होती हैं। हास्य, मनुष्य स्वभाव की त्रुटियाँ हमारे सामने लाता है; प्रहसन ऐसी वस्तुओ से हमारा मनोरञ्जन करता है जो अमूलक और अपरूप होती हैं। हास्य एसे लोगो को हँसी दिलाता है जो मनुष्यो की मूर्खताओ और उनके भ्रष्टाचारो पर अपना निर्णय दे सकते हैं, प्रहसन ऐसे लोगो को हँसी दिलाता है जिनमे निर्णयात्मक शक्ति नही होती और जो असम्भवकल्पक प्रदर्शन से खुश होते है। हास्य अवधारणा और

उच्छृङ्खल कल्पना पर क्रियाशील होता है, प्रहसन उच्छृङ्खल कल्पना पर ही। हास्य की हसी मे अधिक सन्तुष्टि होती है, प्रहसन की हँसी मे अधिक घृणा। इसी लेख मे ड्राइडन करुण और हास्य का मुकाबिला करते हुए कहता है कि करुण के लिये काव्यात्मक न्याय (पोइटिक जस्टिस) आवश्यक है क्योकि उसका उद्देश्य उदाहरण द्वारा शिक्षा देना है और हास्य मे उसकी आवश्यकता नही क्योकि उसका उद्देश्य सुख और आनन्द है। वह 'ऑफ हीरोइक प्लेज' मे वीर नाटक के लिये अतिमानुष श्रेष्ठता और उत्कृष्ट शैली का पक्षपाती हे। वीर नाटक महाकाव्य का सक्षिप्त रूप है। महाकाव्य मे अतिमानुष पात्रो और उदात्त शैली के अतिरिक्त अलौकिक पात्रो और घटनाओ का समावेश भी होता है। करुण भी भाव मे वीर होता है। उसकी रूपरेखा पहले से ही निर्दिष्ट है। नायक वृहद् आकार का होता है, नायिका सौन्दर्य और सातत्व मे अद्वितीय होती हे, बहुत से पात्रो के हृदय मान और प्रेम के बीच मे विभक्त होते है, कहानी युद्ध और सामरिक उत्साह से परिपूर्ण होती है। समग्र वातावरण उत्कृष्ट आदर्शवादिता का होता है। वीर नाटक, महाकाव्य, और करुण मे ड्राइडन के वीरकाव्य विषयक विचार स्पष्ट है। वह 'प्रेफ़ेस टू द ट्रान्सलेशन ऑफ ओविड्स एपीसल्स' मे अनुवाद का आदर्श पेश करता है। अनुवाद तीन प्रकार का होता है—यथाशब्दानुवाद जिसमे लेखक का एक भाषा से दूसरी भाषा मे शब्दश और पदश अनुवाद होता है, शब्दान्तरकरण जिसमे लेखक का ध्यान प्रतिक्षण रहता है परन्तु उसके शब्दो का इतना ध्यान नही किया जाता जितना उसके आशय का, अनुकरण जिसमे अनुवादक लेखक के शब्दो और आशय से भी ध्यानमुक्त हो जाता है और उससे केवल इशारा लेकर अपना स्वतन्त्र लेख लिख डालता है। अनुवाद का काम इतना मुश्किल है जितना बँधे पैरो से रस्सी पर नाचना। पहले और तीसरे प्रकार के अनुवाद बहुधा असन्तोषजनक ही होते है। दूसरे प्रकार का अनुवाद ही ठीक अनुवाद माना गया है और इसके अनुवादक का दोनों भाषाओ पर पूरा प्रभुत्व होना चाहिये और अपनी प्रतिभा को मौलिक लेखक की प्रतिभा के अनुरूप करने की क्षमता होनी चाहिये। 'ए पैरैलल ऑफ पोइट्री एण्ड पेंटिङ्ग' मे ड्राइडन चित्रकला के लिये आदर्शवाद का पक्ष लेता है। कला मे प्रकृति के अनुकरण करने का अर्थ प्रत्यय को पा लेना है और अनुभव की नानाव्यक्तिभूत बातो को छोड देना है। जब चित्रकार के हृदय में सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति समा जाती है तभी वह कला के पवित्र मन्दिर मे प्रवेश करने का अधिकारी होता है। साहित्यिक रूपो का ड्राइडन-कृत जैसा विश्लेषण अंग्रेजी-आलोचना मे नही हुआ था। ड्राइडन के बाद एडीसन ने आलोचनात्मक बल दिखाया, परन्तु उसमे कोई बडी मौलिकता न थी। महाकाव्य के उसके मानदण्ड अरिस्टॉटल के हैं। मिल्टन के 'पैरैडाइज लॉस्ट' की परीक्षा उसने वस्तु, पात्र, भाव और भाषा, इन चार आधारो पर की और उनके गुण-दोष बडी सूक्ष्मता से दिखाये। वस्तु की परीक्षा करते हुए उसने अरिस्टॉटल के मत से अपनी असहमति व्यक्त की। महाकाव्य का अन्त सदा सुखमय होना चाहिये। वह महाकाव्य, महाकाव्य, नही जिसमे उच्च उपदेश नही।

इसलिये महाकाव्य मे काव्यात्मक न्याय अवश्य होना चाहिये। काव्यात्मक न्याय के माने बुराई को दण्ड देना और भलाई को प्रतिफल देना है। कल्पना पर एडीसन के विचार हम पहले ही व्यक्त कर चुके है। वोर्सफोल्ड उन विचारो को इतना महत्त्वपूर्ण समझता है कि एडीसन को वह कल्पना को प्रेरणा देने के मानदण्ड से साहित्य की जॉच करने वाला पहला ही आलोचक बताता है। परन्तु जैसा हम पहले दिखा चुके है, कल्पना को प्रेरणा देने का मानदण्ड अरिस्टॉटल और बेकन मे भी निहित है। स्विफ्ट अपनी 'बैट्ल ऑफ बुक्स' मे प्राचीन लेखको की मधुमक्खियो से तुलना देता हुआ उनकी कलात्मक विशेषता को 'माधुर्य और प्रकाश' से प्रतिलक्षित करता है। यहाँ काव्य के प्रभाव से एक बडा सन्तोषजनक मानदण्ड निश्चित होता है। पोप के आलोचनात्मक विचार होरेस, बैनजॉन्सन, और बोयलो से मिलते-जुलते है। वह शास्त्रीयता का पूरा पक्षपाती है। जब प्रकृति को प्रेरणा देने के मानदण्ड का प्रतिपादित करता है तो वह प्रकृति से एक ऐसी कृत्रिम प्रकृति समझता है जो नागरिक समाज की रीतियो के अनुसार व्यवस्थित हो और जिसमे रूढियो और साधारणीकरणो का पूरा अवकाश मिला हो। यदि किसी काव्य मे ऐसी प्रकृति को प्रेरणा हो तो वह श्रेष्ठ काव्य है। इस काल का हमारा अन्तिम आलोचक डाक्टर जॉन्सन है। उसने यूनान के साहित्य को पूरी तरह पढा था, परन्तु लेटिन और मध्यकालीन साहित्य को उसने इतना नही पढा था। उसकी साहित्यिक सस्कृति के आदर्श ड्राइडन और पोप थे, इसीसे उसकी नवशास्त्रीय प्रवृत्ति बडी बलवान हो गई थी। उसने आलोचनात्मक सिद्धान्तो पर अपने विचार मुख्यत 'रैम्बलर' मे व्यक्त किये है। मिल्टन की पद्य की आलोचना कही-कही बडी शिक्षाप्रद है, विशेषत यति के स्थान के विषय मे। यति जितनी मध्यस्थित हो उतनी अच्छी। पञ्चगणात्मक पद मे यति दूसरे या तीसरे गण के बाद होना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि यति से विभक्त दोनो भाग सङ्गीतमय होने चाहिये। यदि तीसरे अक्षर (सिलैबिल) और सातवे अक्षर के बाद यति हो तो भी भाग सङ्गीतमय हो सकते है। लय, गण की आवृत्ति से पैदा होती है। पहले गण के बाद तीसरे अक्षर के आते ही उसमे चौथे अक्षर की आकाक्षा होती है और लय की व्यञ्जना हो जाती है। इसी प्रकार सातवे अक्षर के बाद यति आने पर भी दोनो विभक्त भाग सङ्गीतमय हो जाते है। पहले और दूसरे अक्षरो तथा आठवे और नवे अक्षरो के बाद की यति दूषित होती है। मिल्टन इन स्थानो पर भी यति लाता है और इस कारण उसकी पदयोजना दोषरहित नही कही जा सकती। 'रैम्बलर' के अगले एक नम्बर मे आलोचक के दायित्व का वर्णन है। आलोचक पक्षपात से अलग हो, वह इस बात का घमण्ड न करे कि वह बडे-बडे कवियो और लेखको का न्यायाधीश है, वह पुस्तक अथवा लेखक के समझने मे जल्दबाजी न करे, वह यह न सोचे कि उससे तो गलती हो ही नही सकती। आलोचक स्वानुराग से पथभ्रष्ट हो सकता है, देशप्रेम उसके निर्णय को दूषित कर सकता है; जीवित लेखको के प्रति वह अधिक कोमल हृदय हो सकता है। आलोचना का कर्त्तव्य शुद्ध बुद्धि के प्रकाश मे सत्य दिखाना है। और अगले एक नम्बर मे जॉन्सन नाटक के नियमो की

परीक्षा करता है। अक्सर, नियम कल्पना की उडान को रोकते है। यह पुराना नियम कि रङ्गमञ्च पर तीन अभिनेताओ से अधिक न आये, कोई अर्थ नही रखता, और जैसे-जैसे नाटक मे विभिन्नता और गहनत्व आये यह नियम भङ्ग होने लगा। नाटक पाँच अङ्को मे विभक्त हो, इस नियम की आवश्यकता न तो कृत्य के गुण से और न उसके प्रदर्शन के औचित्य से दीख पडती है और आज कल तीन अङ्क के और एक अङ्क के बहुत से नाटक लिखे जा रहे है। काल सङ्कलन का नियम यह चाहता है कि नाटक मे जितनी घटनाओ का समावेश हो वे सब उतने समय मे हो जितने समय मे नाटक रगमच पर खेला जाता हे। यदि दो अङ्को के बीच मे काफी समय दे दिया जाय तो कोई बुराई नही, क्योकि वह भ्रम जिस पर खेल की सफलता निर्भर है अङ्को के बीच के आये हुए समय से नष्ट नही हो सकता। करुण-हास्य को इस कारण बुरा कहा जाता हे कि उसमे तुच्छ और महत्त्वपूर्ण बाते साथ-साथ आती है और करुण का प्रभाव नष्ट हो जाता हे यदि उसमे गम्भीरता की क्रमश बाढ न हो। जॉन्सन का कहना है कि शेक्सपिअर इस बात का उदाहरण हे कि उसने अपने करुण और हास्य रसो को बारी-बारी से एक ही नाटक मे बडी सफलता से दिखाया है। एक नाटक मे एक ही प्रधान कृत्य हो और उसमे एक ही नायक हो, ये नियम ठीक है। नियमो का बन्धन कडा नही होना चाहिये। यदि कोई लेखक उन्हे तोडकर उच्चतर सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है तो वह इस बात का साक्षी है कि प्रकृति रूढि के ऊपर सदा विजय पाती है। 'प्रैफेस टू शेक्सपिअर' मे शेक्सपिअर के पात्रो के विषय मे जॉन्सन की यह उक्ति बडी सूक्ष्म है कि उनमे व्यापकता भी है और वैशिष्ट्य भी। उत्कृष्ट कविता का यह पक्का चिह्न है, क्योकि कवि किसी व्यापक आदर्श को लेकर किसी व्यक्ति मे समाविष्ट करता है। आदर्शीकरण की इस वृत्ति का यह उल्लेख वह स्वय 'रैसीलाज' मे करता है। कवि का कर्तव्य व्यक्तियों की परीक्षा करना नही वरन् व्यापक गुणो और रूपो का निरीक्षण करना है। जॉन्सन के मानदण्डो मे पूरी शास्त्रीयता नही है। वह प्रकृति के अधिकार को रूढि के ऊपर सदा उच्चता देता है।

अठारहवी शताब्दी मे जर्मनी का भी आलोचनात्मक उत्थान हुआ और नियमो के प्रति वही भावनाएँ प्रदर्शित हुई जो इङ्गलैण्ड मे। गौटशैड, अरिस्टॉटल के अनुसार वस्तु को ही काव्य की आत्मा मानता है और उन सब पात्रो और घटनाओ का निषेध करता है जिनमे सत्याभास न हो, जैसे मिल्टन का पैण्डिमोनियम और उसके सिन और डैथ दो पात्र। वह नियमो का पूरा अनुयायी था। गैलर्ट की प्रवृत्ति मध्यस्थावलम्बन की है। उसका कहना है कि नियम व्यापक रूप से उपयोगी हैं परन्तु प्रतिभा के लिये उनका उल्लङ्घन करने का अधिकार होना उचित है। लैसिङ्ग साफ कहता है कि नियम प्रतिभा को कष्ट पहुँचाते हैं। अरिस्टॉटल के प्रति तो उसकी श्रद्धा है परन्तु फ्रान्सीसी आलोचको के प्रति उसकी कोई श्रद्धा नही, क्योकि उन्होने, उसके मतानुसार, नियमो की ऐसी उल्टी-सीधी व्याख्या की जिससे अरिस्टॉटल का आशय कुछ का कुछ हो गया। काण्ट और गट साहित्य की परीक्षा

मे कलामीमासा का आधार लेते है। काएट सौन्दर्य को किसी ऐसे उद्देश्य की उपयुक्तता का विशेष गुण बताता है जिसका किसी उपयोगी उद्देश्य से सम्बन्ध नही। गटे का कहना है कि कला और कविता मे व्यक्तित्व सब कुछ है। वह बफो का शब्दान्तरकरण करता हुआ कहता है कि शैली लेखक की अन्तरात्मा की सच्ची व्यञ्जना है। यह अचेतन शैली के विषय मे निश्चित रूप से ठीक है, परन्तु इससे विषय निरूपण पर कोई प्रभाव नही पडना चाहिये। उत्कृष्ट कविता मे पूर्णरूप से वास्तविकता होती है। जब वह वाह्य ससार से असम्बद्ध हो कर आत्मिक हो जाता है तभी वह पदच्युत हो जाती है। काव्यात्मक रचना सारपूर्ण होती है। प्रकृति जीवित और निरर्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है और कला मृत और सार्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है।

नवशास्त्रीय काल की यह विशेषता थी कि उसमे कुछ ऐसे आलोचनात्मक नियम प्रचलित थे जिन्हे अधिकाश मे आलोचक मानते थे। रोमान्सिक काल मे साहित्यालोचन के नियमो के प्रतिपादन मे कोई एकरूपता नही। वर्ड्सवर्थ कविता को वेगपूर्ण अन्तर्वेगो का स्वयप्रवर्तित सप्लव कहता है। यह सप्लव याद की हुई अनुभूतियो पर मनोवृत्ति के सङ्केन्द्रण से उठता है। उसका विचार है कि अच्छी कविता कभी तत्कालविहित नही होती। उसकी अभिव्यञ्जना के लिये किसी विशेष वाक्मरणि की आवश्यकता नही होती। उसकी भाषा मे और गद्य की भाषा मे कोई तात्विक अन्तर नही। साधारण बोलचाल की चुनी हुई भाषा कविता के लिये उपयुक्त है। यह भाषा छन्दोबद्ध अवश्य हो क्योकि कवि का उद्देश्य सुख देना है। पोप्यूलर जजमैण्ट' नामक लेख मे वर्ड्सवर्थ का मत है कि साहित्य का आनन्द सहृदय रुचि से लेता है। रुचि के तीन अर्थ माने जाते है—अध्ययनशील आलोचको के मत की अनुरूपता, सवेदनशीलता और अपने को लेखक के स्तर तक उठा लेने की शक्ति। जिस रुचि से सहृदय लेखक का आनन्द लेता है वह तीसरे अर्थ की रुचि है। बिना ऐसी रुचि की क्षमता के करुणात्मक और उदात्त साहित्य की उचित सराहना असम्भव है। कोलरिज आलोचक होते हुए बडा सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता था। उसने वर्ड्सवर्थ के कई सिद्धान्तो की विश्लेषणात्मक बुद्धि से काट की। कविता की परिभाषा करता हुआ वह 'बायोग्रैफिया लिटरैरिया' मे लिखता है, पद्य मे सत्य की सुखमय अभिव्यञ्जना को कविता कह सकते है, गो कि दृढतापूर्वक नही। ऐसी आख्यायिकाओ और उपन्यासो को जो तत्क्षणिक सुख देती है, कविता कह सकते हे यदि उन्हे पद्य मे परिवर्तित कर दिया जाय, गो कि दृढतापूर्वक नही। केवल ऐसे प्रणयन को जो तत्क्षणिक सुख देता है और जो प्रत्येक भाग मे उतना ही सुखमय है जितना कि पूर्ण मे—दृढतापूर्वक कविता कह सकते हैं। कविता की इसी विशेषता के कारण कि उसका प्रत्येक भाग मनोरञ्जक होता है, यह आवश्यक है कि उसकी वाक्सरणि ध्यानपूर्वक चुनी हुई हो और शब्दो का व्यवस्थापन कौशलपूर्ण हो। ग्रामीण और निम्नश्रेणी का जीवन कविता के लिये अनुपयुक्त है क्योकि कविता आदर्श जीवन को व्यक्त करती है न कि वास्तविक जीवन को। वर्ड्सवर्थ

की कुछ कविताएँ जैसे 'हैरीगिल' और 'इडियट बौय' वास्तविक जीवन को ज्यो का त्यो नर्णित करने के कारण काव्यात्मक नही हो पाती। दूसरी कविताएँ जैसे 'माइकेल' और 'रूथ' इसी से काव्यात्मक हो जाती है क्योकि उनमे जीवन का धर्म द्वारा आदर्शीकरण हो गया है। यह कहना कि कविता साधारण जीवन की भाषा मे होनी चाहिये ठीक नही, क्योकि यह भाषा असस्कृत होती है और ऐसे गूढ और सूक्ष्म अर्थों के व्यक्त करने मे असमर्थ होती है, जिनमे कविता अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाती है। स्वय वर्ड्सवर्थ जहाँ उत्कृष्ट शैली की कविता करता है, ऐसी भाषा का परित्याग कर देता है। कविता श्रेष्ठतम शब्दो का श्रेष्ठतम क्रम मे प्रयोग करती है। छन्द के विचार से भी कविता की वाक्सरणि श्रेष्ठतम होनी चाहिये। कविता का उद्गम शरीर और मन की आवेशपूर्ण दशा है। ऐसी दशा मे यदि आवेश बढता ही जाय तो मनुष्य पर इतना जोर पड सकता है कि उसके कारण विह्वल होकर मर जाय। इसी से ऐसी दशा मे आप ही आप विचार शक्ति उद्भव होती है जो मनोवेग के कार्य को नियन्त्रित करती है। आवेशपूर्ण काव्यात्मक प्रणयन के कार्य मे विचार शक्ति शब्दरचना को छन्दोबद्ध कर देती है और वाक्सरणि को उत्कृष्ट कर देती है। छन्द के प्रभाव की जाच से भी कविता के लिए उत्कृष्ट वाक्सरणि आवश्यक है। छन्द ध्यान ओर साधारण भावो को प्रफुल्लता और सुविकारता को वर्द्धित करता है। यह प्रभाव अचम्भे के उत्ताप से और उत्सुकता के जागृत और सन्तुष्ट होने से पैदा होता है। यदि वर्द्धित ध्यान और वर्द्धित भावो को उत्कृष्ट भाषा के रूप मे उचित भोजन न मिला तो पाठक की आशा अवश्य भङ्ग होगी और उसे कविता मे कोई आनन्द न आयगा। छन्द और कविता के अवियोज्य होने के कारण जिन-जिन वस्तुओ का समावेश छन्द मे होगा उनका समावेश कविता मे भी होगा। छन्द मे उत्कृष्ट वाक्सरणि होते हुए उत्कृष्ट वाक्सरणि काव्यात्मक हुई। उत्कृष्ट वाक्सरणि कविता और छन्द के बीच मे फिटकरी का काम देती है। फिर यह भी विचार है कि कविता बहुत से तत्त्वो का समस्वरत्व है। जब विचार उत्कृष्ट है, छन्द उत्कृष्ट है, व्यक्तित्व उत्कृष्ट है, तो भाषा अपने आप उत्कृष्ट होगी। अन्त मे, कवियो का अभ्यास भी इसी बात का द्योतक है कि कविता मे उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है। आलोचना के विषय मे अलग एक लेख मे कोलरिज यह विचार व्यक्त करता है। आलोचना का काम काव्यरचनात्मक सिद्धान्तो की स्थापना करना है और 'एडिनबरा रिव्यू' के एडीटरो की तरह लेखो और लेखको पर फैसले देना नही। यदि फैसला देना आलोचना का काम माना जाय तो पहले एक एकेडेमी बनाई जाय जो ऐसे नियमो की सहिता तैयार करे जिनके आधार पर व्यापक नैतिकता और दार्शनिक बुद्धि हो। वर्ड्सवर्थ की कविता के गुण बताते हुए कोलरिज 'बायोग्रैफिया लिट्रेरिया' मे उदात्त शैली की पक्की पहचान बताता है। वह यह है कि उदात्त शैली मे लिखा हुआ लेख उसी भाषा के शब्दो मे भी बिना अर्थ को हानि पहुँचाये अनूदित नही हो सकता। इसी आशय का फ्रेञ्च आलोचक फ्लोबर्ट का केवल शब्द का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ द सिङ्गिल वर्ड) है। प्रवीण लेखक के लेख मे जो शब्द जहाँ

प्रयुक्त हो गया उसकी जगह कोई दूसरा शब्द नही ले सकता। काव्य-समीक्षा के आलोचनात्मक मानदण्ड कोलरिज के उपर्युक्त प्रतिपादन से निकाले जा सकते है। शैली अपने 'डिफैन्स ऑफ पोयट्री' नामक निबन्ध मे बुद्धि और कल्पना का भेद देता है। बुद्धि एक विचार का जो दूसरे विचार से सम्बन्ध होता है उस पर ध्यानशील होती है, कल्पना उन विचारो पर इस प्रकार क्रियाशील होती है कि उन्हे अपने रङ्ग मे रग देती है और उन्हें तत्त्व मानकर उनसे ऐसे नये विचारो की स्थापना कर देती है जिनमे समग्रता का नियम परिचालित होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक होती है, कल्पना सश्लेषणात्मक। बुद्धि पहले से जानी हुई मात्राओ की शुमार करती है और कल्पना उन्ही मात्राओ का अलग-अलग और सम्मिश्रण मे मूल्याङ्कन करती है। बुद्धि वस्तुओ के वैषम्य का ध्यान करती है और कल्पना उनके साम्य का। कल्पना के लिये बुद्धि वैसे ही है जैसे कारीगर के लिए हथियार, जैसे आत्मा के लिए शरीर और जैसे पदार्थ के लिए परछाँई। कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। कविता और कथा मे यह अन्तर है कि कथा मे तो अलग-अलग तथ्यो की फेहरिस्त सी होती है जिनमे काल, स्थान, और परिस्थिति के सम्बन्ध होते है, और कविता अपमे सनातन सत्य मे अभिव्यक्त जीवन की प्रतिमा होती है। काव्यात्मक सामर्थ्य के दो गुण है—वह ज्ञान, शक्ति और सुख के पदार्थों की रचना करती है और फिर सौन्दर्य अथवा शिव के नियमो के अनुसार उनकी पुनार्रचना की भावना मन मे उत्पन्न करती है। काव्यात्मक रचनाओ मे सदा उपयोगिता होती है। कविता की उपयोगिता गणित की उपयोगिता जैसी, अथवा व्यायाम की उपयोगिता जैसी है। जैसे गणित से बुद्धि का विकास होता है, व्यायाम से शरीर का विकास होना है, वैसे ही कविता से कल्पना का विकास होता हे। विकसित बुद्धि पीछे मे उपयोगी काम का साधन बन सकती है, विकसित शरीर पीछे से किसी उपयोगी काम का साधन बन सकता है, इसी तरह विकसित कल्पना पीछे से किसी उपयोगी काम की साधन बन सकती है। विकसित कल्पना मनुष्य की सवेदनशीलता और सहानुभूति को सस्कृत करती है, जिसके द्वारा ससार के बहुत से झगडे और लड़ाइयाँ दूर हो सकती है। कल्पना को सस्कृत करना यही कविता का प्रभाव है और यही प्रभाव शैली के मतानुसार उसकी श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है। कीट्स के मतानुसार श्रेष्ठ कला के सृजन मे सृजक की और उसके अनुभव मे दर्शक अथवा पाठक की आत्मपूर्णता होती है, उसकी आत्मा मे सब प्रकार के द्वन्द्व का अन्त होकर पूर्ण शान्ति की स्थापना हो जाती है। बस, ऐसे प्रभाव का उत्पादन ही कला की श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है।

अरिस्टॉटल के नियमो का शासन फ्रान्स मे बहुत वर्षों तक रहा परन्तु वहाँ भी अठारहवी शताब्दी के अन्त मे और क्षेत्रो की क्रान्ति के साथ आलोचना मे भी क्रान्ति उठ खडी हुई। जूबर्ट ने लॉञ्जायनस को दोहराते हुए कहा कि हम उसी रचना को कविता कह सकते हैं जो हर्षोन्माद पैदा करे। इस उक्ति मे कि कविता अपनी अन्तरात्मा से बाहर कही नही है, वह लॉञ्जायनस से भी आगे बढ जाता है। आलोचना को वह

विवेक का क्रमानुगत अभ्यास कहता है। शास्त्रीयता का स्पष्ट विरोधी विक्टर ह्यूगो था जिसने अपने आलोचनात्मक मत की घोषणा 'क्रोमवैल' की भूमिका मे की। कल्पनात्मक विचार का इतिहास तीन कालो मे विभक्त होता है—पुरातन, शास्त्रीय और आधुनिक अथवा ईस्वीय। पहले काल की रचना भावनाकाव्य है, दूसरे काल की महाकाव्य और तीसरे काल की नाटक। ईसाई-मत की विशेषता आत्मा और शरीर के भेद के अनुसार उच्च जीवन और निम्न जीवन है। नाटक का आधार यही भेद है। शास्त्रीय नाटक मे सुन्दर और उदात्त के अतिरिक्त और कुछ प्रदर्शित नही किया जाता था, अपरूप, साधारण और हास्यजनक का बहिष्कार किया जाता था। असली बात यह है कि सौन्दर्य तब तक अपना प्रभाव नही दिखाता जब तक कि उसका असौन्दर्य से भेद न दिखाया जाय, अपरूप और हास्यजनक ही सौन्दर्य के प्रभाव को उत्तेजित करते है। दूसरी बात यह है कि कला का मुख्य उद्देश्य प्रकृति के सत्य का प्रकाशन है, रूप और कुरूप, सद् और असद्, गम्भीर और हास्यप्रद—सब ही प्रकृति मे है, और इन सबका प्रदर्शन कला मे होना अनिवार्य है। फिर कला प्रकृति के सत्य को ज्यो का त्यो नही उपस्थित करती, वह उसका आदर्शीकरण करती है। बस, कला का सौन्दर्य आदर्शीकृत सत्य है। इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शास्त्रीय नियमो से कला के स्वातन्त्र्य को नष्ट किया है वे अयुक्त है। सार यह है कि कलाप्रणयन के कोई नियम नही है, सिवाय उनके जो कला के स्वभाव से निर्दिष्ट होते है और जो कलाकार की विषय-वस्तु से निर्दिष्ट होते है। इन दो प्रकार के नियमो के अतिरिक्त कलाकार पर किन्ही और नियमो का बन्धन नही है। उसके दोष, जैसा हम शेक्सपिअर के सम्बन्ध मे देखते हैं, उसके गुणो से अवियोज्य है। इस व्यापक सिद्धान्त को नाटक पर लागू करके वह काल और देश सङ्कलन को व्यर्थ कहता है, केवल वस्तु सङ्कलन को कलात्मक प्रणयन के लिये आवश्यक समझता है। वस्तुसङ्कलन को भी इस तरह समझता है कि उसमे उपवस्तुओ और उपकथाओ का समावेश सम्भव हो। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार विक्टर ह्यूगो शैली और भाषा के सम्बन्ध मे भी कलाकार को पूरा स्वातन्त्र्य देता है। सेण्ट ब्यूव भी रोमान्सिक पक्ष मे सम्मिलित हुआ। शास्त्रीयता को वह अवर्णनीय मानता है। आदर्श-ग्रन्थ की रचना के लिये कोई नियत नियम नही है। यह सोचना कि शुद्धता, गाम्भीर्य, स्पष्टता, और लालित्य के अनुकरण से कोई लेखक आदर्शग्रन्थ की रचना कर सकता है, गलत है। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिये व्यक्ति स्वभाव और अन्त प्रेरणा की आवश्यकता होती है। आलोचना के विषय मे उसका मत है कि उसका प्रयोजन सदा निर्णय है। आलोचक जनता का मन्त्री है। वह सार्वजनिक भावनाओ का सम्पादक है। इसी से पुरानी आलोचना का समझना कठिन है, क्योकि वह आधी लिखित है और आधी तत्कालीन जनता के हृदय मे विद्यमान थी। आलोचक कृति के मूल्य का निर्णय करने से पहले कृति को अच्छी तरह समझे। कृति को समझने के लिये सेण्ट ब्यूव ने एक निसर्गानुसारिणी रीति का अन्वेषण किया जिसका विवरण हम पिछले प्रकरण मे दे चुके है।

उन्नीसवी शताब्दी के पिछले भाग मे विज्ञान और दार्शनिक विचार की प्रगति के कारण आलोचना का अधिक विकास हुआ। कॉरलायल कलात्मक सम्पूर्णता का मानदण्ड सत्य प्रकटन बताता है। उसका कहना है कि कला तथ्य की अन्तरात्मा का कारावास से निराकरण है। आर्नल्ड अपनी कविताओ के १८५३ ई० के सग्रह की भूमिका मे कहता है कि नये कवि को प्राचीन यूनानी कवियो का अनुकरण करना चाहिये, शेक्सपिअर का नही। प्राचीन साहित्य की तीन विशषताएँ है—महान् कृत्य को काव्य का विषय बनाना, स्पष्ट प्रणयन और अभिव्यञ्जना को कम महत्त्व देना। इन तीनो बातो मे आधुनिक अग्रेजी-साहित्य इतना अधिक सन्तोपजनक नही है जितना कि पुराना यूनानी-साहित्य। वार्ड् की 'इङ्गलिश पोयट्स' के प्रारम्भिक आलोचनात्मक कथन मे वह ऐतिहासिक और वैयक्तिक मूल्याङ्कन का वहिष्कार कर के एक अनुभवात्मक मानदण्ड की प्रस्तावना करता है। बहुत दिनो के अध्ययन के पश्चात् आलोचक ऐसे स्थलो को चुन ले जिनमे अत्युदात्त कविता का पूरा चमत्कार है। इन्ही स्थलो को वह कविता के दूसरे उदाहरणो की जाँच की कसोठी मान ले। यदि ये कसौटियाँ काम न दे सके तो फिर वह कृति मे यह देखे कि उसमे कहाँ तक विषय-वस्तु का और शैली का काव्यात्मक सत्य है और कहाँ तक वह उच्च गाम्भीर्य है जो ऐकान्तिक निष्कपटता से आता है। 'लास्ट वर्ड्स' मे आर्नल्ड उत्कृष्ट शैली की परिभाषा देता है। यह शैली काव्य मे तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श का व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता और सिद्धि के साथ निरूपण करता है। यहाँ पर उत्कृष्टता के चार मानदण्ड निर्दिष्ट है, काव्यात्मकता, उच्चादर्श, सरलता और सिद्धि। सरल उत्कृष्ट शैली का उदाहरण होमर है और सिद्ध उत्कृष्ट शैली का उदाहरण मिल्टन है। रस्किन अपने हृदिस्पर्श पक्षाभास (पेथेटिक फैलैसी) नामक प्रसिद्ध निबन्ध म चार प्रकार के मनुष्य गिनाता है—पहले, वे जो सब वस्तुओ को उनके सत्य रूप मे देखते है क्योकि उनकी भावात्मकता बडी कमजोर होती है। ऐसे मनुष्यो को गुलाब, गुलाब ही प्रतीत होता है और कुछ नही। दूसरे, वे जो प्रत्येक वस्तु को उसके किसी और ही रूप मे देखते है, जो वास्तविक रूप है उसमे कभी नही। ऐसे मनुष्यो को गुलाब, तारा दीख पडता है, सूर्य दीख पडता है, परी की ढाल दीख पडती है, अथवा विसृजित कुमारी दीख पडती है। तीसरे, वे मनुष्य जो प्रबल भावात्मकता रखते हुए भी हर एक वस्तु को ठीक-ठीक देखते हैं। ऐसे मनुष्यो को गुलाब, गुलाब ही दीख पडता है, वह चाहे जैसी प्रतिमाएँ मनोवेगो द्वारा व्यञ्जित करे। चौथे, चाहे कितना ही बली कोई मनुष्य हो, कभी-कभी ऐसे विषय आते है जो उसे विह्वल कर देते हैं और उसके प्रत्यक्षीकरण को धुँधला कर देते है और वह टूटे-फूटे वाक्यों मे अक्रमिक ढङ्ग से अपनी सूझ को व्यक्त करने लगता है। पहली प्रकार के मनुष्यो को हम कवि नही कह सकते, दूसरी प्रकार के मनुष्य दूसरी श्रेणी के कवि कहलाते हैं, तीसरी प्रकार के मनुष्य प्रथम श्रेणी के कवि कहलाते है, और चौथी प्रकार के मनुष्य प्रेरित भविष्यवक्ता होते है। कीट्स और टैनीसन दूसरी श्रेणी के कवि है और

डाण्टे प्रथम श्रेणी का। डाण्टे ऐसे समय भी जब उसके मनोवेग बडे प्रबल होते है, अपने को पूरे शासन मे रखता है। लॉन्जायनस ने भी यही कहा है कि महान् प्रतिभा वाले व्यक्ति मद्यपानोत्सव मे भी धीर होते है। यहाँ रस्किन बड़े कवि की यही पहचान निर्दिष्ट करता है कि उसकी भावात्मकता और ज्ञानात्मकता दोनो बडी प्रबल होती है। 'मोडर्न पेण्टर्स' और 'एरैट्रा पैण्टैलीकाई' मे रस्किन कला का उद्देश्य नैतिक उपयोगिता मानता हे। पहली पुस्तक मे वह कहता है कि कलात्मक सुख की दो प्रकार की अनुभूतियाँ होती है—एक तो मनोरञ्जकता की केवल शारीरिक चेतना होती है, जिसे वह एस्थैसिस कहता है। दूसरी मनोरञ्जकता का हर्षमय, विनीत और कृतज्ञ प्रत्यक्षीकरण होती है, जिसे वह थ्यौरिया कहता है। इस बात के ध्यान के लिये सौन्दर्य भगवान की देन हे थ्यौरिया विषयक तुष्टि अति आवश्यक है। अत किसी कलात्मक कृति को हम सुन्दर नही कह सकते यदि वह हमे एस्थैसिस सम्बन्धी तुष्टि दे और थ्यौरिया सम्बन्धी तुष्टि देने मे असफल रहे। दूसरी पुस्तक मे रस्किन स्पष्टतया कहता है कि कलाओ का उद्देश्य नैतिक उपदेश देना है। "सब कलाएँ मनुष्यहित मे है। उनका मुख्य प्रयोजन उपदेशकता है। नाटक और मूर्तिकला को तो विशेषतया उन सबकी शिक्षा देनी चाहिये जो इतिहास मे उत्तम है और मानुषिक जीवन मे सुन्दर हे। कलाएँ तब ही सफल मानी जा सकती है जब वे उन मनुष्यो को पूरी तरह स्पष्ट हो जिनके लिये उनका उत्पादन हुआ। और कलात्मक अभिव्यञ्जना की सूक्ष्मता का यही पक्का चिह्न हे कि अभिव्यञ्जन-कौशल चित्रित विषय मे बिल्कुल लोप हो जाय।" इन वाक्यो मे रस्किन के मन्तव्य के विषय मे कोई सन्देह नही रह जाता। वह कला का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटा देता है। रस्किन के विपरीत पेटर कलाहेतु कला के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। पेटर अभिजात्य कलाकार है। प्रत्येक सृजन कलजक नही हो सकता। सहित्य के कलाकार को विद्वान् होना चाहिये और कलाप्रणयन मे निरन्तर विद्वद्वर्ग का ध्यान रखना चाहिये। उसका शब्द भण्डार बृहद् होना चाहिये और शब्दो के प्रयोग मे उसे पूरी मितव्ययता दिखानी चाहिये। जैसे मूर्तिकार प्रस्तरखण्ड से अनावश्यक प्रस्तर को काट कर मूर्ति निकाल लेता है, वैसे ही साहित्यिक कलाकार अपने शब्द-भण्डार से अनावश्यक शब्दो को दूर कर अपनी अनुभवरूपी आन्तरिक प्रतिमा को शाब्दिक रूप दे देता है। पेटर के मतानुसार कला की जान आधिक्य का निराकरण है। शब्दो का ठीक चुनाव इस ख्याल से आवश्यक हो जाता है कि उसका प्रभाव कृति के निर्माण पर पडता हैं। बिना इसके उस वास्तुकलाविषयक प्रयोजन की सिद्धि नही हो सकती जो कृति के अन्त को आदि मे देखता है और अन्त का निरन्तर मध्य मे और इधर-उधर ध्यान रखता है। यह वास्तुकलाविषयक तत्त्व मन है। दूसरी आवश्यक तत्व आत्मा है। यह व्यक्तित्व का तत्त्व है, जो विचार की भाषारूपी व्यञ्जना मे प्रकट नही होता, वरन् साहित्यकार की आत्मा की छाप के रूप मे। इसी गुण से हम साहित्यकार को उसकी विभिन्न रचनाओ मे स्पष्ट देख सकते हैं। समाप्त कृति कृतिकार के अन्तरिक दर्शन का शाब्दिक फोटोग्राफर होना चाहिये। यह

कलात्मक अभिव्यञ्जना का आदर्श है। "सर्व सौन्दर्य, अन्ततोगत्वा सत्य की सूक्ष्मता है अथवा वह जिसे हम अभिव्यञ्जना कहते है, वाणी की भीतरी प्रतिभा के लिये उपयुक्तता।" जैसा पिछले प्रकरण मे कह चुके है, ऐसा पूर्ण निष्कपटता की दशा मे ही सम्भव है। पेटर का यह मानदण्ड कलामीमासा-सम्बन्धी है और कलाहेतु कला की निमग्नता का द्योतक है। फिर भी पेटर विषय-वस्तु के मूल्य से बिल्कुल विमुख नही है। वह अपने 'स्टाइल' नामक निबन्ध के अन्त मे कहता है कि कलाकृति तब भी महान् कहलाएगी जब अभिव्यञ्जना-कौशल सम्बन्धी सम्पूर्णता के साथ-साथ उसके विषय मे मानवता की अन्तरात्मा का प्रवेश भी हो और उसका प्रयोजन मानव-सुख और ईश्वर का स्तवन हो।

रूस का महान् नाटककार और उपन्यास लेखक टॉलस्टॉय सङ्गीत और दूसरी कलाओ मे भी तीव्र अनुराग रखता था। कला का स्पष्टीकरण टॉलस्टॉय इस तरह करता है। कला उस क्रियाशीलता को कहते है जिसके द्वारा कोई मनुष्य अपनी अनुभूति को जान-बूझ कर दूसरो से निवेदन करता है। बर्नर्डशॉ का कहना है कि कला की यह परिभाषा सरल सत्य है और जो कोई भी कला से अभिज्ञ है इन शब्दो मे पारङ्गत विद्वान् की आवाज चीन्हता है। कला का पहला चिह्न सक्रामकता है। यदि कोई बच्चा अकेले आते हुए साँड को देखे और भयभीत होकर घर आकर, इस प्रकार साँड के भयानक रूप और अपनी ओर उसके झपटने का ब्यौरा दे कि उसके माता-पिता भी उसकी अनुभूति का अनुभव करने लगे तो बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि बच्चे ने बिना किसी साँड़ के देखे हुए उस अनुभूति की कल्पना की जो साँड के देखने से उद्भव हो और फिर ऊपर की जैसी कहानी गढ कर उसने अपने माता पिता से इस तरह कहो कि वे बच्चे की काल्पनिक अनुभूति का अनुभव करने लगे, तो भी बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि कोई बचवा किसी सुन्दर वस्तु को पाकर उछले-कूदे और आनन्द की अभिव्यक्ति तरह-तरह से करे, तो उसके आनन्द प्रदर्शन को कलात्मक नही कह सकते, क्योकियह स्वय परिवर्तित और नैसर्गिक है। परन्तु यदि इसी अनुभूति को याद करके पीछे से बचवा उसे इस प्रकार दूसरो से कहे कि उनमे भी उसी आनन्द का सञ्चार हो जो उसमे हुआ था, तो उसकी कहानी कलात्मक होगी। यदि कला के सम्पर्क से उन्ही भावो का सञ्चार न हो जो उसमे व्यक्त थे, तो उसको कला नही कह सकते। कला का दूसरा चिह्न उचित रूप की सिद्धि और वास्तविक भाव की प्रेरणा है। रूप की सिद्धि साहित्यिक कलाकार को शब्दो की विभिन्न व्यञ्जनाओ पर और उनके मार्मिक विन्यास पर अधिकार पाने से होती है। जिन भावो से कलाकार सक्रामकता का प्रयोजन सिद्ध करता है, नाना प्रकार के हो सकते है—तीव्र अथवा मन्द, सारपूर्ण अथवा सारहीन, सद् अथवा असद्, मातृभूमि का प्रेम, परवशता, भक्ति, वीरोपासना, रति, उत्साह, हास्य, शान्ति, और प्रशसा। भाव चाहे उपकारक हो, चाहे अपकारक, यदि उसमे रूप की सक्रामकता से व्यापकता आ जाती है तो वह कला का विषय हो जाता है। फिर भी सच्ची कलाकृतियो मे इस बात से बहुत भेद हो जाता है कि भाव मानव जाति को हितकारी है अथवा अहितकारी है। यह कला

का टॉल्सटॉय के कथनानुसार तीसरा लक्षण है। यदि यहा कहा जाय कि भाव का हितकारी अथवा अहितकारी होना कोई माने नही रखता तो कला का मानव जीवन से समस्त सम्बन्ध काट देना होगा। कलाकार स्वय मनुष्य है और अपने को दो-एक ऐसे भागो मे विभक्त नही कर सकता जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहे। इस लक्षण से चौथा लक्षण स्पष्ट हो जाता है—कला का महत्त्व। यदि कला अभिव्यञ्जना-कौशल ही की बात होती, तो वह क्रिकेट, हॉकी, अथवा शतरञ्ज की तरह मानी जाती। परन्तु हम उसे इन खेलो से अधिक महत्त्व देते है। कला हमारे भावो को रूप, वृद्धि और विकास देती है, यह कार्य कला, कलाकार के व्यक्त भावो द्वारा पूरा करती है। और क्योकि हमारे भाव हमारे विचारो, हमारे मतो, हमारी प्रवृत्तियो और हमारे समस्त जीवन को प्रभावित करते है, उन्हे प्रभावित करने वाले कलाकार को नीतिशास्त्रकारो से श्रेष्ठतर कहना उपयुक्त है। एक दूसरी जगह पर टॉलसटॉय भाव को धार्मिक प्रत्यक्षीकरण का बहाव कहता है और वहाँ कलात्मक अनुभव को इसाई-मत की नीति की चेतना से सीमित करता है, जिसका आधार मनुष्यो का भ्रातृत्वभाव और उनका भगवान से पिता पुत्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार टॉलसटॉय का कला को जॉचने का मापदण्ड कुछ कलामीमासाविषयक और कुछ सामाजिक उपयोगिता का है।

इस शताब्दी के आदि मे आलोचको का झुकाव शास्त्रीयता की ओर हुआ। रॉबर्ट ब्रिजेज़ ने उस साहित्य को प्रथम श्रेणी का माना जिसमे पचास प्रतिशत कल्पना और पचास प्रतिशत यथार्थता हो। टी० ई० ह्यूम ने शास्त्रीयता के सिद्धान्त का बडी दृढता से समर्थन किया। वह बडा शक्तिशाली लेखक था। रोमान्सवाद और शास्त्रीयता का भेद उसने दार्शनिक सूक्ष्मता से किया। मनुष्य, प्रत्येक व्यक्ति, सम्भाव्यो का अनन्त जलाशय है, और यदि क्लेशकर व्यवस्था का नाश कर समाज का पुनर्व्यस्थापन किया जाय, तो उन सम्भाव्यो को यथार्थ हो जाने का मौका मिलेगा और तब प्रगति प्राप्त होगी। यह ही रोमान्सवाद है। शास्त्रीयता इसकी उल्टी है। मनुष्य असाधारणत स्थिर और सीमित प्राणी है जिसका स्वभाव सर्वथा अपरिवर्तित है, परम्परा और अनुशासन से ही मनुष्य मे से कुछ निकल सकता है—यह ही शास्त्रीयता है। डार्विन के समय मे इस मत को कुछ धक्का लगा। उसका सिद्धान्त था कि छोटे-छोटे परिवर्तनो से धीरे-धीरे नई जातियो का विकास होता है। यह सिद्धान्त प्रगति की सम्भावना को मानता है, परन्तु ह्यूम कहता है कि आजकल डैब्रीज ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्रत्येक नई जाति धीरे-धीरे छोटे-छोटे परिवर्तनो द्वारा अस्तित्व मे नही आती वरन् उसका आकस्मिक उद्गार होता है और जब वह एक बार अस्तित्व मे आ जाती है, तब वह बिल्कुल स्थिर हो जाती है। टी० ई० ह्यूम परिवर्तन और प्रगति मे श्रद्धा नही रखता था। वह सभ्यता को बडी सन्दिग्ध वस्तु मानता था। उसका विचार था कि यदि कुछ परम्परागत परिच्छेद और मूल्य अप्रतिबद्ध न माने जाये, तो तर्क, कविता, और मानवाचार सब अस्त-व्यस्त हो जाये। अपने इस मत को ह्यूम ने मौलिक पाप के ईसाई-

सिद्धान्त से भी सम्बन्धित किया। मनुष्य का उद्धार बिना क्रम, व्यवस्था, और अनुशासन के नही हो सकता। यही मानदण्ड उसने कला के लिये निर्वाचित किया। टी० एस० इलियट की प्रवृत्ति भी शुरू मे रोमान्सवाद के विरुद्ध थी। इसका कारण न शास्त्रीय कविता का अनुराग था और न रोमान्सवादी कविता की घृणा। उस पर ग्रियर्सन जैसे विद्वान् आलोचको की आलोचना का प्रभाव था। उसने काव्यात्मक मौलिकता और आत्माभि-व्यञ्जना के तत्कालीन विचारो पर सन्देह किया और कविता को एक विकासवान् परम्परा के रूप मे देखा। यह परम्परा ह्यूम की सस्थाओ की तरह स्थिर वस्तु नही है। उसका परिवर्तन नित्य नये मिश्रणो से होता रहता है। मान लो कि नाटक के ससार मे एक महान् नाटक का सृजन हो गया, तो वह नाटक की रचनात्मक और आलोचनात्मक परम्परा को परिवर्तित कर देगा। उसने मौलिकता को केवल ठीक समय पर ठीक वस्तु की सृष्टि माना—परम्परा का सच्चा विकास। इलियट का यह विचार बहुत काल तक स्थिर न रहा। उसको सूझा कि यदि कविता को एक निश्चित परम्परा माना जाय तो यह नही कहा जा सकता कि वह दूसरी परम्पराओ से, जैसे दार्शनिक और नीतिशास्त्रविषयक, स्वतन्त्र और असम्बन्धित है। अपनी छोटी पुस्तक 'आपटर स्ट्रेञ्ज गौड्ज' मे इलियट कहता है कि आलोचना ईश्वरशास्त्र से अलग नही हो सकती। ईश्वरवाद का सम्बन्ध आलोचना को वह व्याख्यात्मक दर्शन देता है जिससे मानवजीवन का सर्वाङ्गी ज्ञान सम्भव होता है। टी० एस० इलियट का आलोचनात्मक मानदण्ड परम्परा के लिये आदर सिद्ध होता है। हर्बर्ट रीड पूर्ण मुक्ति और अमर्यादा के पक्ष मे है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास तब ही कर सकना है जब वह रूढिगत सोचने, सङ्कल्प करने, और क्रियाशील होने से मुक्त हो जाय। कलाकार ऐसे व्यक्तित्व को प्राप्त करके ही श्रेष्ठ कला का सृजक हो सकता है। जितना विकसित व्यक्तित्व, उतनी श्रेष्ठ कला—यही रीड का काव्यसमीक्षा विषयक मानदण्ड है। मिडिल्टन मरे का महत्त्व नापने का पैमाना आत्मावसाद है। जो मनुष्य अपने को अपनी कृति मे जितना भूल जायगा, उतनी ही श्रेष्ठता उस कृति मे वह पायेगा। यही विचार इलियट और रीड का भी है। टी० एस० इलियट इसे आत्मविनाशीकरण (डीपर्सनालाईजेशन) कहता है और रीड इसके लिये कीट्स के वाक्याश अभाववाचक क्षमता (नैगेटिव कैपेबिलिटी) का प्रयोग करता है। इस विचार का स्पष्टीकरण इलियट एक वैज्ञानिक सादृश्य द्वारा करता है। यदि ऐसे स्थान मे जहाँ ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड मौजूद हो कोई प्लैटीनम का तार लाया जाय तो फल सल्फ्यूरिक एसिड होता है। यह एक ऐसी चीज होती है जिसमे प्लैटीनम का कोई चिह्न नही होता। मन के दो कार्य होते है—एक तो सहना और दूसरा करना। वह मन जो सहता है, व्यक्तित्व कहलाता है और उसकी तुलना प्लैटीनम के तार से की जा सकती है। पूर्ण कलाकार मे व्यक्तित्व पूर्णतया निष्क्रिय होता है और किसी प्रकार के अनुभव का निषेध नही करता। बस, प्रौढ कलाकार अप्रौढ कलाकार से इस बात मे भिन्न नही होता है कि उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभूत होता है वरन् इस बात मे कि उसका

व्यक्तित्व अधिक मुक्त रूप से विशिष्ट और विभिन्न भावो को नये रूपो मे व्यवस्थित कर सकता है। इन आलोचको मे किसी कदर भिन्न आई० ए० रिचार्ड्ज है। वह कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता से जाँचता है। उसका भरोसा शिराशास्त्र (न्यूरौलौजी) के भविष्य पर है और वह समझता है कि वह कविता का मूल्य वैज्ञानिक सूक्ष्मता से निश्चय कर सकता है। मन को वह शिराविषयक व्यवस्था अथवा उसकी आशिक क्रियाशीलता मानता है। यदि हम शिराविषयक व्यवस्था को भली प्रकार समझ ले तो मन को भली प्रकार समझ लेगे और हमको यह जानने की योग्यता आ जायगी कि कौन कविता शिराविषयक व्यवस्था के उपयुक्त है। मन के विभिन्न अनुरागो से समतोलन भङ्ग हो जाता है और जब वे अनुराग व्यवस्थित होकर एक-स्वर हो जाते है तो फिर मन मे समतोलन आ जाता है। ऐसे असमतोलन और समतोलन बराबर होते रहते है। कविता का प्रयोजन यही है कि वह ऐसी ही एक-स्वर अवस्थाएँ पैदा करे, अनुरागो को ऐसा क्रम दे कि वे मन अथवा शिराविषयक व्यवस्था को चैन दे। उत्कृष्ट कविता का प्रभाव आत्मसम्पादन (सैल्फ-कम्प्लीशन) होता है।

भारतीय काव्य का उद्गम-स्थान वेद है, जैसे वह दूसरी विद्याओ का भी मूलस्रोत है। वेदमन्त्रो मे व्यग्यात्मक शैली और अलङ्कारो के बडे उदात्त उदाहरण मिलते है। प्राकृतिक दृश्यो के सौन्दर्य का चित्रण चमत्कारयुक्त है। 'ऋग्वेद' मे बहुत-सी सूक्तियाँ है जिनमे मनोरम कथोपकथन है। उपनिषदो मे भी, चाहे वे दार्शनिक विचारो मे निमग्न हैं, काव्यात्मक स्थलो की कमी नही है। ईस्वी-सवत् से कई सौ वर्ष पहले रामायण की रचना हो चुकी थी। 'रामायण' तो वस्तु, रूप और उद्देश्य के विचारो से काव्य ही है। उसमे जगह-जगह पर कल्पना की उडान प्रकृति-सौन्दर्य के वर्णन मे देखी जाती है। 'महाभारत' भी दूसरी शताब्दी से पहले ही लिखी जा चुकी थी। 'महाभारत', काव्य की अपेक्षा अधिकतर धर्मशास्त्र है, फिर भी इससे बहुत से कवियो को प्रेरणा मिली है। 'दशरूप' मे नाटक के लेखको को सलाह दी गई है कि वे अपनी कथावस्तु 'रामायण' और 'महाभारत' से ले। 'महाभारत' से ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश मे बहुत से अश उद्धृत हुए है और कुछ 'रामायण से भी। कहा जाता है कि पाणिनि ने भी 'पाताल-विजय' नामक महाकाव्य लिखा था और राजशेखर व्याकरणवेत्ता पाणिनि को 'जाम्बवतीजय' काव्य का प्रणेता बताता है। आख्यायिकाओ की रचना पतञ्जलि से पहले ही प्रचलित थी। पतञ्जलि आख्यायिकाओ की तीन रचनाओ—'वासवदत्ता', 'सुमनोतरा', और 'भैमरथी' का जिक्र करता है। वह यह भी बताता है कि कस की मृत्यु और बालि के मानमर्दन के विषयो पर नाटकीय प्रदर्शन प्रचलित थे और एक स्थल पर नटो की स्त्रियो का उल्लेख है। 'महाभाष्य' मे बीते हुए अनेक कवियो की रचनाओ मे से अवतरण उपस्थित हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि ईसा के जन्म तक सस्कृत मे उत्कृष्ट साहित्य की पर्याप्त रचना हो चुकी थी। कोई सन्देह नही कि इतनी वृहद् और सुन्दर रचना ने वैज्ञानिक और दार्शनिक गवेषणा को उत्तेजित कर दिया और काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक

आलोचना का आविर्भाव किया। काव्य और काव्यविषयक विचारो को पहले से ही वेद का अङ्ग माना गया है। भरत मुनि 'नाटक-शास्त्र' के प्रारम्भ मे ही लिखते है कि ब्रह्मा ने ऋक्, साम, यजु, और अथर्ववेद से क्रमश पाठ्य गीत, अभिनय और रसो को ग्रहण करके नाट्य-वेद का निर्माण किया।

जूनागढ मे रुद्रदामन का एक शिलालेख है जिससे उस समय तक की साहित्यशास्त्र-विषयक प्रगति का पता चलता है। इसका समय लगभग १५० ईस्वी है। लेख की शैली से ज्ञात होता है कि लेखक उस समय के काव्यरचना के नियमो का पालन कर रहा है। काव्य का पद्य और गद्य मे विभाजन उसकी चेतना मे है। वह गुणो से भी अभिज्ञ है, स्फुट, मधुर, कान्त, और उदार के नाम लेता है। लेखक की दृष्टि मे गद्य और पद्य दोनो का अलङ्कृत होना आवश्यक है। नासिक वाला शिलालेख भी जो कि जूनागढ वाले से कुछ अधिक पुराना है इसी आलोचनात्मक अवस्था का साक्षी है। यह प्रशस्ति हमे यह भी बताती है कि समुद्रगुप्त को बहुत से प्रेरक काव्यो की रचना के कारण कविराज की उपाधि मिली थी। 'निघण्टु' ने ऋग्वेद के कई वाक्याश एकत्रित करके उनमे उपमा का प्रयोग दिखाया है। 'निरुक्त' मे ऋग्वेद की एक उपमा मे यह दोष दिखाया गया है कि उसमे उपमान, उपमेय से निम्न श्रेणी का है, जो नियमानुकूल नही है। पाणिनि से पहले ही बहुत से पारिभाषिक शब्द भाषा मे जम गये थे। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से भी यही स्पष्ट है कि उससे पहले कवितानिर्माण के सिद्धान्त निर्णय हो चुके थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे कोई अथवा बहुत से पद भिन्न छन्द मे आते हैं। उसमे हाव और भाव जैसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग है। 'नाट्यशास्त्र' जो ३०० ईस्वी के पहले ही लिखा जा चुका था रस सिद्धान्त, चार अलङ्कार और गुणो का पूरा विवरण देता है। सुबन्धु अपनी 'वासवदत्ता' मे काव्यरचना, वक्रोक्ति और अलङ्कारो का उल्लेख करता है। इसमे सन्देह नही कि ६०० ईस्वी तक ऐसे साहित्य शास्त्रो का निर्माण हो चुका था जिनमे काव्य के सिद्धान्त और उसके रूपो का सन्तोषजनक निरूपण था। ६०० ईस्वी के पश्चात् लिखे हुए शास्त्रो मे प्रसिद्ध ये हैं—भामह का 'काव्यालङ्कार', दण्डी का 'काव्यादर्श,' उद्भट का 'अलङ्कार-सारसग्रह,' वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र, रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', ध्वनिकार एव आनन्दवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक,' राजशेखर की 'काव्यमीमासा,' कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित,' धनञ्जय का 'दशरूप,' मम्मट का 'काव्यप्रकाश,' रुय्यक का अलङ्कार-सर्वस्व,' विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण,' और जगन्नाथ का 'रसगङ्गाधर'। इनमे से कुछ तो सर्वाङ्गी हैं, जैसे 'साहित्यदर्पण' बहुत से काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्य-गुण और काव्यदोष जैसे विषयो मे सलग्न है, कुछ नाट्यशास्त्र और रस-सिद्धान्त का विवरण देते है, बहुत से केवल अलङ्कारो की व्याख्या करते हैं, कुछ किन्ही विशिष्ट काव्यात्मक सिद्धान्तो का विवरण देते है, कुछ का विषय केवल शब्द है, और कुछ केवल रससिद्धान्त परायण है।

यहाँ हम ऐतिहासिक रीति को छोडकर काव्यशास्त्र की मुख्य समस्याएँ सक्षेप मे निरूपित करते है और इस निरूपण मे जो काव्यसमीक्षा के मानदण्ड व्यञ्जित होगे, उन्हे स्पष्टतया कह देगे।

भारतीय विचार के अनुसार काव्यप्रयोजन आनन्द है। भरत मुनि कहते हैं कि मनुष्यो के विनोद के लिये नाट्यकला का उद्भव हुआ—'विनोदकरण लोके नाट्यमेतद्-भविष्यति'। दु खार्त मनुष्यो को नाट्य सामर्थ्य देता है और शोकार्त मनुष्यो को सात्वना देता है। 'साहित्यदर्पण' ने काव्य के आनन्द को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा है, जिसकी व्याख्या में प० रामदहिन मिश्र लिखते है—"हम रजोगुण तथा तमोगुण के मलिन आवरण से विमुक्त चित्त मे इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते है।" 'रसगङ्गाधर' मे भी कहा गया है कि काव्यास्वादन से अलौकिक आह्लाद की अनुभूति होती है। 'काव्यप्रकाश' मे काव्य-प्रयोजन इस प्रकार वर्णित है—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

"यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियो का विनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्यग्रन्थ उपादेय है।" इस मूलकारिका के विशदीकरण मे ग्रन्थकार कहते है कि काव्य, शिक्षा और उपदेश का अपरोक्ष साधन नही है, वरन् परोक्ष। कवि उपदेश को आनन्दमय और आकर्षक बनाकर भावक को उसमे अनुरक्त कर देता है। काव्यप्रयोजन की इस समीक्षा मे काव्यात्मक मानदण्ड, शुद्ध आनन्द और परोक्ष उपदेशकता उपलब्ध होते है। ये ही कलामीमासा विषयक (एस्थैटिक) मानदण्ड पाश्चात्य-कलालोचक निर्दिष्ट करते है।

कवि के लिए तीन बातो की आवश्यकता है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास। ऐसा मत सस्कृत के अनेको आचार्यों का है। प्रतिभा मानसिक शक्ति है जो पूर्वजन्मार्जित सस्कारो से प्राप्त होती है। इस शक्ति द्वारा कवि वस्तुओ को सौन्दर्य-निमग्न देखता है और उन्हे उपयुक्त भाषा मे स्पष्ट रूप मे चित्रित करता है। सौन्दर्य का विचित्र दर्शन और उसका स्पष्ट निवेदन, यही दो काव्यात्मक प्रतिभाव के गुण है। साहित्यसृष्टि इस शक्ति का कार्य है। व्युत्पत्ति, लोकशास्त्रादि के अवलोकन मे प्राप्त निपुणता को कहते है। क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' मे कवि को इन शास्त्रो का परिचय आवश्यक बताया है—न्याय, व्याकरण, भरतनाट्यशास्त्र, चाणक्यनीतिशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुविद्या, वादशास्त्र, रत्नशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, पुरुषलक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल प्रकीर्णशास्त्र। व्युत्पत्ति, काव्य को विभूषित करती है और उसे व्यापकता प्रदान करती है। काव्यरचना मे योग्यता के

साथ अनवरत प्रवृत्त होना अभ्यास है। अभ्यास से काव्य की वृद्धि होती है। जैसे पश्चिम मे, वैसे ही यहाँ प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आपेक्षिक महत्त्व पर बड़ा वाद-विवाद रहा है। कुछ आचार्यो की दृष्टि मे प्रतिभा ही अकेली काव्यसृष्टि का कारण है। वामन ने प्रतिभा को कवित्वबीज कहा है। राजशेखर कहता है, कि वही शक्ति काव्य की केवल हेतु है। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' मे लिखा है कि प्रतिभा ही कवियो के काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सस्कारक है, उसके कारण नही—"प्रतिभैव च कवीना काव्यकरणकारण, व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव सस्कारकारकौ न तु काव्यहेतु।" 'रसगङ्गाधर' मे भी यही कहा है—"तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा।" यही प्रश्न ग्रीस मे •लॉन्जायनस के सामने था। वह किसी लेखक का मत उद्धृत करता है—"प्रतिभा जन्मजात है, शिक्षित नही, प्रतिभा की कृतिभो की एक ही कला है और वह है उसके साथ पैदा होना।" इसके खण्डन मे पहले लॉन्जायनम प्रकृति का उदाहरण देता है। प्रकृति के आकस्मिक और वृहद् दृश्यो मे अव्यवस्था मालूम होती है पर यह भ्रम है। यदि प्रकृति मे नियम और व्यवस्था न हो तो मारा विश्व अस्तव्यस्त हो जाय। फिर वह डिमोस्थनीज के जीवन के विषय मे यह मत उद्धृत करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज जीवन के के लिए समृद्धि है और दूसरी लगभग उतने महत्त्व की ही विवेक है। क्योकि यदि दूसरी प्राप्त न हो तो पहिली का उपयोग नही हो सकता। ठीक यही बात साहित्य मे लागू है। यहाँ समृद्धि के स्थान मे प्रतिभा है और विवेक के स्थान मे व्युत्पत्ति है। प्रतिभा प्रदान करती है और व्युत्पत्ति व्यवस्थित करती है। शेक्सपिअर ने प्रकृति (अर्थात् प्रतिभा) को कला (अर्थात् व्युत्पत्ति) से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उसका तर्क है कि जिन नियमो से हम कृतियो को व्यवस्थित करते है उन्हे हम पहले प्रकृति मे देखते है और फिर उनके द्वारा अपनी कृतियो का सृजन करते है। कला का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड भी यही है कि कलाकृति बिल्कुल प्राकृतिक मालूम हो और उसमे कला की तनिक भी चेतना न हो। प्रतिभा का महत्त्व पश्चिम मे सदा रहा है। बस, नवशास्त्रीय काल मे और आधुनिक काल मे व्युत्पत्ति को अधिक श्रेष्ठ है। कुछ गणितज्ञ आजकल प्रतिभा की यह परिभाषा करते है कि वह दो बटे पाँच प्रेरणा है और तीन बटे पाँच अर्थशून्य प्रलाप है। कुछ प्रतिभा को नौ बटे दस पसीना मानते है और कहते है कि वह अनन्त श्रम करने की क्षमता है। उन विश्लेषणो के अनुसार प्रतिभा व्युत्पत्ति ही मानी जा सकती है। यह वाद-विवाद अनन्त है और इसे सुलझाने के लिये हमारी सहायता को जर्मनी का आलोचनात्मक दर्शन आता है। मनुष्यो की चेतना, मन और प्रकृति की आपसी क्रिया और प्रतिक्रिया है। जिस किसी मनुष्य मे अज्ञात कारणो से यह क्रिया और प्रतिक्रिया गहन और विस्तृत और स्पष्ट होती है उसी मे प्रतिभा का आविर्भाव होता है। यदि ऐसा मनुष्य परिश्रम से दूसरो का अर्जित ज्ञान भी प्राप्त कर ले तो उसकी प्रतिभा और भी चमत्कृत हो जाती है।

यदि गूढ दृष्टि से देखा जाय तो काव्यतत्त्वो के निरूपण मे प्राच्यालोचना अधिक मतभेद नही दिखाती। कविता प्रचलित भाषा के शब्दो का प्रयोग करती है, बस, अन्तर

इतना होता है कि उसमे शब्दचयन अकृत्रिम परन्तु विवेकपूर्ण और भावव्यञ्जक होता है। इस बात को 'श्रीकण्ठचरित' मे यो वर्णित किया है—"सराहिये उस कवि चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दो और अर्थो की सेना सामने कायदे से खडी हो जाती है।" कुछ प्राचीन आचार्यो ने कविता का आधार शब्द बताया है। उनका कहना है कि कवि का पहला प्रयास शब्द-उपस्थिति ही है। परन्तु यह निरथक बात है। शब्द को उसके अर्थ से अलग नही किया जा सकता और ज्यादातर आचार्य शब्द और अर्थ दोनो को ही काव्य का आधार मानते है। भामह का कहना है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्य।" वामन, मम्मट, और जगन्नाथ भी इसी मत के हे। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे वाक्य को कविता का आधार बताया है—"वाक्य रसात्मक काव्य"। छन्द को छ वेदाङ्गो मे से एक माना है। उसका ज्ञान रचनाकार और भावक दोनो को आवश्यक है। गोकि स्मृति, शास्त्र, पुराणादि प्राय छन्दोबद्ध है और वेद भी छन्दस् कहलाते है फिर भी छन्द को काव्य के लिये अनिवार्यत आवश्यक सब साहित्यशास्त्रकारो ने नही माना। शेली के अनुसार काव्य तीन प्रकार का माना गया है—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र या चम्पूकाव्य। जब गद्य-काव्य, काव्य है तो काव्य के लिये छन्द अनिवार्यत आवश्यक नही माना जा सकता। रामनरेश त्रिपाठी छन्द को रस का सहायक कहते है। "मन्दक्रान्ता, द्रुतबिलम्बित, शिखरिणी, और मालिनी छन्द मे शृङ्गार, शान्त और करुण रस अधिक मनोहर हो जाते है। भुजङ्ग-प्रयात, वशस्थ, और शार्दूलविक्रीडित मे वीर, रौद्र, और भयानक रस विशेष प्रभावोत्पादक हो जाते है। हिन्दी छन्दो मे सवैया और बरवै मे शृङ्गार, करुण, और शान्त रस, छप्पै मे वीर, रौद्र, और भयानक रस, घनाक्षरी, दोहा, चौपाई, और सोरठा मे प्राय सभी रस उद्दीप्त हो जाते है। सवैया और बरवै मे वीर रस का काव्य नीरस हो जायगा।" छन्द और काव्य के सम्बन्ध के विषय मे तीन दृष्टियाँ सम्भव है। पहली दृष्टि से छन्द काव्य के लिये अनावश्यक है। काव्य भाव की विशेषता हे और यदि भाव काव्यात्मक है तो चाहे उसकी अभिव्यक्ति गद्य मे हो वह काव्य का सृजन करेगा। उलटे तरीके से इसे यो भी समझा जा सकता है कि यदि भाव काव्यात्मक नही है तो उसकी अभिव्यक्ति पद्य मे भी काव्य का सृजन नही कर सकती। दूसरी दृष्टि से छन्द, काव्य के लिये अनिवार्यत आवश्यक है। प्रत्येक पद्यात्मक रचना चाहे उसका भाव काव्यात्मक है या नही काव्य है। यह दोनो दृष्टियाँ इतनी ठीक नही जितनी कि तीसरी। छन्द काव्य के लिये अनिवार्यत आवश्यक नही किन्तु छन्द काव्य का अवियोज्य सहचर है। जेसा हम कोलरिज के सम्बन्ध मे पहले लिख चुके है, तीव्र मनोभाव स्वभावत दु खद होते है और जब मनुष्य किसी तीव्र भाव से अतिपीडित होता है तो स्वत उसके दु ख के उद्गार सुस्वर हो जाते है। पीडा के कारण जागृत चेतना, जिसकी क्रियाशीलता उद्गारो को सुस्वर बनाने मे प्रकट होती है, क्लेश को इस प्रकार सहने योग्य बना देती है। यह प्रकृति के आत्मरक्षण के नियमानुसार है। बस जहाँ तीव्र मनोवेगो की अभिव्यक्ति होगी, और काव्य के मनोवेग तीव्र होते है, वही अभिव्यक्ति सुस्वर हो जायगी। छन्द के नियम अवश्य बड़े कठोर है

और उनके परिपालन मे अभिव्यक्ति कृत्रिम हो जाती है। इसी से आज कल छन्द शास्त्रज्ञ पद्याभास अथवा वृत्तिगन्धि गद्य की ओर झुक रहे है। उनका कहना है कि प्रत्येक अनुभव मौलिक है और किसी अनुभव की पुनरावृत्ति नही होती। इसी विचार मे प्रत्येक अनुभव की मौलिक अभिव्यञ्जना होगी। पहले से नियत कोई छन्द उसकी अभिव्यञ्जना कर ही नही सकता, अगर करेगा तो अभिव्यञ्जना मे वह झूठा हो जायगा। निष्कर्ष यह हे कि काव्यात्मक अनुभव की लयमय अथवा छन्दोबद्ध अभिव्यञ्जना होगी, क्योकि वह अनुभव स्वय लयमय हे और जहाँ तक उसी लय को अभिव्यक्त किया जाय वहा तक ही काव्य मे सत्यता अथवा निष्कपटता आयेगी। भाषा और छन्द के अतिरिक्त प्राचीन साहित्यशास्त्रकारो ने काव्य के पाँच उपकरणो का अधिक वर्णन किया है। वे हे रस, ध्वनि, रीति, गुण, और अलङ्कार। वक्रोक्ति भी महत्त्व पा गयी हे, परन्तु उसे अलङ्कारो मे समाविष्ट करने की प्रवृत्ति रही हे। अधिकाश शास्त्रो मे दोषो की ओर भी दृष्टि गई है।

रस और ध्वनि का निर्देश काव्य के अर्थ से है। रस को काव्य का जीवन कहा हे और रसास्वादन ही काव्य के अध्ययन का परम ध्येय माना गया ह। रस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले भरत मुनि ने अपन 'नाट्यशास्त्र' मे किया। वहाँ वह नाटकविषयक हे। नाटक और दूसरे पात्रो मे स्थायीभावो का प्रदर्शन होता हे और खेल देख कर दर्शक के हृदय मे रस की अनुभूति होती हे। इस स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के सयोग से निष्पन्न होता हे और व्यञ्जित होता है, स्पष्टतया नही बताया जाता। भरत ने रस की निष्पत्ति का कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही दिया। उन्होने आठ स्थायीभाव माने है और उनके अनुरूप आठ रस। पीछे से नवाँ रस शान्त और जोड़ा गया है। परन्तु इसका समावेश नाटक मे नही हो सकता, क्योकि नाटक का क्रिया व्यापार शब्दो और इङ्गितो द्वारा होता हे। महाकाव्य मे उसका समावेश हो सकता हे, क्योकि महाकाव्य एकान्त म अकेले पढा जाता है। रुद्रट ने दसवाँ रस प्रेयान् शामिल कर दिया। वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, और कार्पण्य जो और पीछे से शामिल किये गये, पहले आठो मे ही समाविष्ट है। रस कलामीमासाविषयक (एस्थेटिक) आनन्द की मानसिक अवस्था हे। इस आनन्द की ब्रह्मानन्द से तुलना दी गई हे और सविकल्पक होने के कारण ही वह ब्रह्मानन्द से नीचा पडता हे। 'रसगङ्गाधर' म इसे चमत्कार कहा गया हे और उसकी अनुभूति सहृदय को होती हे। किस प्रकार चमत्कार की अनुभूति होती है, इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढङ्ग से की गई है। लोल्लट भट्ट का मत हे कि रस राग इत्यादि मे होता हे। अभिनय मे दर्शक इसे नट पर आरोपित करता हे और इसी आरोपित रस की चेतना उसके आनन्द का कारण होती है। शङ्कुक, रस को अनुमानात्मक मानता हे। भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावो सहित प्रदर्शित नाम के प्रेम के मनन से दर्शक को आनन्द की अनुभूति होती है। अभिनवगुप्त का विचार है कि प्रेम और दूसरे भाव पहले से ही दर्शक के मन मे निहित है और विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावो की उत्तेजना से जागृत होकर रस की अवस्था को पहुँचते है। हम दूसरे प्रकरण मे स्पष्ट कर चुके है कि भाव कल्पनात्मक

मन का विषय बन कर रस मे परिणत हो जाता है। यहाँ रसास्वादन अथवा चमत्कार काव्य समीक्षा का मानदण्ड सिद्ध होता है। इस मानदण्ड के निश्चय करने मे प्राचीन आलोचना की सर्वोच्च विजय है और पाश्चात्य विचार इससे परे नही गया।

ध्वनि-सिद्धान्त रस सिद्धान्त का विस्तार है। उसका प्रतिपादक ध्वनिकार है। रस-सिद्धान्त नाटक सम्बन्धी था और उसकी दृष्टि मे एक समस्त कृति थी। शब्दो और वाक्यो से, जिनमे काव्यात्मक चमत्कर हो, उसको कोई प्रयोजन नही था। यदि रस को ही काव्य की जान माना जाय, तो चमत्कार पूर्ण शब्दो और वाक्यो को काव्य नही कहा जा सकता, क्योकि उनसे कोई रस सिद्ध नही होता, वे रस की निष्पत्ति मे सहायक अवश्य होते है। ध्वनिकार ने शब्द की ओर ही अधिक ध्यान दिया। जसे शब्द से अर्थ का बाध होता है वैसे ही कविता के वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ का बोध होता है। शब्द पहले सीधे अथ के बोधक होते हे। धीरे-धीरे व्यवहार मे उनमे लक्षणा शक्ति आ जाती है जिससे वे साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट करने लगते है। परन्तु रूढि लक्षणा कविता मे कोई विशेष चमक नही लाती, जब कवि ऐसे शब्दो का अपने प्रयोजन के लिये प्रयोग करता है तब वे काव्य मे चमक लाते हे। मैदान मे बहुत-सी तलवारे आ गई,' यहाँ हमे प्रयोजनवश तलवार का अर्थ तलवारबन्द सिपाही मानना पडता है। ऐसी ही व्यञ्जना उन शब्दो मे होती है जिनके दो अर्थ होते हे और ऐसी ही व्यञ्जना समस्त वाक्यो और कृतियो मे होती है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त ध्वनि अथवा व्यञ्जना शक्ति को ही कविता की जान समझता है, रीति को नही। व्यग्यार्थ वस्तु हो सकता हे, अलङ्कार हो सकता है और रस हो सकता है। 'ध्वन्यालोक' ने काव्य तीन प्रकार का माना है, ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यग्य और चित्र। जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो, तो काव्य ध्वनिकाव्य है। जब व्यग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न हो, किन्तु अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो काव्य गुणीभूतव्यग्यकाव्य है। जिस काव्य मे गुण और अलङ्कार हो परन्तु व्यग्य न हो, उस काव्य को चित्रकाव्य कहते है। ध्वनिकाव्य उत्तम, गुणीभूतव्यग्यकाव्य मध्यम, और चित्रकाव्य अवर कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' का मत है कि काव्य उत्कट भावो की व्यञ्जना है। जब वाल्मीकि प्रेमी क्रौञ्च की पीडा से अति प्रभावित हुआ, तो उसकी कल्पना जागरित हुई और उसमे श्लोकत्त्व आया, 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत.।' ध्वनि-सिद्धान्त शब्दो और वाक्यो तक व्यञ्जकता बढाने मे रस सिद्धान्त से अधिक श्रेष्ठ नही माना जा सकता है। कारण यह हे कि शब्द और वाक्य तभी काव्यात्मक होगे जब वे प्रसङ्गवश किसी काव्यात्मक घटना का दर्शन देगे और उस दशा मे वे भी पूर्ण कृति की बराबरी करेगे। रस सिद्धान्त भी नाटक से आगे बढकर सब काव्यरूपो पर लागू है। रस-व्यञ्जना ही काव्य की विशेषता है और यहाँ तक ध्वनिसिद्धान्त कलामीमासाविषयक तथ्य को पहुँच गया।

रीति का आधुनिक नाम शैली है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये विशेष ढङ्ग के पदो का प्रयोग करना रीति है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे गोकि नाट्योपयोगी प्रवृत्तियो और

वृत्तियो का बडा विस्तृत वर्णन है, रीतियो का वर्णन उसमे नही मिलता। रीति का पहला प्रतिपादक भामह है। उसने दो रीतियो का उल्लेख किया है—वैदर्भी और गौडीय। वैदर्भी रीति की विशेषताएँ सरल शब्द और सरस अर्थ थी, और गौडीय रीति की विशेषताएँ अलङ्कारो की भङ्कार, अक्षरो का आडम्बर, तथा बन्ध की गाढता थी। परम्परानुसार वैदर्भी रीति प्रशसनीय और गौडीय रीति निन्दनीय थी। परन्तु भामह ने काव्य के गुण अलङ्कारवत्ता, अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्याय्यत्व, और अनाकुलत्व निश्चित किये और कहा कि यदि गौडीय रीति के काव्य मे ये गुण विद्यमान हो तो उसे निन्दनीय नही कहा जा सकता। दण्डी ने भी वेदर्भी और गौडीय, इन्ही दो रीतियो का वर्णन किया हैं। भरत मुनि ने काव्य के दस गुण दिये थे—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, और समाधि। दण्डी ने इन दसो गुणो को वैदर्भी रीति का प्राण कहा है। गौडीय रीति मे इन दसो गुणो मे से अर्थव्यक्ति 'औदार्य तथा समाधि, तीन गुण जैसे वैदर्भी रीति मे विद्यमान् रहते है वैसे ही गौडीय रीति मे विद्यमान् रहते है, परन्तु बाकी सातो गुणो के गौडीय रीति मे उनके विपर्यय विद्यमान् रहते हैं। दण्डी ने परम्परा के अनुसार वैदर्भी रीति को उत्तम और गौडीय रीति को निकृष्ट कहा है। दण्डी के रीति सिद्धान्त को वामन ने अधिक पूर्णता दी। वामन ने निर्भीकता से कहा कि रीति काव्य की आत्मा है, कि रीति विशेष प्रकार का पदस्थापन है, कि पदस्थापना की विशेषता गुण है (रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीति। विशेषो 'गुणात्मा')। वामन ने गुण दो प्रकार के माने हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुण बन्ध के गुण है। अर्थगुण नितान्त व्यापक हैं और ये रस को भी अपने मे शामिल करते है। अर्थ की अपेक्षा से ओज, माधुर्य, समाधि और कान्ति मे काव्य के सब अङ्ग आ जाते हैं। ओज मे अर्थ की प्रौढता आती है; माधुर्य मे अर्थ की विचित्रता और कल्पना का चमत्कार, समाधि मे नवीन अर्थ की दृष्टि, और कान्ति मे रस की दीप्ति। वामन ने अर्थगुण अधिक महत्त्व का माना है। अर्थगुण प्रधान होने के कारण वैदर्भी रीति, रीतियो मे श्रेष्ठ है; क्योकि वैदर्भी रीति मे गुणो की विशदता और गुण की समग्रता रहती है, कवियो को उसी का आश्रय लेना उचित है। गौडीय रीति मे दो ही गुण होते हैं—ओज और कान्ति। वामन एक तीसरी रीति भी बताता है। वह है पाञ्चाली जिसमे माधुर्य्य और सौकुमार्य गुण प्रधान होते है। वामन का मत है कि किसी रीति मे गुणो का विपर्यय नहीं होता; हाँ, गुणो को अधिक अथवा न्यून सख्या हो सकती है। रीति के विवेचन मे विश्वनाथ ने पदो के सङ्गठन पर अधिक जोर दिया है। जैसे शरीर मे अङ्गो का सङ्गठन होता है वैसे ही काव्यशरीर मे शब्दो और अङ्गो का सङ्गठन होता है। शब्द विषय, भाव और सस्कार के अनुसार छाँटा जाय, और जिस स्थान मे उसका प्रयोग किया जाय, उस स्थान मे वह अपना वैभव दिखाये। शब्द की भङ्कार का भी पूरा ख्याल रखा जाय। मम्मट ने रीति की जगह वृत्ति का प्रयोग किया और शब्द की भङ्कार के विचार से उसने तीन प्रकार की वृत्तियाँ निर्दिष्ट की, उपनागरिका, कोमला और परुषा। रीति

अथवा वृत्ति को प्राचीन आलोचना ने अभिव्यञ्जना से अलग सा ही माना है, उसे कोई ऐसी चीज माना है, जिसे कृति मे जोड सकते है अथवा कृति से उसे घटा सकते है, वह कोई बाह्य उपकरण है जिसके उपयोग से कृति मे सुन्दरता ला सकते है। रीति यथार्थ का व्यक्तिगत दर्शन है और कवि की कृति से अलग उसे अध्ययन का विषय बनाना भूल है।

रस काव्यशरीर का प्राण है और गुण रस का धर्म है। गुण रस मे रहता है और वह काव्य को ऊँचा उठा लेता है। जगन्नाथ का मत है कि गुण रस मे ही नही रहता वरन् शब्द और अर्थ मे भी। यह विचार ठीक नही। वर्णरचना को माधुर्य, ओज और प्रसाद रस देता है। इन गुणो द्वारा रस व्यक्त होता है। जिस रस का जो गुण धर्म है और उसे व्यक्त करने वाले जो वर्ण है, यदि हम उन्हे लेकर रसरहित रचना मे प्रयोग करे तो गुण नही आयगा। गुण को भोजराज ने अलङ्कार से अधिक आवश्यक माना है, क्योकि यदि अलङ्कृत काव्य मे गुण न हो तो वह रुचिकर नही होगा और यदि गुणसम्पन्न काव्य मे अलङ्कार न हो तो वह रुचिकर हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का विश्लेषण, जैसा हम ऊपर कह चुके है, उपकरणो के शिल्पविषयक प्रयोग का अन्दाजा देता है। रस के साथ ही रीति, गुण और अलङ्कार सब उद्भूत होते है। गुणो की सख्या के विषय मे आलोचको का मतभेद हैं, कोई दस, कोई उन्नीस, कोई बीस, और कोई चौबीस मानता है। परन्तु 'काव्यप्रकाश' मे तीन रस ही माने गये है और बाकी सब की निःसारता दिखा दी है। 'साहित्यदर्पण' ने भी तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य, शृङ्गार रस का विशेष धर्म है, और विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण मे अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। माधुर्य मे अपने वर्ग के पाँचवें अक्षर अपने वर्ग के ही दूसरे अक्षरो से अधिक मिले जुले होते हैं और समास उनमे नाममात्र ही होता है। ओज, रौद्र, वीर और अद्भुत रसो का धर्म है। ओज मे समास की अधिकता और कट अक्षरों, विशेषतया ट, ठ, ड, और ढ, की बहुतायत रहती है। प्रसाद सब रसो का धर्म है। जहाँ शब्द सुनते ही अर्थ समझ मे आ जाय, वही उसकी सत्ता होती है। प्रसाद मे शब्द बडे सरल और सुबोध होते है।

विश्वनाथ ने कहा है, "शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति के बढाने वाले धर्म हैं वे ही अलङ्कार है।" कटक, कुण्डल की तरह अलङ्कार रस के उत्कर्ष-विधायक हैं। परन्तु यह उपमा बिल्कुल ठीक नही है। कटक और कुण्डल को शरीर से पृथक् कर सकते हैं। परन्तु अलङ्कार को काव्य से पृथक् नही कर सकते। अलङ्कार काव्य के अङ्गभूत होकर उसकी शोभा बढाते हैं। इसे इस तरह समझ सकते हैं। काव्य का प्राण रस है। रस शब्दार्थगत है। शब्दार्थ की शोभा बढाना रस और काव्य की शोभा बढाना है। अलङ्कार तीन श्रेणियो मे बाँटे जा सकते है—अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप मे आने वाले, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि, वाक्य वक्रता के रूप मे आने वाले जैसे व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि, वर्णविन्यास के रूप मे आने वाले, जैसे अनुप्रास आदि। अलङ्कार के उन्नायक भामह और उद्भट हैं और रुद्रट तथा प्रतीहारेन्दुराज उनके अनुयायी हैं। ये लोग रसो से अनभिज्ञ न थे। भामह कहता है कि महाकाव्य मे रस होने चाहिए।

उद्भट रसवत की परिभाषा मे स्थायीभाव, विभाव, और सञ्चारी भावो का उल्लेख करता है। दण्डी भी रसवत और ऊर्जस्वी की परिभाषा करता है। परन्तु इन आचार्यों को अलङ्कार ही काव्य के महत्त्वपूर्ण अङ्ग मालूम होते थे और रसों को अलङ्कारो की अपेक्षा निम्नपदस्थ समझते थे। भामह और दण्डी व्यग्यार्थ से अभिज्ञ थे, परन्तु इस सिद्धान्त से अभिज्ञ नही थे कि प्रतीयमान अर्थ काव्य का प्राण होता है। प्रतीयमान-अर्थ का सन्निवेश वे अप्रस्तुतप्रशसा, समासोक्ति, आक्षेप, और पर्यायोक्ति इन अलङ्कारो मे करते थे। भामह और दण्डी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अधिक महत्त्व का समझते थे। उनकी भावना थी कि यह दो अलङ्कार और सब अलङ्कारो की जड मे हैं। अलङ्कार को भामह और दण्डी का दिया हुआ महत्त्व बहुत दिनो तक चलता रहा और मम्मट ने भी, चाहे वह ध्वन्यालोक का अनुयायी था, अपने ग्रन्थ मे अलङ्कार को बडा विस्तृत स्थान दिया।

वक्रोक्ति कई अर्थो मे प्रयुक्त है, आनन्द देने वाली उक्ति, क्रीडालाप या परिहास-जल्पित और अस्वभावोक्ति। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का वक्रोक्ति से अभिप्राय भणित-भङ्गी अर्थात् कहने के निराले ढङ्ग से है। वक्रोक्ति भाषण का वह विचित्र ढङ्ग है जो साधारण वास्तविक ढङ्ग से भिन्न होता है। इसका आधार प्राय श्लेष होता है। कुन्तक वक्रोक्ति को कविता का प्राण मानता है, 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्। उसका कहना है —

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ॥

"सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्यमर्मज्ञो के आह्लादजनक और वक्रतामय कवि व्यापार से पूर्ण रचना, बन्ध मे विन्यस्त हो तभी काव्य हो सकता है।" वक्रोक्ति का काव्य की दो विशेषताओ पर जोर है कि कविता मे, गोकि शब्द साधारण व्यवहार के होते है, शब्दो की छाँट साधारण बोली की छाँट से भिन्न होती है, कि वक्रोक्ति मे वस्तुओ और शब्दो का विन्यास ऐसा होता है, जो साधारण व्यवहारव्यस्त मनुष्यो की पहुँच से बाहर होता है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह ने की है। भामह का कहना है कि वक्रोक्ति सब अलङ्कारो को सुशोभित करती है। परन्तु वक्रोक्ति को व्यापक साहित्यिक रूप मे विकसित करना कुन्तक ही की विशेषता है। वास्तव मे वक्रोक्ति अलङ्कार मत की एक शाखा है और उसका स्वतन्त्र प्रतिपादन अनावश्यक है।

काव्य का अदोष होना जरूरी है। दोष वही है जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। परम्परा से शब्द मे भी अभिप्रेतार्थ निहित माना गया है, वाच्यार्थ की उत्कर्षता के अभिप्राय से अर्थ मुख्य हो जाता है, जब रस भाव आदि मे चमत्कार अभिप्रेत होता है, तो, रस भाव आदि मुख्यार्थ हो जाते हैं। अत काव्य में तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं, शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। दोष त्याज्य हैं क्योकि इनसे मुख्यार्थ की अविलम्ब प्रतीति मे बाधा पडती है। ऐसे शब्द जो सुनने मे कटु हो, जो व्याकरण के नियमो के विरुद्ध हो, असमर्थ हो, अप्रयुक्त हो, अश्लील हो, क्लिष्ट हों, हतवृत्त हों, भग्नक्रम हो,

तथा प्रसिद्धि त्याग हो, शब्द-दोष लाते है। अपुष्ट, व्याहत, कष्टार्थ, पुनरुक्त, दु क्रम, ग्राम्य, निर्हेतु, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, साकाक्ष, अपदयुक्त, सहचर-भिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, निर्मुक्तपुनरुक्त और अश्लील—ये अर्थ-दोष है। रस का शब्दत उल्लेख करना, विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना, वर्णनीय रम के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन, रस की पुन -पुन दीप्ति, प्रस्तुत रस को छोड कर अप्रस्तुत रम का विस्तार, प्रधान रस को छोड कर दूसरे रस का विस्तृत वर्णन, प्रतिपाद्य रस की विस्मृति, असङ्गत रस का वर्णन और नायक की प्रकृति के विपरीत नायक का वर्णन—इनसे रस-दोष आता है।

काव्य के प्राचीन सिद्धान्तो का यह सक्षिप्त निरूपण है। इन्ही सिद्धान्तो से काव्य की समीक्षा होती थी। जैसा ढङ्ग प्राचीन ग्रीस और रोम मे था, वही भारत मे भी था। पश्चिम मे अलङ्कारशास्त्रो की भरमार थी। वहाँ कवियो और लेखको की अलङ्कारो और काव्यगुणो के निदर्शनार्थ उद्धृत किया जाता था। कृतियो अथवा लेखको की अलग से किसी दूसरी समग्र कृति मे परीक्षा नही की जाती थी। यही प्रणाली सस्कृत आलोचना की थी। अलङ्कारशास्त्रकार जिस कवि को श्रेष्ठ समझता था उससे काव्यगुणो के स्पष्टीकरण मे अवतरण देता था और जिस कवि को अश्रेष्ठ समझता था उससे अवतरण लेकर दोषो का स्पष्टीकरण करता था। कृतियो अथवा लेखको पर स्वतन्त्र आलोचनात्मक लेख लिखने की चाल सस्कृत मे भी नही थी। प्रसिद्ध कवियो की स्तुति मे दो-एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ ही मूर्त्तालोचना के उदाहरण हैं।

हिन्दी मे आलोचना गुणदोष-विवेचन के रूप मे प्रकट हुई। बद्रीनारायण चौधरी ने 'सयोगिता स्वयवर' के दोषो का बडी बारीकी से उद्घाटन किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पहले पहल एक स्वतन्त्र आलोचनात्मक ग्रन्थ 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' लिखा। यह पुस्तक ड्राइडन के अनवादविषयक आलोचनात्मक लेखो की बराबरी नही कर सकती। यह भाषा की त्रुटियाँ और मूलभाव के विपर्यय बताने तक ही सीमित है। द्विवेदी जी की दूसरी पुस्तको मे भी गुणदोषो की चर्चा ही है। मिश्रबन्धुओ के 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ ने आलोचना को तुलनात्मक वृत्ति दी। देव और विहारी की तुलनात्मक परीक्षा से पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, और लाला भगवानदीन उत्तेजित हुए, जिन्होने बडी विद्वत्ता से देव और विहारी के बडप्पन के प्रश्न की समीक्षा की। ये सब आलोचक रूढि के अनुगामी थे। कवियो की विशेषताओ के अन्वेषण और उनकी अन्त प्रकृति के विश्लेषण की ओर उनका ध्यान नही गया। अब हिन्दी का महत्त्व बढने के कारण आलोचको की दृष्टि इस ओर जा रही है। रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास,' डॉ० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' और डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास' उदाहरणीय है। ऐतिहासिक कालो से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके उनकी विशेषताएँ स्पष्ट करने का कार्य भी होने लगा है। इस दिशा मे भी डॉक्ट्रेट के प्रबन्धों के रूप मे पुस्तके निकल रही है, जैसे डॉ० पीताम्बर की 'हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा', डो० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०–१९००)', और डॉ० श्रीकृष्ण लाल की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

(१६००–१६२५) ।' आलोचना का विषय उन सिद्धान्तो की समीक्षा और प्रतिपादन भी है जिनसे काव्यरचना की सिद्धि होती है । इस विषय मे हिन्दी की आलोचना मुख्यत बाहर का सहारा लेती हे । आलोचक या तो सस्कृत अलङ्कारशास्त्रो की या पश्चिम के आलोनात्मक सिद्धान्तो की व्याख्या कर देते हे और ऐसे सिद्धान्तो के नेतृत्व मे हिन्दी साहित्य की आलोचना करते है । कभी-कभी वे पश्चिम के सिद्धान्तो से सस्कृत के सिद्धान्तो का साहचर्य दिखा देते है । इस दिशा मे श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, रामदहिन मिश्र, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा, और बलदेव उपाध्याय का प्रयास उल्लेखनीय है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य की समीक्षा भारतीय इतिहास और सस्कृति से प्रेरित है ।

प्राच्य आलोचना मे काव्य समीक्षा का सर्वोच्च मानदण्ड रसोत्पादन है । रस भाव से निष्पन्न होता है जब भाव कल्पनात्मक मनन का विषय बन जाता है। भाव की आधारशिला व पृष्ठभूमि, जो मानव जीवन और प्रकृति है, पर सस्कृत आलोचको का कम ध्यान गया है । जीवन और प्रकृति की किस विशेषता से साहित्यिक गाम्भीर्य, उदात्तता और व्यापकता आती है, इसकी समीक्षा पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना मे भी हाल ही की है । आधुनिककाल मे साहित्यक आलोचना को जीवन और अस्तित्व की दार्शनिक आलोचना से सम्बन्धित किया जाता हे । उन्नीसवी शताब्दी के पिछले अर्द्ध के उपन्यासो मे विकासवादी सिद्धान्त के प्रकाश मे जीवन का अध्ययन किया गया है । इस शताब्दी के शुरू के नाटको मे रचनात्मक विकास के सिद्धान्त को जीवन से उपयुक्त कर उसका आनन्दमय और शक्तिशाली सम्भाव्य दिखाया गया हे और अब कविता मे अनेकान्तिक सिद्धान्त से जीवन की व्याख्या की जा रही है । आलोचना भी इन सिद्धान्तो की और उनका जीवन सम्बन्धी उपयुक्तता की समीक्षा करता है । प्राचीन आलोचना, पाश्चात्य और प्राच्य दोनो ही, अधिकाश मे कलापक्ष लेता है, भावपक्ष बहुत कम लेता है, और प्राच्य आलोचना तो ऐसी आलोचना को छोडकर जो पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित है अभी तक अलङ्कारशास्त्र-विषयक चला जा रहा है । इसका एक कारण तो प्राच्य आलोचना का रस-सिद्धान्त से शुरू होना मालूम होता है । रस-सिद्धान्त साहित्य की सृष्टि और उसके प्रयोजन के मूलतत्त्व तक पहुँच जाता है और उसमे साहित्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनो का पूर्ण समन्वय है । परन्तु, जबकि कलापक्ष का विश्लेषण ध्वनि, रीति, गुण, और अलङ्कार विचारो मे आ जाता है, भावपक्ष का विश्लेषण छूट सा ही जाता है । इस छूट का कारण यह हो सकता है कि यहाँ रचनाओ और लेखको पर स्वतन्त्र किताबे लिखने की प्रथा न थी । रचनाओ की विषयवस्तु की समीक्षा भाष्यकारो और टीकाकारो के लिये छोड दी जाती थी । दूसरा कारण यह मालूम होता हे कि आधुनिक ज्ञान की दशा जो योरुप मे सोलहवी और सत्तरहवी शताब्दियो मे थी, वह हमारे देश मे उन्नीसवी शताब्दी मे हुई । दार्शनिक विचारशीलता की जागृति, वैज्ञानिक प्रगति का अध्ययन और इनके और प्रजातन्त्रवाद के कारण व्यक्ति की चेतना—इधर ये हाल ही की बाते है ।

फलत जैसे मध्यकालीन पश्चिम मे विचारधारा सामूहिक थी वैसे ही यहाँ थी। मनुष्य जीवन के सब क्षेत्रो मे रूढियो का दास था। साहित्यकार भी रचना को रीति, गुण, अलङ्कार और निर्दोषता का यान्त्रिक व्यापार समझता था। रीति काव्य का प्राधान्य इस बात का सबूत है। सार यह है कि सस्कृत के प्राचीन आलोचनात्मक मानदण्ड अभिव्यञ्जना सम्बन्धी थे और उन्हे हम एस्थैटिक मानते है और हिन्दी के आलोचनात्मक मानदण्ड कुछ समय पहले तक ज्यादातर शास्त्रीय थे क्योकि वे प्राचीन अलङ्कारशास्त्रो का अवलम्बन लेते थे। हाल मे प्रगतिवादी आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की समीक्षा की ओर पूरी तरह से झुके है।

पाश्चात्य आलोचना, जिसका दिग्दर्शन हम प्राच्य आलोचना से ऊपर दे चुके है, के मानदण्डो का साधारणीकरण करने पर हमे तीन वर्ग के मानदण्ड मिलते हे—शास्त्रीय, कलामीमासा-विषयक और विषयवस्तुविषयक। अगले भागो मे हम इन्ही तीन प्रकार के मानदण्डो और उनके आधारभूत सिद्धान्तो की परीक्षा करेगे।

२

प्रतिभा अपने प्रति विस्मय भाव ही जागृत नही करती, वरन् मनुष्यो को अनुगमन के लिए विवश करती है। होमर, एसकीलीज, सौफोक्लीज, वर्जिल, डाण्टे, शेक्सपिअर, मिल्टन, गटे, और इब्सन की कृतियाँ इतनी उच्चकोटि की है कि पीछे से आने वाले लेखक अपने क्षेत्रो मे इन्ही कृतियो का ठीक-ठीक अनुकरण करने से सन्तुष्ट रहे हे। जैसा ऊपर कहे हुए नामो से प्रगट होता है, प्रतिभा का आविर्भाव किसी विशिष्ट देश अथवा काल मे बद्ध नही है। फिर भी पुनरुत्थान काल मे और बहुत वर्षो तक उसके पश्चात् भी यहा विश्वास साधारण रूप से प्रचलित था कि प्रतिभा प्राचीन ग्रीस और रोम ही की विशेषता थी। जीवन के दूसरे क्षेत्रो के सदृश साहित्य मे भी यह माना जाता था कि उनकी रचनाओ का मुकाबिला करना बाद के रचयिताओ के लिए असम्भव था, विशेषतया महाकाव्य या नाटक, भाषणकला, कुत्सन (सैटायर) और ग्राम्यगीतो मे। काव्यात्मक विधान मे वे चरम सीमा को पहुँचे हुए समझे जाते थे। आधुनिक लेखक तभी सच्चे साहित्यकार कहे जाते थे, जब वे प्राचीन कृतियो का अनुकरण करते थे अथवा उनके अनुरूप लिखते थे। इस प्रकार पुनरुत्थान ने उस शास्त्रीय मत की स्थापना की जिसका समर्थन आलोचको ने निरन्तर किया और जिसके नियमो का पालन कई शताब्दियो तक लेखको ने बडे उत्साह से किया।

शास्त्रीय मत के प्रति दृढ श्रद्धा का एक अव्यवहित कारण था। वह था मध्यकालीन साहित्य और साहित्यकारो की उपेक्षा। यह उपेक्षा कभी-कभी बुरी घृणा का रूप धारण कर लेती थी और आलोचना के लिए यह बडे दुर्भाग्य की बात साबित हुई। मध्यकाल अपने ढङ्ग मे बडा महत्त्वपूर्ण था। सेण्ट्सबरी भिन्न-भिन्न युगो के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यूनानी विचार शैली के सद्धान्तिक और दार्शनिक होने के

कारण यूनानी साहित्य का विशिष्ट गुण घनीभूत हो गया है, परन्तु उसका घेरा सङ्कुचित और उसका रूप स्थिर हो गया है। रोम के साहित्य को श्रेष्ठता न पाने के दो कारण थे, एक तो उनकी यूनानी साहित्य का अनुकरण करने की वृत्ति और दूसरा उनकी प्रतिभा का व्यवहार सिद्ध होना। आधुनिक साहित्य आवश्यकता से अधिक अध्ययनशील है, उस पर पुस्तकालय और मुद्रित पृष्ठ का दृढाग्रह है, वह समझे जाने के लिए असाधारण बुद्धि और परिश्रम चाहता है। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन साहित्य एकदम ताजा और मौलिक है। मध्यकालीन लेखक किसी विशिष्ट मत अथवा वर्ग का होता हुआ भी नियन्त्रण के अन्दर लिखना पसन्द नही करता। उसकी कल्पना स्वेच्छानुसार भ्रमण करती है। अपनी मूलप्रवृत्ति के अनुसार क्रियाशील होने के फलस्वरूप उसने ससार के साहित्य-राशि मे वृद्धि की। उसने कथानक की रचना की, जिसके अलौकिकता और प्रेमावेश दो मुख्य प्रेरक थे। उसने रोमास की रचना की, जिसमे लेखक का विपय धर्म से लेकर हिरन के शिकार तक और इतिहास से लेकर प्रेम तक कुछ भी हो सकता था, जिसमे लेखक न कृत्य की, न सङ्कलन की और न घटनीयता की परवाह करता था। उसने ग्राम्यगीत और छोटी-छोटी कहानियो की रचना की। उसने धार्मिक नाटक की रचना की, जिसमे न वस्तु-सङ्कलन था, क्योकि उसका विषय मनुष्य जाति का आदि से लेकर अन्त तक का समस्त इतिहास था, और न काल-सङ्कलन और न स्थल-सङ्कलन था। इन सब रचनाओ के रूप मे मध्यकाल ने आलोचनात्मक विभिन्नताओ की एक नई गणनारीति प्रदान की। यदि पुनरुत्थान का आलोचक अरिस्टॉटल, हौरेस, क्विण्टीलियन और लॉन्जायनस के ज्ञान के साथ-साथ मध्यकाल के सञ्चित साहित्य का उपयोग करता तो वह आलोचना को एक ऐसा निर्देश देने मे सफल होता जिससे साहित्य-सृष्टि मे सच्ची प्रगति सम्भव होती। परन्तु पुनरुत्थान का धर्म प्रोटैस्टैण्ट था, उनकी अध्यात्मविद्या स्वतन्त्र थी और उनकी राजनीति प्रजातन्त्रवादी थी, और मध्यकाल का धर्म कैथलिक था, उनकी तत्त्वविद्या आडम्बरप्रिय थी, और उनकी राजनीति शिष्टजनसत्तात्मक थी। स्वभावत पुनरुत्थान ने मध्यकाल की उपेक्षा की और इसी कारण साहित्य क्षेत्र मे सब कुछ होते हुए भी उसने प्राचीन ग्रीस और रोम का नेतृत्व स्वीकार कर प्रगति की घडी को एक हजार वर्ष पीछे हटा दिया। यदि पुनरुत्थान का आलोचक मध्यकाल की उपेक्षा न रता और उस काल के साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करता तो वह साहित्य को तब ही उस दशा मे पा सकता था जो दशा उसकी उन्नीसवी शताब्दी मे थी। वह उत्कृष्ट साहित्य जो पुनरुत्थान और नव शास्त्रीय काल मे लिखा गया उन समयो के नियमो के विरुद्ध लिखा गया था। साधारणत लेखको ने बडी नम्रता से उन नियमो को ग्रहण किया जिनका आविष्कार अरिस्टॉटल ने किया था और जिनकी व्याख्या उसके इटलीवाले पुनरुत्थान के आलोचको ने की थी, और उन नियमो को भी ग्रहण किया जिन्हे अरिस्टॉटल के आधार पर हौरेस ने परिभाषित किया था।

शास्त्रीय वृत्ति का विकास तीन कारणो से हुआ—मानववाद अथवा प्राचीन

उत्कृष्ट कृतियो का अनुकरण, अरिस्टॉटलवाद अथवा अरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' का प्रभाव और तर्कप्राधान्यवाद अथवा तर्कप्रमाण का शासन। मानववाद ग्रीस और रोम की सम्पन्न मानवता का अध्ययन था, इस उद्देश्य से कि मानववृत्ति को फिर से उन शोभाओ से सुसज्जित किया जाय जो प्राचीन युग के मान का कारण थी। मानववाद चार अवस्थाओ मे से निकला। पहली अवस्था मे प्राचीन रचनाओ की खोज और उनका सग्रह किया गया, दूसरी अवस्था मे इकट्ठी की गई रचनाओ का वर्गीकरण और उनका अनुवाद किया गया, तीसरी अवस्था मे ऐसी एकैडैमीज़ की स्थापना हुई जिनमे प्राचीन रचनाओ का अध्ययन हुआ, जिनमे उस नवीन वृत्ति पर व्याख्यान हुए जिसका जागरण प्राचीन रचनाओ के अध्ययन द्वारा हुआ था—उस वृत्ति पर जिसके द्वारा मनुष्य को अपने व्यक्तिगत मूल्य की चेतना हुई और जिसके द्वारा मध्यकालीन शून्यता और स्वमताभिमान से मुक्ति पाकर उसने जीवन और प्रकृति के रहस्यो को नये ढङ्ग से समझा। चौथी अवस्था मे उस काव्यमीमासा विषयक और वृत्यात्मक पाण्डित्य का अभ्यास हुआ जिसकी बुनियाद प्राचीन रचनाओ के अध्ययन ने डाली। प्राचीन रचनाओ के गम्भीर अभ्ययन से ही शास्त्रीय अनुकरण की परम्परा चल पडी और इस परम्परा ने साहित्यालोचन को कई तरह प्रभावित किया। पहला प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओ के अनुकरण ने आलोचको का ध्यान कृति के बाह्य रूप के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। अङ्ग-सस्थापन, आकृतिक ऐक्य, शाब्दिक चमत्कार, पदविन्यास की पटुता, और ऐसी शब्द-योजना जिससे अर्थ व्यञ्जित हो—ये सब बाते अपने ही हेतु अध्ययन योग्य बन गई। विडा ने ध्वन्यनुकरण के नियमो का विधान किया, टौलौमी ने प्राचीन छन्दो की उपयुक्तता का अध्ययन किया, कैस्टलवीट्रो ने औचित्य और रङ्गमञ्चीय सत्याभास के नियमो की स्थापना की, तथा काल और देश सङ्कलन पर इतना जोर दिया कि उन्हे वस्तु-सङ्कलन से भी उच्चपदस्थ कर दिया। दूसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओ के अनुकरण ने पुनरुत्थान की कविता को असस्कृत विशेषता दे दी। इसका कारण प्रतिमापूजक यूनानियो के देवताओ का आवाहन था, जिसकी आवश्यकता यो पडती थी कि ईसाई ईश्वर का आवाहन कविता मे पावित्र्यदूषक समझा जाता था। तीसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओ के अनुकरण ने प्रयुक्त अथवा मूर्त्त आलोचना का रिवाज बढा दिया, क्योकि अनुकरण का सिद्धान्त आलोचको को यह सिद्ध करने के लिये मजबूर करता था कि अमुक लेखक अनुकरण किये जाने योग्य है और अमुक लेखक नहीं है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्हे लेखको का स्वतन्त्र और तुलनात्मक अध्ययन करना पडता था। चौथा प्रभाव यह था कि शास्त्रीय अनुकरण को काव्यात्मक रचना का स्रोत माने जाने के कारण कला और प्रकृति के सम्बन्ध मे परिवर्तन होने लगा, कम से कम उस हद तक जिस तक कि रचना और उसकी आलोचना का सरोकार है। यह परिवर्तन धीरे-धीरे आया। विडा ने प्रकृति के अनुकरण की प्राचीन लेखको के प्रमाण पर सलाह दी, उसने कहा कि प्राचीन लेखक अपनी रचनाओ मे प्रकृति के सत्य

मे नही हटते थे। स्कैलीगर ने लेखको को वर्जिल के अनुकरण की सलाह दी, उसका कहना था कि वर्जिल ने अपनी रचनाओ मे प्रकृति को और अधिक पूर्ण कर दिखाया है। पोप ने कवियो को सलाह दी कि वे प्राचीन नियमो का अनुकरण करे, उसका कहना था कि प्राचीन नियम व्यवस्थित प्रकृति है और उनका अनुकरण करना और प्रकृति का अनुकरण करना एक ही बात है। अरिस्टॉटलवाद जो कि शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का दूसरा कारण था, उसका सूत्रपात सन् १५३६ ईसवी मे हुआ, जब कि पैजी ने 'पोयटिक्स' का लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया। इसके पीछे सन् १५४८ ईसवी मे रौबर्टैली का आलोचनात्मक सस्करण आया, और इसकेपीछे सन् १५५० ईसवी मे मैगी का सस्करण आया। अनुवादो और टीकाओ की सख्या बढती ही गई, यहाँ तक कि यूरोप भर मे साहित्य के साम्राज्य पर अरिस्टॉटल का एकाधिपत्य व्यापक रूप से जम गया। इङ्गलैण्ड मे भी अरिस्टॉटल का आधिपत्य सर्वमान्य था। सिडनी, बैन जौन्सन, ड्राइडन, पोप, एडीसन, और जॉन्सन सभी उसकी वेदना करते थे। अरिस्टॉटलवाद के प्रसार के फलस्वरूप कविता का आक्षेपो के विरुद्ध दार्शनिक बचाव सुगम हुआ, और महाकाव्य तथा नाटक की रचना के लिये साहित्यालोचन को सर्वाङ्गी नियमो की प्राप्ति हुई। तर्कप्राधान्यवाद शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का तीसरा कारण था और भौतिक विज्ञानो और अनुभवमूलक दर्शनो के साथ-साथ उन्नत हुआ। विडा, स्कैलीगर, बोयलो, ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन शपथ खाकर कहते थे कि तर्क ही सब बातो का अन्तिम निर्णायक है। तर्कप्राधान्यवाद के कारण ही हौरेस को जिसका आदर्श सदाशय था, नवशास्त्रीय काल मे अरिस्टॉटल से अधिक ऊँचा समझा जाता था। तर्कप्राधान्यवाद की वृत्ति ने सब प्रकार की उच्छृङ्खलता की उपेक्षा की। इसी वृत्ति ने कवियो को अपनी कल्पना और सवेदनशीलता की अभिव्यञ्जना को सयत करना सिखाया और यही वृत्ति इस विश्वास की उत्तरदायी हुई कि क्रम, सुडौलता, और नियमबद्धता कला की उच्चतम आवश्यकताएँ है, कि दुर्बोधता, प्राचुर्य, और उत्केन्द्रता शास्त्रीय सम्पूर्णता के विरुद्ध है।

शास्त्रीय लेखक अपने काव्यात्मक मूल्य बाहर से ग्रहण करता है, उन साहित्यिक रचनाओ से ग्रहण करता है जिन्हे ससार चमत्कारयुक्त घोषित करता है। पुनरुत्थान काल के लेखक के लिये ऐसी रचनाएँ प्राचीन ग्रीस और रोम की थी। महाकाव्य रचना मे यूनानियो के बीच होमर और रोमियो के बीच वर्जिल और नाटक रचना मे यूनानियो के बीच एस्कीलस, सौफोक्लीज और यूरोपिडीज और रोमियो के बीच प्लौटस और टैरेन्स सर्वोच्च श्रेणी के साहित्यकार माने जाते थे। उनकी कृतियाँ नमूनो की तरह मानी जाती थी। महाकाव्य की परिभाषा ही ऐसा काव्य था जो 'इलियड' के अनुरूप लिखा गया हो। 'इलियड' और 'औडिसी' ने यूनानियो के राष्ट्रीय अभियान को उत्तेजना दी, 'एनीड' ने रोमियो का उद्गम वीर एनीज से वर्णित कर उनके जातीय अभिमान को उत्तेजना दी, 'इलियड' मे ट्रोय के युद्ध का वर्णन है और 'औडिसी' मे यूलीसिस के

साहसिक भ्रमणो का, 'एनीड' मे युद्ध और भ्रम्ण दोनो सम्मिलित है, इलियड' मे यूनानी और ट्रोय की सेनाओ की सूची है, 'एनीड' ऐसी ही सूची लैटियम की सेनाओ की देती हैं, 'इलियड' मे एकीलीज की उस ढाल का वर्णन है जिसे हिफैस्टस ने उसकी माँ थैटिस के कहने से बनाया था, 'एनीड' मे उस ढाल का वर्णन है जो वीनस ने अपने पुत्र एनीज के लिए सुरक्षित किया था, 'इलियड' मे प्रोक्लस के सम्मान मे अनन्य क्रिया-विषयक खेल वर्णित है, 'एनीड' मे एन्काइजैज के सम्मान मे, 'औडिसी' मे यूलीसीज के कैलिप्सो के साथ ठहरने का हाल है और साइक्लोप्स, सर्सी, सिला कैरिब्डीज के साथ उसके अनुभवो का, 'एनीड' मे डायडो के साथ एनीज के ठहरने का हाल है और सिला, कैरिब्डीज और साइक्लोप्स के साथ उसके अनुभवो का, 'औडिसी' मे यूलीसीज के नैरक गमन का सङ्केत है, 'एनीड' मे एनीज के यमलोकगमन का सङ्केत है। वर्जिल ने होमर का रचनाकौशल मे भी अनुकरण किया है। दोनो कवि अपने महाकाव्यो को कथावस्तु के सूक्ष्म विवरण से और काव्यदेवी के आह्वान से प्रारम्भ करते है। दोनो कवि लम्बी-लम्बी उपमाएँ देते है। दोनो कवि कार्य-व्यापार मे एकदम प्रवेश कर जाते है और पूर्व घटनाओ का हाल बाद मे देते है, वर्जिल एनीज को अपनी पूर्व घटनाओ के वर्णन करने का अवसर डायडो के सामने देता है जैसे होमर यूलीसीज को अपनी पूर्व घटनाओ के वर्णन करने का अवसर एल्कीनस के दरबार मे देता है। दोनो कवि अलौकिक पात्रो का प्रयोग करते हैं, जो मनुष्यो को अपने पूरे नियन्त्रण मे रखते है। परन्तु वर्जिल ने एक नवीनता दिखलाई, जब कि होमर का प्रत्येक काव्य चौबीस सर्गों मे बँटा हुआ था, 'एनीड' बारह सर्गों मे बाँटा गया। पुनरुत्थान-काल से 'एनीड' ही नमूने का महाकाव्य हो गया। करुण का नमूना इतना एस्कीलीज, सौफोक्लीज और यूरोपिडीज से नही आया जितना कि सैनेका से जिस पर उनका पूरा प्रभाव था, और हास्य का नमूना प्लौटस और टैरैन्स से आया। सैनेका का करुण का आधार पौराणिक इतिहास था। मुख्य पात्र देवता और महावीर होते थे, और अपराध तथा दण्ड कार्य की प्रधान विशेषताएँ होती थी। जहाँ कही जल्दी-जल्दी प्रश्नोत्तर होते थे ऐसे स्थलो को छोड कर कार्यगति बहुधा-मन्द ही होती थी। कथन विस्तृत होते थे और उत्कृष्ट शैली मे कहे जाते थे। हमेशा गायक-गण का प्रवेश होता था, जो कार्य के पाठ को अपनी नैतिक और दार्शनिक टीकाओ से अथवा ऐसे गीतात्मक उद्गारो से जो दर्शको के अर्धनिर्मित व अस्पष्ट भावो को व्यक्त करते थे, सुसज्जित करते थे। प्लौटस और टैरैन्स का करुण यथार्थवादी था। उसका उद्देश्य चरित्र की उत्केन्द्रताओ और सामाजिक शिष्टाचार के लङ्घन के प्रति हँसी लाना होता था। रीति अतिशयोक्ति की होती थी और चित्रण अनन्तवर्गीय होता था।

शास्त्रीय लेखक अपना नेतृत्व अरिस्टॉटल और हौरेस से पाता है। पुनरुत्थान-काल मे अरिस्टॉटल को हौरेस से अधिक अधिकार प्राप्त था। उसके नियम उसकी 'पोइटिक्स' मे दिये हैं। महाकाव्य, करुण, हास्य, गीतिकाव्य, मुरली बजाना, वीणा बजाना —ये सब अनुकरण की रीतियाँ है। वे एक-दूसरे से तीन ढङ्ग मे पृथक् हैं, या तो अनुकरण के

साधन मे, या अनुकरण की वस्तु मे, या अनुकरण की रीति मे। लयबद्धता और सुस्वरत्व मुरली बजा कर अनुकरण के साधन है, अकेली लयबद्धता नृत्यात्मक अनुकरण के साधन है, छन्द और भाषा काव्यात्मक अनुकरण के साधन है। छन्द, काव्य के लिये अनिवार्य नही है। यदि वैद्यक और भौतिक दर्शन छन्द मे लिखे जाये, तो वे काव्यात्मक नही हो सकते। महाकाव्य, करुण, भजन, और प्रशसा गान मे अनुकरण की वस्तु उत्तम जीवन होती है, शिक्षाप्रद काव्य मे मध्यम श्रेणी के जीवन का अनुकरण होता है, और कुत्सन, हास्योदीपक काव्य, और हास्य मे निम्न श्रेणी का जीवन होता है। अनुकरण करने की तीन रीतियाँ है—कोई कभी कथात्मक रीति मे और कभी दूसरे का रूप धारण करके अनुकरण करे, जैसे होमर करता है, कोई निरन्तर कथात्मक रहा आये और कही किसी और के रूप मे कुछ न कहे, या अनुकरण करने वाली किसी कथा का चित्रण रूपक की तरह करे, मानो कि वे स्वय उन बातो को कर रहे हो जो वर्णन के विषय है। कविता का स्रोत दो मूल प्रवृत्तियो मे है, अनुकरण करने की, और लय तथा एक तान की। भजन और प्रशसागान मे महाकाव्य का उद्गम है, ताण्डव-गीत मे करुण का और लिङ्गोपासना विषयक गीतो मे हास्य का उद्गम है। करुण के अभिनय मे पहले एक नट होता था, एस्कीलीज ने एक नट और बढा दिया, और सौफोक्लीज ने एक और नट और रङ्गसज्जा का प्रयोग किया। धीरे-धीरे करुण आकार और गम्भीरवृत्ति मे भी बढा। सामान्य पुरुषो से बुरे पुरुषो का अनुकरण हास्य है, बुरे, सब प्रकार के दोषो के ख्याल से नही, वरन् एक प्रकार के दोष के ख्याल से, उपहास्य, जिसे कुरूपता का एक विकार कह सकते है। उपहास्य ऐसे दोष या वैरूप्य को कहते है जो दूसरो को दुख अथवा हानि न दे, उदाहरणार्थ मुखावरण उपहास्य है क्योकि उससे हँसी उठती है, वह किसी को दुख नही देता। महाकाव्य और करुण मे तीन अन्तर है। पहले, महाकाव्य के पद षड्गणात्मक होते है और उसकी रीति कथात्मक होती है। दूसरे, महाकाव्य का विस्तार करुण के विस्तार से कही अधिक होता है, कारण यह है कि महाकाव्य के कार्यव्यापार का कोई नियत समय नही होना, इसके विपरीत करुण का समय सूर्य के एक फेरे से सीमित होता है या सूर्य के एक फेरे के समय के लगभग। काल सङ्कलन का अरिस्टॉटल, यही अकेला उल्लेख है। पुनरुत्थान के कुछ भाष्यकारो ने सूर्य के एक फेरे से चौबीस घण्टे के दिन का अर्थ लगाया और कुछ भाष्यकारो ने बारह घण्टे के दिन का अर्थ लगाया। किसी नाटक मे जितनी घटनाएँ हो वे सब चौबीस घण्टो मे अथवा बारह घण्टो मे समाप्त हो जाये। इस समस्या पर वादविवाद के परिणाम मे शास्त्रीय आलोचको ने यह निश्चित किया कि किसी नाटक की समस्त घटनाओ का समय उतना ही होना चाहिये जितना कि उस नाटक के रङ्गमञ्च पर अभिनय का। स्थल-सङ्कलन का अरिस्टॉटल मे कोई उल्लेख नही है। उसका प्रतिपादन पहले पहल इटली के आलोचक ट्रिसिनो ने किया था। तीसरे वे अपने घटकावयव की सख्या मे एक दूसरे से भिन्न है, कुछ अवयव तो दोनो मे एक से होते है और कुछ करुण की विशेषताएँ है—इसी कारण करुण का आलोचक महाकाव्य

का भी आलोचक होता है। करुण की परिभाषा अरिस्टॉटल इस प्रकार करता है—"करुण ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर हो, जिसकी उपयुक्त आकृति हो और जो अपने मे पूर्ण हो, ऐसी भाषा मे जिसमे कई प्रकार की आनन्ददायक विभिन्नता हो, प्रत्येक विभिन्नता (पात्रो की सस्कृति और विषय की विशेषता के अनुसार) ठीक समय पर प्रदर्शित हो, रूपक की रीति मे, कथात्मक रीति मे नही, ऐसी घटनाओ से जो शोक और भय के भावो को उत्तेजित करके उनका शोध करे।" इस परिभाषा के अनुसार करुण के नियम इस प्रकरण के पहले भाग मे दिये जा चुके है। पीछे से अरिस्टॉटल महाकाव्य और करुण की तुलना करता है। महाकाव्य की कथा भी सरल अथवा असरल हो सकती है, वह भी दु खमय हो सकती है अथवा उसमे भी चरित्र-चित्रण हो सकता है, उसके भाग भी सङ्गीत और नाट्य-सम्बन्धी प्रदर्शन के अतिरिक्त एक से ही है, और उसकी भाषा और विचार भी उत्कृष्ट शैली मे होते है। बम, अन्तर विस्तार, वृत्त और अलौकिकता के प्रयोग का है। अलौकिकता करुण मे भी इस्तेमाल होती है, परन्तु उसका इस्तेमाल महाकाव्य मे अधिक मात्रा मे हो सकता है। अलौकिकता का प्रयोग इस ढङ्ग से करना चाहिये कि वह लौकिक मालूम पडे। करुण को अरिस्टॉटल महाकाव्य से अधिक श्रेष्ठ समझता है, क्योकि वह सङ्गीत और अभिनय के अवयवो के कारण ज्यादा पेचीदा है, क्योकि वह रङ्गमञ्च पर खेले जाने के कारण ज्यादा स्पष्ट होता है और उसके पढने मे भी स्पष्टता को अधिक अनुभूति होती है, क्योकि करुण थोडे विस्तार मे ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है, क्योकि करुण मे महाकाव्य के देखते हुए अधिक ऐक्य होता है। हौरेस के नियम और पुनरुत्थान और नवशास्त्रीयकाल के नियम जो अरिस्टॉटल और हौरेस के आधार पर निर्मित हुए थे, हम पहले ही दे चुके हैं।

शास्त्रीय आलोचना के बडे अच्छे उदाहरण एलीजबैथ के काल की आलोचना मे मिलते है। इस काल की आलोचना की चार समस्याएँ थी—भाषा सुधार, छन्द सुधार, कविता का आक्रमणो से बचाव, और तुक का बचाव। चारो समस्याओ के हल करने मे एक न एक पक्ष ने शास्त्रीय प्रमाणो का सहारा लिया। भाषा के सुधारक दो वर्गों मे विभक्त थे—शुद्धनिष्ठ और पूर्णसुधारनिष्ठ। शुद्धनिष्ठ वर्ग के सुधारक स्थितिपालक और हर एक तरह की नवीनता के बैरी थे, वे अपनी भाषा के स्रोतो को ही काम मे लाकर अपनी भाषा का विकास करना चाहते थे। इस वर्ग मे एस्कम, विल्सन, चीक और पटनहम थे। पूर्णसुधारनिष्ठ वर्ग सब प्रकार की नवीनता के पक्ष मे था, विशेषतया नये शब्द गढने की स्वतन्त्रता के और वैदेशिक भाषाओ से वृहद् परिमाण मे शब्द ले लेने के। इस वर्ग मे सर टोमस इलियट, जोर्ज पैटी, और टॉमस नैश थे। अन्त मे एक समझौता हुआ जिसके द्वारा वैदेशिक शब्दो का पर्याप्त मात्रा मे ले लेना स्वीकार हुआ और ग्रीक तथा लैटिन भाषाओ को अंग्रेजी भाषा ने शिक्षक और नमूना माना। इस समझौते मे विल्सन और चीक ने भी साथ दिया और जैस्कोइन और स्पैन्सर ने उनका समर्थन किया।

यही समस्या आज कल हिन्दी के सामने पेश है। जैसे हिन्दी अपना मूल स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश मानती है वेसे ही अंग्रेजी अपना मूलस्रोत ओल्ड इङ्गलिश और मिडिल इङ्गलिश को मानती थी। जैसे अंग्रेजी के सुधारक अपनी भाषा के सुधार के लिए ओल्ड और मिडिल इङ्गलिश से बाहर नही जाना चाहते थे वैसे ही हिन्दी के सुधारक भी अपनी भाषा के सुधार के लिए सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श से बाहर नही जाना चाहते। हिन्दी के बहुत से भाषा सुधारक उर्दू, फारसी और दूसरी वैदेशिक भाषाओ से शब्द नही लेना चाहते है। यह बडी भूल है। भाषा तब तक समृद्धिशाली नही हो सकती जब तक वह सब तरफ से आये हुए शब्दो को अपने प्रयोग मे लाने की समता न दिखाये। भाषा व्यापार ही एक ऐसा व्य पार है जिससे उधार लेना बिना वापिस करने के वायदे के बुद्धिमानी है। एलीजबैथ के काल मे अंग्रेजी पद्य भी बुरी दशा मे थी। लग गण (आयेम्बिक फुट) का अधिकतया प्रयोग था और लाइने अक्षरो (सिलैल्बस) मे कम या ज्यादा रहती थी। छन्द सुधारको ने लैटिन और ग्रीक पिङ्गल के अनुकरण करने की धारणा की और अंग्रेजी पद्य को मात्रिक बनाना चाहा। टॉमस ड्रैण्ट ने लैटिन छन्द के नियमो के अनुसार अंग्रेजी छन्द के नियम बनाये और इनको सिड्नी, डायर, ग्रैवील, और स्पैन्सर ने स्वीकार कर लिया। बस, षड्गणात्मक पद लिखे जाने लगे। परन्तु इनमे सुन्दरता न आ सकी क्योकि अंग्रेजी भाषा स्वराघात पर आधारित है और मात्रिक प्रवृत्ति नही दिखाती। हार्वी भी लैटिन छन्द के नियमो के पक्ष मे थे, परन्तु उसने बडी म.त्रा को स्वराघात से चिह्नित किया। हार्वी की नई रीति से इतना फायदा हुआ कि अंग्रेजी पद्य मे लग गण के अतिरिक्त दूसरे गणो का प्रयोग होने लगा। धीरे-धीरे मात्रिक छन्द का रिवाज बिल्कुल हट गया और स्वराघातात्मक पद्य पर ही कवि आ गये। फिर भी यह बात स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ शास्त्रीयता काम नही दे सकती थी वहाँ भी उसका सहारा लिया गया। जॉन्सन के आक्रमणो से कविता को बचाने के लिये लौज और सिड्नी ने शास्त्रीय सिद्धान्तो का सहारा लिया। इन आलोचको की दलीलो मे प्लैटो, अरिस्टॉटल, और इटली के पुनरुत्थानकालीन आलोचको के निर्देश स्पष्ट है। तुक के वहिष्कार के लिये कैम्पियन ने ग्रीस और रोम के कवियो का निर्देश दिया, वे अपने पद्य मे गणो ही का उचित आधार लेते थे और तुक को रुचिकर नही समझते थे। उसका कहना है कि ओविड को तुकान्त पद्य लिख डालने के कारण भ्रान्ति मे समझा जाता था। मिल्टन ने भी अपने 'पैरैडाइज लॉस्ट के आरम्भ मे एक छोटे से नोट मे तुक को दूषित माना है। तुक न होमर ने ग्रीक मे, न वर्जिल ने लैटिन मे इस्तेमाल की थी। तुक कविता या अच्छी पद्य का न कोई अनिवार्य अङ्ग है और न कोई आभूषण है। तुक तो उत्तर के जङ्गली आदमियो की आविष्कृति है, और उसका उपयोग निकृष्ट वस्तु और लँगड़े पद्य को उभारने के लिये किया जाता है। डैनियल और उसके पश्चात् ड्रायडन ने तुक का समर्थन किया, कि तुक पद्य को आभूषित करती है, कि वह स्मृति को सहायता देती है, कि वह कवि की कल्पना को उत्तेजित करती है, कि वह उत्कृष्ट कविता के लिये

एक आदर्शीकृत वातावरण पैदा करती है, कि उसकी साधारण खराबी, कि उसके इस्तेमाल मे कवि को कभी-कभी अपने अर्थ को भ्रष्ट करना पडता है कवि के कौशलहीन होने के कारण है। इस वाद-विवाद मे भी एक पक्ष ने स्पष्टतया शास्त्रीयता का सहारा लिया है। बैन जॉन्सन शास्त्रीयता का पक्षपाती था। हौरेस, सेनैका और क्विएटीलियन उसके इष्ट थे। उसका करुण सनैका के आधार पर और उसका हास्य प्लौटस औ टैरेन्स के आधार पर लिखा गया है। ड्राइडन के निबन्धो मे शास्त्रीय निर्देशो की भरमार है। एडीसन ने "पैरैडाइज लास्ट' की आलोचना मे अरिस्टॉटल के नियमो का प्रयोग किया और वर्जिल के महाकाव्य को नमूना माना। पोप ने अपने 'एसे ऑन क्रिटीसिज्म' मे हौरेस, विडा और बोयलो के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। डॉक्टर जॉन्सन की उक्ति कि कविता साधारणीकरण करती है अरिस्टाटल और हौरेस पर निर्भर है। अरिस्टॉटल ने साफ कहा था कि कवि अपनी कथा को, चाहे पहले से आई हुई हो चाहे उसकी निर्मित हो, पहले सरल कर ले और उसको व्यापक रूप मे देखे, पेश्तर इसके कि वह कथाङ्गो से उसे विस्तृत करे। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी की शास्त्रीयता पर रोमान्सिक प्रवृत्ति का असर दीख पडता है। आर्नल्ड कहता है कि हमे प्राचीन लेखको की बराबरी करनी चाहिये, उनका अनुकरण नही। गिल्बर्ट मरे कहता है कि वीरकाव्य और होमर की विशेषताएँ प्रकृति का सत्य और कथन का गाम्भीर्य है, और रोमासवादिता की विशेषता झूठा अतिवाद है। टी० एस० इलियट भी विषयवस्तु का महत्त्व मानने मे और अभिव्यञ्जना-कौशल पर जोर देने मे शास्त्रीय प्रवत्ति दिखाता है। अपने अन्तर्वेगो के लिये एक अनात्मिक प्रतिमूर्ति ढूँढ निकालने के चेतन प्रयास मे वह अरिस्टॉटल के इस सिद्धान्त का अनुयायी है कि कवि कथानक की सृष्टि के कारण स्रष्टा कहा जाता है। कवि को परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता बताने मे भी कि कवि अपनी चेतना मे अतीत का अतीतत्व ही न रखे वरन् उसका उपस्थान भी, टी० एस० इलियट शास्त्रीयता का पक्षपाती है।

भारत मे शास्त्रीयता का प्रचार रहा है। काव्य और काव्यो के रूपो के लक्षण प्राचीन काल मे साहित्यशास्त्रज्ञो ने निश्चित कर दिये थे। आगामी लेखको ने उन्ही लक्षणो के अनुसार काव्य की सृष्टि की शास्त्रीयता के प्रचार का मुख्य कारण प्रचीन काल के लेखको और शास्त्रज्ञो के प्रति श्रद्धा भाव है।

प्राचीन साहित्यशास्त्री मे काव्यो के भिन्न-भिन्न विचारो से भिन्न-भिन्न भेद है। अनुभवाश्रय के विचार से काव्य दो प्रकार का होता है—श्रव्य और दृश्य। जिस काव्य के सुनने से आनन्द का उद्रेक हो, वह श्रव्य काव्य है। यह नाम पडने का कारण यह था कि प्राचीन समय मे मुद्रणकला न थी और लोग काव्य सुना ही करते थे। श्रव्य-काव्य मे कवि स्वयम् वक्ता बनकर अपनी कथा कहता है। दृश्य-काव्य वह है जिसका रसास्वादन अभिनय देखकर होता है। इस काव्य मे कवि स्वय कुछ नही कहता। उसे जो कुछ कहना होता है, पात्रो द्वारा कहता है। नट पात्र का रूप धारण कर उसकी अवस्थाओ का वचन,

[redacted], आदि से अनुकरण करता है । इसी विशेषता के कारण इस काव्य को नाटक [redacted] है । रचना के विचार से श्रव्य-काव्य के तीन भेद होते है—प्रबन्ध, निबन्ध और निर्बन्ध । अनेक सवद्ध पद्यो मे पूरा होने वाला काव्य प्रबन्ध है । प्रबन्ध काव्य विस्तार के विचार से तीन प्रकार का होता है—महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य । किसी देवता अथवा महान् व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर बहुत से सर्गो मे लिखा हुआ काव्य महाकाव्य है । काव्य भी सर्गबद्ध होता है, परन्तु उसमे विस्तार इतना नही होता । एक कथा का निरूपक होने के कारण यह एकार्थक काव्य भी कहलाता है । खण्ड काव्य वह काव्य है जिसमे काव्य के सम्पूर्ण अलङ्कार या लक्षण न हो । इसमे काव्य के एक अशका अनुसरण किया जाता है । इसमे जीवन की किसी एक घटना या कथा का वर्णन होता है, जैसे मेघदूत, जयद्रथबध । जैसे प्रबन्ध विस्तार का द्योतक है, निबन्ध साधारणता का द्योतक है । जिस काव्य मे कोई कथा अथवा वर्णन कई पद्यो मे लिखा गया हो वह निबन्ध काव्य है । निर्बन्ध काव्य वह काव्य है जो प्रबन्ध और निबन्ध काव्यो के बन्धनो से अलग हो । इस काव्य का प्रत्येक पद्य, वह चाहे जितनी पक्तियो का हो, स्वतन्त्र होता है । निर्बन्ध काव्य दो तरह का होता है—मुक्तक और गीत । वह काव्य जो एक ही पद्य मे पूरा हो, जिसकी कथा दूर तक न चले, मुक्तक है । वह प्रबन्ध का उल्टा होता है और इसे उद्भट भी कहते है । दोहे, कविता, सवैया इसके उदाहरण है । जो काव्य गाया जा सके गीत-काव्य है । इसमे ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर पक्तियाँ होती है । गीत दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक । वैदिक गीत को साम कहते है । सामवेद ऐसे ही गीतो से भरा हुआ है । लौकिक गीत के दो भेद है, ग्राम्य और नागर । जिन गीतो का समाजिक विधि-व्यवहारो के समय स्त्रियाँ गाती है, ग्राम्य गीत है, जैसे सोहर । इन गीतो मे हमारी जातीय सस्कृति और भावनाओ का सञ्चय है । नागरिक गीत शुद्ध रूप से काव्यात्मक होता है और उसके रचियता अपनी प्रतिभा के लिये प्रसिद्ध है, जैसे जयदेव, विद्यापति, सूरदास, और तुलसीदास । शब्दविन्यास के विचार से काव्य तीन प्रकार का होता है—पद्य, गद्य, और चम्पू । छन्दोबद्ध कविता पद्य है । पद्य-काव्य मे गोकि कवि यथारुचि पद-स्थापना कर सकता है पर छन्द के बन्धनो से बँधा रहती है । गद्य-काव्य छन्द के बन्धनो से मुक्त होता है । गद्य-काव्य मे प्रणयनता लाना पद्यकाव्य के मुकाबिले कही कठिन है, क्योकि इसमे तुक और छन्द की शोभा नही होती । अर्थ की रमणीयता ही गद्यकाव्य को उत्कृष्ट बनाती है । गद्य काव्य के दो भेद है—कथा और आख्यायिका । गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहते है । इस काव्य मे गद्य के विचार मे पद्य आती रहती है । प्रसाद का 'उर्वशी चम्पू', मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा' और अक्षयवट का 'अन्य चरित चम्पू' चम्पू काव्य का अन्दाजा देते हैं । काव्य के इन रूपो मे से कुछ प्रधान रूपो की प्राचीन धारणा हम यहाँ देते है ।

गीतात्मक काव्य वेदो से ही आरम्भ होता है । ऋग्वेद मे ऐसे मन्त्रो का बाहुल्य हैं जिनमें इन्द्र, सूर्य अग्नि, उष, मरुत् आदि देवता से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं । सामवेद में उन स्तोत्रो का सग्रह है, जो यज्ञो के समय गाये जाते थे । सब ऋचाएँ

प्राय गायत्री छन्द मे है। वैदिक गीतो मे तत्कालीन जीवन और विचार सुरक्षित है। कुछ वैदिक गीत ऐसे है, विशेषतया वे जो उष या इन्द्र की आराधना मे गाये जाते थे, जिनमे तथ्य और अलौकिकता दोनो मिलते है। वैदिक गीतो मे निरीक्षण, सहानुभूति, और विस्मय प्रधान है। धीरे-धीरे विस्मय की जगह मीमासा ने ली, सहानुभूति की जगह अध्ययन ने ली और निरीक्षण अधिक तीक्ष्ण और गहरा होता गया। लौकिक गीत सुन्दर अलङ्कारयुक्त भाषा मे नायक की कृतियो का वर्णन करता है। इस वर्णन मे अलौकिकता की मात्रा अधिक रहती है। पद-पद पर कवि साधारण भावनाओ का प्रभाव दिखाता हैं। सारगर्भित, भावोत्पादक सक्षिप्तता गीत की मुख्य विशेषता है। प्राकृतिक दृश्यो के चित्र खीचने से या ऐसी बाते लाने से जो लम्बा वर्णन चाहती हो, उसकी प्राय अरुचि होती है।

साहित्यदपरणकार के मतानुसार वह काव्य जिसमे सर्गो का निबन्धन हो महाकाव्य कहलाता है। इसमे एक देवता या सद्वश क्षत्रिय—जिसमे धीरादात्तत्वादि गुण हो—नायक होता है। कही एक वश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते है। शृङ्गार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस अङ्गी होता है। अन्य रस गौण होते है। सब नाटक-सन्धियाँ रहती है। कथा ऐतिहासिक या लोक मे प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग मे से एक उसका फल होता है। आरम्भ मे आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु का निर्देश होता है। कही खलो की निन्दा और सज्जनो का गुणवर्णन होता है। इसमे न बहुत छोटे, न बहुत बडे आठ से अधिक सर्ग होते है। उनमे प्रत्येक मे एक ही छन्द होता है। किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कही-कही सर्ग मे अनेक छन्द भी मिलते है। सर्ग के अन्त मे अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमे सध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रात काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे 'माघ') या चरित्र के नाम से (जैसे 'कुमारसम्भव') अथवा चरित्रनायक के नाम से (जैसे 'रघुवश') होना चाहिये। कही इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे 'भट्टि' सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखना चाहिये।

गद्य काव्य मे, कथा उपन्यास की तरह का लेख है जिसमे पूर्व पीठिका और उत्तर पीठिका होती है। पूर्व पीठिका मे एक वक्ता बनाया जाता है और एक वा अनेक श्रोता बनाये जाते हैं। श्रोता की ओर से ऐसा उत्साह दिखाया जाता है कि पढने वाले भी उत्साह पूर्ण हो जाते हैं। सारी कहानी वक्ता ही कहता है। अन्त मे वक्ता और श्रोता का उठ जाना आदि उत्तर दशा दिखाई जाती है। कथा मे सरसता गद्य द्वारा ही लाई जाती है। शुरू मे पद्यमय नमस्कार और खलादिको का चरित दिया जाता है। कही-कही कथा के विस्तार मे आर्याछन्द और कही वक्त्र और अपवक्त्र छन्द होते है। आख्यायिका के रूप के विषय मे मतभेद है। अग्निपुराण के अनुसार आख्यायिका मे कर्त्ता की वश-

प्रशसा, कन्याहरण, सग्राम, वियोग, आदि विपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन होता है। रीति, आचरण और स्वभाव खास तौर से दिखाये जाते है। गद्य सरल होना है और कही-कही छन्द भी आ जाते है। इसमे परिच्छेद की जगह उच्छ्वास होता है। वाग्भट्ट के मतानुसार आख्यायिका मे नायिका अपना वृत्तान्त आप कहती है। आगे के विषयो की सूचना पहले ही दी जाती है। कन्या के अपहरण, समागम और अभ्युदय का हाल होता है। मित्रादि के मुँह से चरित्र कहलाये जाते है। आख्यायिका मे कही-कही पद्य भी आ जाते हैं। साहित्यदर्पणकार का मत है कि आख्यायिका कथा के समय होती है। इसमे कविवंश वर्णन होता है और अन्य कवियो का वृत्तान्त भी दे दिया जाता है। इसमे कथा भागो का नाम आश्वास होता है। आर्या, वक्त्र, या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ मे अगली कथा की सूचना दी जाती है, जैसे 'हर्षचरित' मे। आख्यान भी इसी के अन्तर्भूत है। आख्यान वह कथा है जिसे कवि ही कहे और पात्र न कहे। इसको कथा के किसी अश से शुरू कर सकते है पर पीछे से पहला सब हाल खुल जाना चाहिये। इन पात्रो की बातचीत सक्षेप मे होती है। क्योकि आख्यान को कवि ही कहता है और कहते समय पहली बातो को भी स्पष्ट करता है। इस कारण से आख्यान मे प्राय भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। वर्त्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग आलङ्कारिक रीति से हो जाता है।

किसी जाति के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि उसमे नाटक का पूर्ण विकास हो। नाटक सर्वोत्तम कला है। नाटककार वास्तक मे ब्रह्म का प्रतिरूप है। जैसे ब्रह्म सृष्टि मे समाया हुआ है, उसी प्रकार नाटककार अपने अस्तित्व को अपनी सृष्टि से एक कर देता है और अपने पात्रो मे समा जाता है। जितनी जल्दी और जितनी पूर्णता से आत्म-विस्मृति नाटक द्वारा होती है उतनी किसी और दूसरे साधन द्वारा नही। ससार के बन्धनो से मुक्ति पाने का और सर्वभूत को आत्मवत् देखने का यह निश्चित रूप से सफल साधन है। हिन्दू जाति मे नाटक बडा प्राचीन है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र जो नाटक का लक्षण ग्रन्थ माना जाता है ईसा से कम से कम तीन-चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है। इसके पढने से मालूम होता है कि देश मे पहले ही नाटक विकसित रूप मे प्रचलित था और अन्य लक्षण ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे। 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भिक कथन से जान पडता है कि नाटक वेदो के निर्माण के बाद जल्दी ही आया। लोगो के व्यापक रूप से दु खित होने के कारण एक समय इन्द्र और दूसरे देवताओ ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनुष्यो के मनोविनोद का कोई साधन उत्पन्न करे। इस पर ब्रह्मा ने चारो वेदो को बुलाया और उनकी सहायता से नाट्यशास्त्र रूपी पाँचवे वेद की रचना की। इस नये वेद के लिये ऋग्वेद से सवाद लिया गया, सामवेद से गान लिया गया, यजुर्वेद से नाट्य लिया गया और अथर्ववेद से रस लिया गया। इस कथन मे नाट्यशास्त्र का वेद कहा जाना और उसका उद्गम वेदो से बताया जाना हिन्दू जाति मे नाटक के सम्मान का द्योतक है।

नाटक के लिए सस्कृत की सज्ञा रूपक हे। इसका कारण यह है कि नट मे काव्य के पुरुषो का स्वरूप आरोपित किया जाता है। जो नट राम, कृष्ण युधिष्ठिर, या दुष्यन्त का रूप धारण करेगा, वह किसी विशेष अवस्था मे वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा राम कृष्ण, युधिष्ठिर, या दुष्यन्त उस अवस्था मे करते। अवस्था के अनुकरण को नाट्य या अभिनय कहते है। यह अनुकरण चार प्रकार से पूर्ण होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, और सात्विक। इन चार प्रकार के अभिनय से सामाजिको को वास्तविकता की प्रतीति दी जाती है, जो कि रूपक की सफलता की कसौटी है। यदि उस नट को जो दुष्यन्त का पार्ट खेलता है सामाजिक स्वय दुष्यन्त न समझे तो रूपक असफल है। रूपक की सफलता की दूसरी कसौटी रस की निष्पत्ति है। यदि अभिनय द्वारा नायक के भावो के प्रदर्शन से सामाजिको के हृदय मे आनन्द का उद्रेक हो तो रूपक सफल है। रूपक की भारतीय धारणा मे अभिनय पर अधिक जोर है, उसका प्रत्यक्ष निरूपण रङ्गमञ्च पर ही होता है। रूपक के रसास्वादन के लिए उसका खेला जाना आवश्यक है। एक आलोचक कहते है कि "जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो" वह दृश्य काव्य है। दूसरी जगह वही आलोचक लिखते है, "श्रव्य काव्य का आनन्द लेने मे केवल श्रवणेन्द्रिय सहायक होती है, परन्तु दृश्य काव्य मे श्रवणेन्द्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी सहायता देती है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, और दृश्य-काव्य के रसास्वादन मे इन्द्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्यो को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है।" परन्तु अभिनय शरीर की चक्षु के सामने भी हो सकता है और मन की चक्षु के सामने भी। इसमे शक नही कि नाटक की अन्तर्प्रेरणा मे रङ्गमञ्च अनिवार्यत सम्मिलित है और नाटककार प्राय नाटक रङ्गमञ्च के लिए ही लिखता है। परन्तु रङ्गमञ्च का तत्त्व नाटककार की अन्तर्प्रेरणा मे वैसे ही अचेतन रहता है जैसे निवेदन दूसरे काव्यो मे अचेतन रहता है। नाटक दृश्य काव्य ही नही है वरन् श्रव्य-काव्य भी है और पाठ्य-काव्य भी है। नाटककार को नाटक के निर्माण मे नट की रचनात्मक शक्ति पर भरोसा नही करना चाहिये। प्राचीन पाश्चात्य सिद्धान्त यही था। नाटककार को सारा नाटकीय प्रभाव सङ्घर्ष और पात्रो द्वारा पैदा करना चाहिये। कोई भले स्वभाव का बडा आदमी अपनी ऐसी गलती अथवा कमजोरी से जिसमे नैतिक दोष न हो सुख और गौरव कीर्ति की उच्च दशा से दुख और अपकीर्ति की निम्न दशा को अनजाने प्राप्त हो। सङ्घर्ष निकट सम्बन्धी वर्गो मे हो। नायक का पतन हमें विधिविडम्बना की चेतना दे और अन्त मे हमे नाटक जीवन के गहन तत्त्व और मनुष्य के निष्फलीभूत होने का सस्कार हमारे मन पर छोडे। ऐसे नाटक मे पाठक अथवा दर्शक के दार्शनिक विचार को जागृति मिलती है, प्रेरणा आँख की अपेक्षा मन को अधिक है। भारतीय नाटक का नट के ऊपर ज्यादा जोर देने का कारण नाटक की विशिष्ट धारणा ज्ञात पडती है। भारतीय नाटक किसी पात्र की प्राप्ति पर आधारित है। उसके प्रधान व अङ्गी रस शृङ्गार और वीर है। शेष रस गौण रूप से आते है। जिस नाटक

मे शान्ति, करुणा आदि प्रधान हो वह नाटक नही कहलाया जा सकता। स्पष्ट है कि यहाँ का नाटक महाकाव्य से अधिक मिलता जुलता है और उसमे दृष्टिविपयात्मक तत्त्व प्रधान है। साहित्य के रूप जीवन के रूपो के अनुसार होते है, और करुण नाटक जीवन के गहन और अगम्य तत्त्व को और मनुष्य की विवशता को सामने लाता है। जैसे, हास्य नाटक जीवनव्यापार मे सामान्य क्रम की आवश्यकता सामने लाता है। शौर्य के प्रदर्शन के लिए महाकाव्य है, नाटक नही।

अभिनय होने से पहले सूत्रधार रङ्गशाला मे प्रार्थना-गीत गाता है। फिर वह वार्त्तालाप मे नाटक के नाम, कर्त्ता, और विषय आदि का परिचय देता है। नाटक के इतिवृत को वस्तु कहते है। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासङ्गिक वस्तु। इतिवृत्ति के प्रधान नायक को अधिकारी कहते है। अधिकारी-सम्बन्ध कथा को आधिक रिक वस्तु कहते है और अधिकारी के लिये अथवा रसपुष्टि के लिये प्रसङ्गवश जो वर्णन आ जाता है उसे प्रासङ्गिक वस्तु कहते है, जैसे 'रामायण' मे राम की कथा आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव की कथा प्रासङ्गिक वस्तु है।

मानव जीवन के प्रयोजन अर्थ, धर्म और काम है। नाटक मे जो उपाय इन प्रयोजनो की सिद्धि के लिये किये जाते है उन्हे अर्थ-प्रकृति कहते है। अर्थ-प्रकृति पाँच है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य्य। कथा का वह भाग जो फल-सिद्धि का प्रथम कारण हो बीज कहलाता है जैसे 'वेणीसहार' मे भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहपूर्ण वाक्य बीज है, क्योकि यही वाक्य द्रौपदी के केश-मोचन का कारण हुआ। अवान्तर कथा के टूट जाने पर भी प्रधान कथा के लगातार होने का जो निमित्त है उसे विन्दु कहते है, जैसे 'रत्नावली' मे अनङ्गपूजा की समाप्ति पर सागरिका का कथन, "ऐ यही वह राजा उदयन है," कथा के अटूट रहने का हेतु बन कर विन्दु है। जो प्रासङ्गिक वर्णन दूर तक चले वह पताका है, जैसे, 'रामायण' मे सुग्रीव की कथा और 'शकुन्तला' मे विदूषक की। जो कथावस्तु थोडी देर तक चलकर रुक जाती है, वह प्रकरी कहलाती है, जैसे 'शकुन्तला' के छठे अङ्क मे दास और दासी की बातचीत। प्रधान साध्य, जिसके लिये सब उपायो का आरम्भ किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिये सब कुछ इकट्ठा किया गया है, उसे कार्य्य कहते है, जैसे, 'रामायण' मे रावण का बध। फल की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषो के द्वारा किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। मुख्य फल की सिद्धि की उत्सुकता को आरम्भ कहते है, जैसे रत्नावली' मे कुमारी रत्नावली को अन्त पुर मे रखने के लिये यौगन्धरायण की उत्कण्ठा फलप्राप्ति के लिये जल्दी से किये गये व्यापार को यत्न कहते हैं, जैसे, रत्नावली' मे रत्नावली का चित्रलेखन उदयन से समागम का त्वरान्वित व्यापार हो जाता है। जहाँ प्राप्ति की आशा विफलता की आशका से घिरी हो, किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, वहाँ प्राप्त्याशा होती है, जैसे, 'रत्नावली' मे वेश का परिवर्तन और

निकट आना तो सङ्गम के उपाय है पर वासवदत्तारूप अपाय की आशका भी बनी रहती है, इसी लिये समागम की प्राप्ति अनिश्चित होने के कारण प्राप्त्याशा है। अपाय के दूर हो जाने पर जिस अवस्था मे फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है उसे नियताप्ति कहते है, जैसे 'रत्नावली' मे उदयन का यह प्रत्यक्षीकरण कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किये वह सफलमनोरथ नही हो सकता, नियताप्ति है। जिस अवस्था मे सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय, उसे फलागम कहते है, जैसे, 'रत्नावली' मे चक्रवर्तित्व के साथ रत्नावली की प्राप्ति। अवस्थाओ का खयाल रखते हुए कथानक का निर्माण बीच मे कुछ मोड खाये हुए पेड के रूप मे होना चाहिये। प्राप्त्याशा जितनी मध्य मे हो उतनी अच्छी, और पहले अश मे आरम्भ और यत्न और दूसरे अश मे नियताप्ति और फलागम बराबर विस्तार पाये। अवस्थाएँ तो शास्त्रीय मत के अनुसार कार्य की भिन्न भिन्न स्थितियो को चिह्नित करती है, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वो को बताती है और नाटक-रचना के विभागो का निदर्शन करने के लिये सन्धियाँ है। प्रधान प्रयोजन के साधक कथाशो का किसी एक मध्यवर्त्ती प्रयोजन के साथ होने वाले सम्बन्ध को सन्धि कहते है। सन्धियाँ पाँच है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। जहाँ बीज अर्थ-प्रकृति का आरम्भ दशा से सयोग होकर अनेक अर्थों और अनेक रसो की व्यञ्जना हो, वहाँ मुख सन्धि है, जैसे, 'रत्नावली' मे नाटक के आरम्भ से दूसरे अङ्क के उस स्थान तक जहाँ रत्नावली राजा का चित्र अङ्कित करती है। मुख सन्धि मे आविर्भूत बीज का जहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से विकास हो, वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है, जैसे 'रत्नावली' मे प्रथम अङ्क मे सूचित किया हुआ प्रेम दूसरे अङ्क मे वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु होकर सुसङ्गता और विदूषक को ज्ञात हो गया—यहाँ वह प्रेम लक्ष्य हुआ, और वासवदत्ता ने चित्र के वर्णन से उसका कुछ अनुमान किया—यहाँ वह प्रेम अलक्ष्य सा हुआ। प्रतिमुख सन्धि मे प्रयत्न अवस्था और विन्दु अर्थ-प्रकृति का सयोग होता है, 'रत्नावलि' के सागरिका का चित्र लेखन से दूसरे अङ्क के अन्त तक जहाँ वासवदत्ता राजा को सागरिका का चित्र देखते हुए पकडती है, प्रतिमुख सन्धि है। पहली सन्धियो मे दिखाये हुए फलप्रधान के उपाय का जहाँ कुछ ह्रास हो और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो, वहाँ गर्भ सन्धि है। इस सन्धि मे प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति का सयोग होता है, 'रत्नावली' के तीसरे अङ्क की कथा इस सन्धि का उदाहरण है। जहाँ प्रधान फल का उपाय गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित हो, किन्तु शाप, क्रोध, विपत्ति, या विलोभन के कारण विघ्नयुक्त हो, वहाँ विमर्श सन्धि होती है। इस सन्धि मे नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है, गोकि प्रकरी वैकल्पिक होती है अर्थात् हो भी और न भी हो। 'रत्नावली' मे चौथे अङ्क तक जहाँ चारो ओर आग भडक उठने के कारण गडबड मच जाती है विमर्श सन्धि है। जहाँ पहली चारो सन्धियो मे बिखरे हुए अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये ठीक-ठीक समन्वय साधित किया जाय और प्रधान फल की प्राप्ति भी हो जाय, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है। इस

सन्धि मे फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति का सयोग होता है। 'रत्नावली' मे विमर्श सन्धि के अन्त से लेकर चौथे अङ्क की समाप्ति तक यही सन्धि है। प्रत्येक सन्धि के कई-कई अङ्ग माने गये है और सन्धियो के अन्तर्गत उपसन्धियाँ और अन्तर्सन्धियाँ भी मानी गई है। ऐसे सूक्ष्म भागो और उपभागो के निर्देश से प्रतिभा के स्वतन्त्र व्यापार का प्राचीन नाट्यशास्त्रियो ने अवरोध कर रखा है। आजकल के नाटको मे इन नियमो का पालन या विषयो का समावेश आवश्यक नही समझा जाता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते है, "सस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक मे उनका अनुसन्धान करना या किसी नाटकाङ्ग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।" असली कारण दो हे जिनसे शास्त्रीय नाटक का अनुकरण व्यर्थ है। पहला तो यह है कि वह जीवन की दशा जिसे प्राचीन नाटक व्यक्त करता है अब बदल गई है और साहित्य जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरा कारण पाश्चात्य नाटक का प्रभाव है।

वशानुसार नायक तीन तरह का होता है--दिव्य, अदिव्य, आर दिव्यादिव्य अथवा अवतार। स्वाभावानुसार नायक चार प्रकार का होता है—शान्त, ललित, उदात्त, और उद्धत। चारो प्रकार के नायक मे धीरता का गुण आवश्यक हे, अधीरता स्त्री स्वभाव का लक्षण है। धनञ्जय के अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्तलोक, वाड्मी, रुढवश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ तेजस्वी, और धार्मिक होना चाहिये। नायक की प्रिया नायिका कहलाती है। उसमे नायक के गुण होने चाहिये। नायिका तीन प्रकार की मानी गई है—स्वकीया, परकीया, और सामान्या। स्वकीया पतिव्रता, चरित्रवती, और लज्जावती होती हे। परकीया विवाहिता और कुमारी दो तरह की होती है। प्रधान रस मे विवाहिता का वर्णन नही होना चाहिये। सामान्य को गणिका भी कहते हैं। उसका प्रेम झूठा होता है और गोकि वह कलाओ मे निपुण होती है, स्वभाव की धूर्त्ता होती है। सच्चे प्रेम के प्रदर्शन के लिये ही गणिका रूपको मे आनी चाहिये।

नाटक के कुछ और लक्षण ये हैं। नाटक का वृत्त इतिहास सिद्ध होना चाहिये, कल्पित नही। यहाँ पाश्चात्य मत भिन्न है। केवल भाव अथवा मुख्य विचार सच्चा होना चाहिये। उसे नाटक मे विकसित करने के लिये घटना और पात्र कल्पित हो सकते है। यदि वृत्त ऐतिहासिक हो तो इतिहास को भी परिवर्तित किया जा सकता है। नाटक मे विलास, समृद्धि आदि गुण और तरह-तरह के ऐश्वर्य का वर्णन होना चाहिये। सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय। कुछ बातो की केवल सूचना दी जाय। उन्हे रङ्गमञ्च पर न दिखाया जाय, जैसे, दूर से बुलाना, बध, युद्ध, राज्यविप्लव, विवाह,

भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दन्तक्षत, नखक्षत, शयन, नगरादि का घिराव, स्नान, चन्दनादि का लेपन, और लज्जाकारी कार्य। नाटक का प्रधान खण्ड अङ्क कहलाता है। नाटक मे पाँच से लेकर दस अङ्क तक हो सकते है। अङ्क मे एक दिन से अधिक दिनो की घटनाएँ नही होना चाहिये। प्रत्येक अङ्क मे शृङ्गार या वीर रस मे कोई एक प्रधान रहना चाहिये और दूसरे रस गौण रह सकते है। अद्भुत रस अङ्क के अन्त मे आना चाहिये। अङ्क इतना रसपूर्ण न हो कि व्यापार गति का बाधक हो जाय। दो अङ्को के बीच मे एक वर्ष तक का समय आ सकता है। रूपक के दो भेद दिये है—रूपक या नाटक और उपरूपक। रूपक दस है—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, इहामृग, अङ्क, वीथी, और प्रहसन। उपरूपक अठारह माने गये है, नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, सलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। रूपको के भेद वस्तु, नायक, और रस के आधार पर किये गये है और यही तीनो रूपक के तत्त्व माने जाते है।

यह प्राच्य शास्त्रीयता है। साहित्य के रूपो के नियम निश्चित थे। साहित्यकार उन्हे मानते थे और साहित्यशास्त्री उन्ही के अनुसार साहित्य-समीक्षा करते थे। महाकाव्यो की कथाएँ वाल्मीकीय 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' और 'कथासरितसागर' से आती थी। महाकाव्य के लेखको ने प्राय 'रामायण' का अनुकरण किया है। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, विल्हण और परिमल कालिदास सब ने महाकाव्य के नियमो का पालन किया है। नाटक भी शास्त्रीय नियमो का पालन करते रहे, जैसे, 'शकुन्तला', 'मृच्छकटिक', 'अनर्घराघव', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसहार', 'नागानन्द', 'प्रसन्नराघव', 'प्रबोधचन्द्रोदय', और 'अमृतोदय',। जब तब लेखक नियमो का उल्लङ्घन भी करते रहे। क्षेमेन्द्र 'औचित्यविचारचरचा' मे भवभूति की उपेक्षा करता है कि उसने अपने नायक राम की कमजोरियो का अपने ग्रन्थ मे वर्णन किया। भवभूति ने कडी आलोचनाओ से दु खित होकर कहा था "समय का अन्त नही और पृथ्वी भी बडी है। किसी न किसी समय और कही न कही मुझ जैसा उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा, मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा।" भवभूति की यह भविष्य वाणी अब ठीक पड रही है। उसके नाटको का जो आज आदर है वह पहले नही था। और भी नाटककारो ने नियमो को तोडा, जैसे भास ने रङ्गमञ्च पर मृत्यु दिखाई और राजशेखर ने विवाह कृत्य दिखाया। जैसा हम पाश्चात्य शास्त्रीयता के विषय मे ऊपर कह चुके है वैसा ही यहाँ भी कहा जा सकता है। शास्त्रीय आलोचक ये बाते भूल जाता है। पहले साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे परिवर्तन और विभिन्नता की कोई हद नही। दूसरे आलोचना साहित्यिक उत्पादन के पीछे-पीछे रहती है। जिस साहित्य के आधार पर शास्त्रीय नियम निर्धारित हुए थे उससे भिन्न शैली का साहित्य पीछे से आया। शास्त्रीय नियमो को लागू करने का अर्थ यह हो सकता है कि पीछे का साहित्य आगे के

साहित्य को निर्धारित करे। साहित्य वृद्धि की चीज है। वृद्धि से मतलब वैज्ञानिक विकास का नही है, कि आजकल का साहित्य पुराने साहित्य से बढा-चढा और ज्यादा सम्पूर्ण है। साहित्य मे इस प्रकार विकास नही होता। प्राचीनकाल मे सम्पूर्ण कला का उत्पादन हुआ, मध्यकाल मे भी सम्पूर्ण कला का उत्पादन हुआ और आधुनिककाल मे भी सम्पूर्ण कला का उत्पादन होता है। बात यह है कि एक काल की कलात्मक सम्पूर्णता से दूसरे काल की सम्पूर्णता भिन्न होती है और उसके जाँचने के नियम उसी काल की कला देती है। विकासवादी आलोचक जो पुराने साहित्य को आधुनिक साहित्य का अविकसित रूप मानता है, उतना ही गलत जाता है जितना कि शास्त्रीय आलोचक जो यह समझ बैठता है कि कलात्मक सम्पूर्णता प्राचीनकाल मे हो गई थी और उसी कला पर आधारित नियम सदा के साहित्य पर लागू है। प्रतिभा नियमो के बन्धनो को तोड कर क्रियाशील होती है और अपनी आलोचना के नियम आप देती है। शास्त्रीय नियमो मे वही नियम आलोचना को मान्य हो सकते है जो सौन्दर्यशास्त्रविषयक है और जो सदा के लिये सार्थक है—रसोत्पादन, वस्तुविन्यास, और गद्य-काव्य की काव्य मे अन्तर्गणना।

२

शास्त्रीय के लिये अग्रेजी सज्ञा क्लासिकल है। क्लासिकल सज्ञा रोम की राजकीय व्यवहारनीति से आई थी। मनुष्य, समाज मे अपनी आमदनी के अनुसार क्लासो मे विभक्त थे। कुछ मनुष्य दूसरी क्लास के, कुछ तीसरी क्लास के और कुछ चौथी क्लास के कहलाते थे, परन्तु जो पहली अथवा सबसे ऊँची क्लास के थे वे केवल क्लास के कहलाते थे। सबसे ऊँची क्लास के सम्बन्ध मे 'पहली' सज्ञा का प्रयोग निष्प्रयोजन समझा जाता था। पहली क्लास का मनुष्य क्लासिकल कहा जाता था और बाकी सब निम्न क्लास के कहे जाते थे। इसी से क्लासिकल लेखक पहली श्रेणी का लेखक माना जाता था और क्लासिक पहली श्रेणी की कृति मानी जाती थी। पुनरुत्थान के समय यूनानी और रोमी विद्याओ के प्रति अधिक आदरभाव के कारण यूनानी और रोमी लेखको को सब लोग क्लासिकल-लेखक कहते थे और उनकी कृतियो को क्लासिक्स कहते थे। आलोचना मे क्लासिकल संज्ञा का प्रयोग बहुत दिनो तक ऐसे लेखको और उनकी कृतियो के लिये रहा जो यूनानी और रोमी लेखको और उनकी कृतियो का अनुकरण करते थे। परन्तु धीरे-धीरे क्लासिकल सज्ञा अर्थ मे विस्तृत हुई जैसे ही कि लेखको ने यूनानी और रोमी कृतियो का अन्धानुकरण करने की जगह उनकी वृत्ति ही का अनुकरण किया। शास्त्रीय वृत्ति की मुख्य विशेषता किसी वस्तु के वाह्य वैषयिक सौन्दर्य की खोज है।

दूसरी सज्ञा जिसके अर्थ का विस्तार भी क्लासिकल सज्ञा की तरह हुआ है, रोमांसिक है। दोनो सज्ञाएँ आलोचनात्मक वाद-विवाद मे कला और साहित्य की दो विपरीत शैलियो की द्योतक हुई, और इन दोनो मे से एक संज्ञा दूसरी से प्रभावित हुई

जैसे ही कि उनमे से किसी एक का अर्थ विस्तृत अथवा सङ्कुचित हुआ। क्लासिकल सज्ञा का पूरा अभिप्राय समझने के लिये हमे दोनो सज्ञाओ पर साथ-साथ विचार करना उचित हो जाता है।

ओल्ड फ्रेञ्च के रोमान्स शब्द का अर्थ वर्नाक्यूलर अथवा वह ग्राम्य लैटिन है जो सस्कृत लैटिन से बिगड कर बनी थी। यह शब्द आसानी से ऐसी कथा अथवा कहानी के लिये प्रयुक्त होने लगा जो रोमान्स भाषा मे लिखी जाती थी। ये कहानियाँ बहुधा क्षात्र-धर्मसम्बन्धी साहसिक शौर्य की होती थी और एक सभ्यता के आदर्शीकृत जीवन से दूसरी सभ्यता की भाषा और रूढियो मे अनुवादित होती थी। विषयवस्तु प्राय रहस्य और कामप्रेरणा से परिपूर्ण होती थी। कहानी मे न कोई सुसङ्गठित कार्यव्यापार होता था और न कोई चरित्र-चित्रण ही कौशलपूर्ण होता था। अपनी प्रभावोत्पादकता के लिये कहानी घटनाओ, वातावरण, वर्णन और वृत्ति पर निर्भर होती थी। जब रोमान्सिक सज्ञा का प्रयोग पहले पहल आलोचना मे हुआ तो वह उन विशेषताओ की द्योतक हुई, जो रोमान्स भाषा मे लिखी हुई कहानियो मे पाई जाती थी, जैसे दूरस्थता, अयथार्थता, भावनात्मकता, अनियमितता, तर्कहीनता, रहस्यपूर्णता और कामुकता। इन विशेषताओ के विपरीत भावो का साहचर्य क्लासिकल सज्ञा के साथ हुआ, और जैसे कि शास्त्रीय कला की मुख्य विशेषता वाह्यरूप के सौन्दर्य की खोज मानी गई, रोमान्सिक कला की मुख्य विशेषता आध्यात्मिक सौन्दर्य की खोज मानी गई—आन्तरिक आत्मा रूप नियत करे न कि चित्रित वस्तु के वाह्य ब्यौरे। रोमान्स के फिर से जागरण के साथ रोमन्सिक सज्ञा मे कल्पना की क्रियाशीलता के भाव का समावेश हुआ और इसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय सज्ञा ने प्रकृत सत्य के आश्रय पर जोर दिया।

शास्त्रीयता और रोमान्सिकता आधुनिक आलोचना मे दो विपरीत वृत्तियो की द्योतक है। प्रकृतता और नियमबद्धता शास्त्रीय वृत्ति को निश्चित करती है, जैसे कल्पनात्मकता और मुक्तता रोमान्सिक वृत्ति को निश्चित करती है। उदाहरण के लिये शिक्षा को लीजिये। मध्यकाल मे सातों शुद्ध कलाओ को दो भागो मे विभक्त किया जाता था, ट्रिवियम और क्वाड्रिवियम। ट्रिवियम मे व्याकरण, भाषणकला और तर्क का समावेश था और क्वाड्रिवियम मे गणित, ज्योतिष, रेखागणित और सङ्गीत का। शिक्षण की ऐसी प्रथा और आजकल के नियत पाठक्रमो की प्रथा शास्त्रीय कहलाई जायगी। इसके अतिरिक्त रोसो, गटे और कार्लायल की शिक्षण प्रथा रोमान्सिक कहलाई जायगी। इस प्रथा के अनुसार नियत पाठक्रमो का विलोप हो जाता है और बच्चे की शक्तियो का उसकी स्वाभाविक उत्सुकता की तुष्टि से विकास किया जाता है। धार्मिक क्षेत्र मे प्रचलित विश्वास और पूजा-पद्धति को स्वीकार कर लेना और परम्पराधिकृत नीति से व्यवहार करना शास्त्रीयता है। इसके अतिरिक्त, विश्वास और पूजा-पद्धति की स्वतन्त्रता और आचरण को ऐसी सदसद्विवेक बुद्धि से नियमित करना जिसने जीवन-मूल्यो की परीक्षा करके उनका

समन्वय किया हो और जो प्राणिमात्र से एकस्वर होकर उत्कृष्ट हो गई हो, रोमान्सिकता है। राजनीति और समाज के क्षेत्र मे स्थिति पालन और पदाधिकार तथा परम्परा का सम्मान शास्त्रीय वृत्तियाँ है। इसके अतिरिक्त उदारता और योग्यता, मौलिकता और व्यक्तित्व का आदर रोमान्सिक वृत्तियाँ है। इस सम्बन्ध मे माइकेल रोबर्ट्स का विश्लेषण बड़ा सहायक है। वह पहले दो प्रकार की मनोवृत्तियो का एक-दूसरे मे पृथक्करण करता है—धार्मिक और नैसर्गिक। एक प्रकार का मनुष्य होता है जो समझता है कि कोई वस्तु निर्पेक्षतया सत्य है, शिव है, अथवा सुन्दर है। दूसरे प्रकार का मनुष्य होता है जो समझता है कि कोई वस्तु उसी अपेक्षा मे सत्य, शिव, अथवा सुन्दर है जिसमे कि वह मानव-हित की वृद्धि करती है। पहले प्रकार का मनुष्य निर्पेक्ष मूल्यो मे श्रद्धा रखता है, और दूसरे प्रकार का मनुष्य मानव-हित को अन्तिम मूल्य समझता है। पहली मनोवृत्ति धार्मिक है और दूसरी नैसर्गिक। इन मनोवृत्तियो को हम और आगे विभक्त कर सकते हैं जैसे कि वे हमारी प्रज्ञात्मक माँगो की पूर्ति करती है अथवा भावात्मक माँगो की पूर्ति करती है। जब धार्मिक मनुष्य वाह्य मानदण्डो को स्वीकार कर लेता है, जिसका अर्थ है कि वह प्रज्ञात्मक माँगो का आदर करता है, तब वह शास्त्रीय है। जब धार्मिक मनुष्य अपनी अन्तर्दृष्टि के प्रामाण्य पर ही भरोसा करता है जिसका अर्थ है कि वह अपने अन्तर्वेगो का नेतृत्व पूरी तरह स्वीकार कर लेता है, तब वह मौलिक (फण्डामेण्टलिस्ट) है। इसी प्रकार जब नैसर्गिक मनुष्य अपनी प्रज्ञात्मक तुष्टि को ही मूल्य देता है, तब वह मानववादी (ह्यूमैनिस्ट) है। और जब नैसर्गिक मनुष्य अपने अन्तर्वेगीय निर्णय पर ही भरोसा करता है, तब वह रोमान्सिक है। शास्त्रीय मनुष्य क्योकि वह एक अवैयक्तिक आदर्श का आधार लेता है, चरित्र (कैरेक्टर) विकसित करता है, और रोमान्सिक मनुष्य क्योकि वह अपनी मूल प्रवृत्तियो पर विश्वास रखता है, व्यक्तित्व विकसित करता है। फलत ऐसी व्यवस्था जो शास्त्रीय मनुष्य अपने जीवन मे प्रदर्शित करता है, यान्त्रिक होती है। इसके अतिरिक्त, ऐसी व्यवस्था जो रोमान्सिक मनुष्य अपने जीवन मे प्रदर्शित करता है आङ्गिक होती है। शास्त्रीय और रोमान्सिक मनोवृत्तियाँ एक-दूसरे का वर्जन नही करतीं। वे दोनो एक ही काल मे सम्भव है गोकि बौद्धिक परिस्थिति की विशिष्टता के कारण किसी काल मे एक मनोवृत्ति प्रधान और दूसरी गौण हो जाती है। प्राय एक मनोवृत्ति के बाद दूसरी प्रधान होती है। जब रोमान्सवादी के अन्तर्वेगो का निर्देश सीमा से कही अधिक मुक्त और दुर्दम हो जाता है, तो इस बात की आवश्यकता होती है कि उन्हे इस तरह अनुशासित किया जाय कि वे सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न न कर दें, और ऐसी दशा मे रोमान्सिकता शास्त्रीयता के लिये रास्ता साफ कर देती है। इसी प्रकार जब अनुशासन और नियम कट्टरता से लागू होने लगते है और अत्याचारपूर्ण हो जाते हैं, तब मनुष्य उनके अत्याचार से अपनी मूल प्रवृत्तियो और सवेगो के आश्वासन मे मुक्ति पाते हैं, और ऐसी दशा मे शास्त्रीयता रोमान्सिकता के लिये मार्ग प्रशस्त कर देती है। इस प्रकार दोनो एक दूसरे के अतिरेक को ठीक कर देती है। मनोवैज्ञानिक विचार से शास्त्रीयता

अन्तर्व्यावर्तन से और रोमान्सिकता वहिर्व्यावर्तन से सम्बन्धित की जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य मे दो विरोधी मनोवृत्तियाँ पाई जाती है। कभी-कभी उसकी ऐसी चेष्टा होती है कि वह अपने पर से सब चेतन नियन्त्रण हटा दे और फिर से सामूहिक मन (कलैक्टिव माइण्ड) मे प्रवेश कर जाय, जहाँ पर उसे आद्य प्रतिमाओ की सञ्चित राशि मिलती है। यही स्वप्न-ससार है। कभी-कभी उसकी ऐसी चेष्टा होती है कि अपने पर चेतन नियन्त्रण स्थापित करे और रूप, सौन्दर्य, अथवा आचरण के किसी आदर्श से अपने को शासित करे। इन्ही दोनो विरोधी मनोवृत्तियो के सङ्घर्ष मे कलाकृति का सृजन होता है। जब चेतन आदर्श अन्दर से उमड-उमड कर आई हुई प्रतिमाओ पर विजय पा जाता है, तो शास्त्रीय कला का सृजन होता है, और जब आन्तरिक प्रतिमाओ का प्रचण्ड कोलाहल किसी चेतन आदर्श से व्यवस्थित नही हो पाता, तो रोमान्सिक कला सृजन होता है। इस प्रकार शास्त्रीय कला के सृजन मे कलाकार का जीवन बाहर की दिशा मे फिरा होता है जैसे कि रोमान्सिक कला के सृजन मे कलाकार का जीवन अन्दर को फिरा होता है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि शास्त्रीयता जीवन मे सम्बद्ध है और स्वय अपनी इच्छा से जीवन की कमियो को स्वीकार कर लेती है, इसके विपरीत रोमान्सिकता जीवन की कमियो से ऐसे संसार को पलायन है जहाँ स्वेच्छा और मूलप्रवृत्तियो का निरकुश राज्य है। कलामीमासा के विचार से, शास्त्रीय मनोवृत्ति व्यवस्थित रूप और नियम के परिपालन मे आनन्द लेती है। उसे आशा का पूर्ण होना अच्छा लगता है, उसे पद्धति से प्रेम है और उसे परिवर्तन और अनियमितता से घृणा है। उसी से कला और जीवन की सब रूढियो का उद्गम है। अपनी उच्चतम मर्यादा मे वह शास्त्रीय वस्तुकला का निर्माण करती है तथा मिल्टन और पोप की परिमार्जित कविता का प्रणयन करती है। समष्टि के हित मे अशो की अधीनस्थता, निग्रहण, छाँट, समाप्ति, अलङ्कारो की उत्कण्ठा, और सम्पूर्णता की भावना ये ही शास्त्रीयता की विशेषताएँ हैं। अपनी निकृष्टतम गति मे वे सब रूढिबद्धता मे परिभ्रष्ट हो जाती है और हमे जडता की ओर अग्रसर करती है। नियम का पालन करना मौलिकता और रचनात्मक शक्ति के अभाव का बहाना हो जाता है। इसके विपरीत रोमान्सिक मनोवृत्ति, आकस्मिक विचित्रता और अनियमितता मे आनन्द लेती हैं। वह नीरसता और अपरिवर्तनशीलता की उपेक्षा करती है। उसकी खोज आनन्दमय अनेकरूपता और नियम के अपवाद की होती है। छाँट की ओर नही, वरन् वैपुल्य की ओर उसकी रुचि होती है। वह समष्टि से विमुख हो अश का पक्षपात लेती है। वह अपूर्णता की परवाह नही करती क्योकि वह सब प्रकार के प्रतिबन्धो से अपने को मुक्त समझती है। वह अव्यक्त को व्यक्त करने का प्रयास करती रहती है और सदा दूर की किसी वस्तु की ओर दृष्टि लगाये रहती है।

आधुनिक आलोचना शास्त्रीयता और रोमान्सिकता को एक-दूसरे का विरोधी नही मानती है। वह रोमान्सिकता और यथार्थता को एक-दूसरे का विरोधी मानती है।

रोमान्स मनुष्यो को ऐसे चित्रित करता है जैसे वे होना चाहते है, यथार्थ उन्हे ऐसे चित्रित करता है जैसे वे है। रोमान्स जीवन का आदर्शीकरण करता है, यथार्थ जीवन को समझता है। रोमान्स का जोर आन्तरिक अनुभव पर होता है जैसे ब्लेक के छायावाद मे, बाइरन के आत्माभिमान मे, और नीटशे के निराशावाद मे, यथार्थ का जोर वाह्यानुभव पर होता है अर्थात् वह जीवन को ऐसा वर्णित करता है जैसा वह हमे इन्द्रियो द्वारा प्रतीत होता है जैसे फ्लोबर्ट के मध्यश्रेणी जीवन के चित्रण मे, वा जोला के मानुषी स्वभाव के पाशविक पहलू पर ध्यान देने मे या डिकिंस के मानवहित और विशेषतया इङ्गलैण्ड के सामाजिक सुधार की ओर रुचि मे। रोमान्स जीवन से, उसकी निकटतम परिस्थितियो से, उसकी क्षुद्र निर्विशेषता से, वा उसके नैराश्य से पलायन है, यथार्थ जीवन की तुच्छ से तुच्छ अवस्थाओ को ग्रहण करता है, न कुरूपता से झिझकता है, न अधम से, न अश्लील से, और अकथनीय को कह डालने का प्रयास करता है। रोमान्स अपनी पुष्टि धर्म से, व्यक्त्यर्थप्राधान्यवाद से और अनुभवातीत तत्त्वज्ञान से लेता है, यथार्थ अपनी पुष्टि विज्ञान से, मानवहितप्राधान्यवाद से, और चेष्टाप्रधान मनोविज्ञान से लेता है। रचनाकौशल के विचार से, रोमान्स चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व देता है और यथार्थ कार्य-प्रदर्शन को। गोकि यह भेद यो निष्फल हो जाता है कि चरित्र-घटना के निर्धारण के अतिरिक्त कोई और वस्तु नही है और घटना चरित्र के निदर्शन के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नही है। आगे, रोमान्सिक लेखक अपने विषय से अपने ब्यौरे निकालता है और यथार्थवादी लेखक अपने ब्यौरो से विषय पर पहुचता है। इस पिछले भेद की पुष्टि मनोविज्ञान भी करता है। एक प्रकार का मनुष्य होता है जो धीरे-धीरे रचनात्मक सश्लेषण करने मे समर्थ होता है, और दूसरी तरह का मनुष्य होता है जो समष्टि का दर्शन सीधे एक क्षण मे करता है और अपने ब्यौरे प्रयुक्त करता है। पहले प्रकार के मनुष्य को हम मननशील कहते है और दूसरे प्रकार के मनुष्य को अन्तर्दर्शक कहते हैं। यथार्थवादी पहले प्रकार का मनुष्य होता है और रोमान्सवादी दूसरे प्रकार का। यदि रोमान्स और यथार्थवाद का शास्त्रीयवाद से भेद करे तो हम कह सकते हैं कि जैसे रोमान्सवाद जीवन को भावनामय देखता है, यथार्थवाद जीवन को ज्यो का त्यो देखता है, शास्त्रीयवाद जीवन को वैसा देखता है जैसा वह होना चाहिये। सुधरा हुआ शास्त्रवाद सस्कृति के यूनानी और रोमी मानदण्डो को महत्त्व नही देता वरन् जीवन को पुराने अनुभव के प्रकाश मे देखता है। परम्परा और अनुशासन के मानने से शिष्टता आती है। व्यक्तिगत मत को सन्दिग्ध माना जाता है। कला को उदासीन और अवैयक्तिक होना चाहिये। भावना से, जो मनुष्य-मनुष्य की भिन्न होती है, शास्त्रीयता डरती है और तर्कसम्मत बुद्धि को जो सब मनुष्यो के अनुभवो का सामान्य गुणक है, शास्त्रीयता ठीक समझती है।

४

अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध का सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक वातावरण सुधरी हुई शास्त्रीयता के लिए विशेषतया उपयुक्त था। इस काल के मनुष्यो का विचार था कि सभ्यता समाज के ऊपरी दायरे तक सीमित है। इस दायरे से बाहर के सब मनुष्यो को वे अशिष्ट और पाशविक समझते थे। प्रत्यानयन का समाज अनियताचार के कारण भ्रष्ट हो गया था और इसी भ्रष्टाचार की प्रतिक्रिया मे शिष्ट समाज प्रत्येक व्यापार मे प्रशमन पसन्द करने लगा था। उन्हे उत्साह से ही नही वरन् धार्मिक गम्भीरता से भी भय था। उनके धार्मिक सिद्धान्त सदाशय और उपयोगिता के थे और प्रत्येक विचार को सिद्ध करने के लिए उनकी लगन तर्क की ओर रहती थी। उनका साहित्य अनन्तर्वेगीय था और उनका पद्य नीरस था। आवेगो से उन्हे घृणा थी और रचनात्मक शक्ति पर उनका कोई विश्वास न था। वे अभिव्यक्ति की चारुता और शुद्धता के लिये सब कुछ त्यागने को तैयार थे। इस धारणा की पुष्टि उन्हे प्राचीन साहित्य से मिलती थी। फलत उन्होने अपने आलोचनात्मक सिद्धान्त प्राचीन साहित्य से लिये और इन्ही सिद्धान्तो को उन्होने इतना व्यापक बनाने की कोशिश की जितनी वे कर सकते थे। उनमे इतना समझने की बुद्धि नही थी कि साहित्य भी जीवन की तरह वृद्धि की ओर अग्रसर होता है, और वे सिद्धान्त जो नया साहित्य सुझाता है उतने ही, अथवा उतने से भी अधिक, महत्त्वपूर्ण है जो पुराना साहित्य सुझाता है। उनमे यह भी समझने की क्षमता न थी कि प्रतिभा प्रकृति की देन है, और उसे नियम बनाकर उनसे नियन्त्रण करना ऐसी शक्ति को नियन्त्रित करने की ष्टता दिखाना है जो नियन्त्रित नही हो सकती। वर्ड्सवर्थ पर्यालोचको के अभ्यास पर शोक करता हुआ कहता है कि प्रत्येक लेखक जो महान् और मौलिक है, अपनी कृति मे कुछ ऐसी बातो का समावेश करता है जो उसके पूर्वजो मे मिलती है और ये बाते पुराने मान-दण्डो से जाँची जा सकती है, परन्तु जो बाते विशिष्ट रूप से उसकी ही है, उन्हे जाँचने के मानदण्ड वह स्वय सुझाता है।

ऐसे ही सीधे सिद्धान्तो की अनभिज्ञता के कारण पुराने समय मे आलोचको ने साहित्य के मूल्य पर ऐसे निर्णय दिये जो मौलिक साहित्य के उत्पादन मे बाधक साबित हुए। धीरे-धीरे आलोचको ने लेखको को नियम देने के बजाय उनमे नियम लेना सीखा। जैसा हम पहले कह चुके है, आदि के आलोचक किसी कृति की तुलना ग्रीक अथवा लैटिन की अत्युत्तम कृतियो से करते थे और समीक्षा के लिए उन नियमो का प्रयोग करते थे जो ग्रीक अथवा लैटिन के साहित्य पर आधारित थे। फ्रान्स के आलोचक बोयलो ने यह स्वीकार किया कि कोर्निल के करुण प्रशसनीय थे, फिर भी उसने उनका इस विचार से तिरस्कार किया कि अरिस्टॉटल के कथनानुसार करुण के स्थायीभाव शोक और भय है, प्रशंसा नही। कोर्निल की यह आलोचना बडी महत्त्वपूर्ण है। उस समय के साहित्यिक समाज ने कोर्निल को मौलिकता से शून्य कहा और फ्रेञ्च एकेडेमी को इसी पक्ष मे अपना निर्णय

देने के लिये मजबूर किया। कोर्निल पर इस निर्णय का कोई बुरा प्रभाव न पड़ा। उसने एक ऐसा करुण लिखना आरम्भ किया जिसमे कोई आशय न था परन्तु जिसमे नियमो का सयत्न पालन हुआ था। नियमो का इससे अधिक और क्या तिरस्कार हो सकता था? रायमर शास्त्रीयता का कट्टर अनुयायी अवश्य था परन्तु गम्भीर आलोचक शास्त्रीय वृत्ति के होते हुए भी शास्त्रीय नियमो की पूर्णता के अविश्वासी थे। ड्राइडन, पोप, एडीसन और जॉन्सन को मानना पड़ा कि साहित्यिक उत्कृष्टता तरह-तरह की हो सकती है, एक ही तरह की नही। स्विफ्ट ने जिस कुत्सनापूर्वक हास्य के साथ प्राचीन और आधुनिक लेखको के झगड़े को अपनी 'द बैटिल ऑफ द बुक्स' मे लिया, उससे विदित होता है कि आधुनिक-लेखक आलोचको और साहित्य के प्रेमियो को ऐसी तुष्टि दे रहे थे जिससे शास्त्रीय लेखक शास्त्रीयता के प्रति अपनी ऐकान्तिक आस्था मे हिलने लगे थे। इस बात की सिद्धि से कि नियमो के दो भिन्न गण हो सकते है, आलोचको को यह सूझ हुई कि साहित्यिक सौन्दर्य ही मुख्य प्रयोजन है और रचना के नियम केवल साधन है। इस प्रकार आलोचना का झुकाव ऐसे नियमो के परिपालन की ओर से जो पुराने साहित्य पर आधारित थे, सौन्दर्य के उन नियमो की ओर हुआ जो कलाविषयक सब कृतियो की रचना को नियन्त्रित करते है।

रचनाकौशल सम्बन्धी नियमो की ओर से साहित्यिक सौन्दर्य के नियमो की ओर आना—आलोचना का यह झुकाव स्वाभाविक है। दोनो पद्धतियो का सामान्य गुणक सार्वजनिक सम्मति है। रचनाकौशल सम्बन्धी नियम उन कृतियो से निकाले गये थे जो सर्वोत्कृष्ट थी और जिनकी सराहना सब लोग करते थे। और वही वास्तव मे सुन्दर है जिसकी सराहना देश और काल से सीमित नही है। पुरानी साहित्यिक कृतियो मे सौन्दर्य था। भ्रान्ति इस बात मे थी कि उन्हे यह न सूझा कि सौन्दर्य के अनन्त आविर्भाव हो सकते है और समय अपनी प्रगति मे उन आविर्भावो का प्रदर्शन करता है। नियमो की अपर्याप्ति निस्सन्देह एक महात्त्वपूर्ण कारण था जिसने आलोचना को सौन्दर्यमीमासाविषयक मानदण्डो की ओर झुकाया। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण इस सिद्धान्त की आनुक्रमिक सिद्धि थी कि समस्त कला अभिव्यक्ति है। यूनानियो का विश्वास था कि साहित्य रचनात्मक शक्ति की अपरिहार्य अभिव्यक्ति नही है किन्तु वह जीवन के उपादानो का वास्तविक अथवा काल्पनिक अनुकरण है। अत कलात्मक उत्कृष्टता की जॉच उनके मतानुसार जीवन का अनुकरण थी, जहाँ तक कला मे जीवन का अनुकरण ठीक हो, वहाँ तक कला उत्कृष्ट मानी जाय। रोम के मनुष्य व्यावहारिक थे। उनके विचार इस उद्देश्य पर केन्द्रित थे कि वे एक वृहद् रोमी साम्राज्य की स्थापना करे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नवयुवको को उपयुक्त शिक्षा दे। स्वभावत उन्होने साहित्य को एक ऐसी उदात्त कला मानी जो मनुष्यो को उच्चादर्शो से प्रेरित कर सकती है। अत साहित्य की परख के लिये उनका मानदण्ड राजनीतिक और सामाजिक उपयोगिता था। मध्यकालीन लेखक अपने साहित्य और अपनी कला को धार्मिक और नैतिक उद्देश्यो की पूर्ति का

साधन समझते थे। अत उनका आलोचनात्मक मानदण्ड उपदेशपरक था। पुनरुत्थान और नवशास्त्रीय काल के मनुष्य कला को शिल्पवत् समझते थे, जिसकी सिद्धि शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन और यूनानी तथा रोमी कला की परम्परा के अनुसरण से हो सकती है। उसका आलोचनात्मक मानदण्ड शास्त्रीय था। आधुनिक काल की प्रवृत्ति कला को अभिव्यक्ति मानने की है। मैडेम डै स्टील साहित्य को समाज की अभिव्यक्ति मानती है। शैली कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति मानता है। सेण्ट ब्यूव का सिद्धान्त है कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। जौन स्टुआर्ट मिल का विचार है कि कविता अन्तर्वेगो की अभिव्यक्ति है। टेन ने यह सिद्ध किया कि साहित्य जाति, परिस्थिति और काल की अभिव्यक्ति है। एनातोल फ्रान्स और जल्स लैमेटर ने यह विचार विस्तृत किया कि साहित्य मन के तत्क्षणिक सस्कारो की अभिव्यक्ति है। क्रोचे कला को सहजज्ञानात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति मानता है। टॉल्सटॉय की धारणा है कि कला ऐसे अन्तर्वेग की अभिव्यक्ति है जिसकी अनुभूति कलाकार को हुई हो और जो दर्शक अथवा पाठक को निवेदित हुई हो। रस्किन कविता को वस्तु की ऐसी सङ्गीतात्मक अभिव्यक्ति मानता है जिससे पाठक मे कल्पना द्वारा श्रेष्ठ अन्तर्वेगो की जागृति सम्भव हो। बोसाङ्के और लैस्लज़ि एबर्क्रोम्बी कला को सौन्दर्य मीमासाविषयक अनुभव की अभिव्यक्ति मानते है। इन सब परिभाषाओ मे कविता, अथवा साहित्य, अथवा कला किसी न किसी ऐसी वस्तु की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य के मन के भीतर अथवा बाहर हो। प्रत्यक्ष है कि कला के मूल्य मापने के आधुनिक मानदण्ड अभिव्यक्ति के नियम है। अब कला की स्थापना पूरी तरह से कलामीमासाविषयक आधार पर हो जाती है और इस स्थापना के साथ-साथ ही आलोचना एकदेशीय प्रामाण्य के नियमो से ऊपर उठकर व्यापक प्रामाण्य के कलामीमासाविषयक सिद्धान्तो को ग्रहण करती है।

५

कलामीमासा (एस्थैटिक्स), अन्तर्दृष्टि (इण्ट्यूटिव) अथवा व्यञ्जक (एक्स-प्रेसिव) ज्ञान का विज्ञान है। वह साधारण विज्ञान अथवा प्राज्ञ (इण्टिलैक्चुअल) ज्ञान से अलग पहचाना जा सकता है। प्राज्ञ ज्ञान प्रत्ययो (कन्सैप्ट्स) अथवा सजातीय (स्पैसीफिक) उदाहरणो के साधारणीकरणो पर आधारित है, अन्तर्दृष्टि ज्ञान केवल सवेदनाओ (सैन्सेशस) पर आधारित है और उनकी अन्तःकरण द्वारा एकीकृत अभिव्यक्ति मात्र है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि मीमासा व्यक्तिकरण (इण्डीविजुलाइ-जेशन) करती है, जैसे विज्ञान साधारणीकरण करता है। क्योकि प्रत्ययो की उपलब्धि एक ही जाति के व्यक्तियो के सादृश्य के प्रत्यक्षीकरण से होती है, बिना कलामीमासा की सहायता के असम्भव है। इस प्रकार कलामीमासा विज्ञान की उपकारक है।

फिर भी, कलामीमासाविषयक व्यक्तीकरण अथवा अन्तर्दृष्टि मे प्रत्ययो का समावेश हो सकता है। निस्सन्देह ऐसी भी अन्तर्दृष्टियाँ जिनमे प्रत्यय नही होते, जैसे सूर्यास्त का

दृश्य, ग्राम्य-दृश्य, प्रदेश, अथवा स्वयप्रवृत्त शोक । परन्तु सुसस्कृत मनुष्य की अन्तर्दृष्टियाँ बहुधा प्रत्ययो से समाविष्ट होती है । शेक्सपिअर की हैम्लैट की अन्तर्दृष्टि, जैसे वह डैन्मार्क के कूट वातावरण मे क्लौडिअस के विनाश के लिये आगे बढता है, बहुत से प्रत्ययो से भरी हुई है, विशेषतया स्वगतवचनो मे । 'पैरैडाइज लॉस्ट' मे एडम की अन्तर्दृष्टि वा 'पैरैडाइज रिगेएड' मे क्राइस्ट की अन्तर्दृष्टि प्रत्ययो से विस्तृत है । परन्तु ऐसी कृतियो मे प्रत्यय किसी अन्तर्दृष्टि के सरल तत्त्व की तरह देखे जाते है और ज्ञान की किसी विशेष व्यवस्था के अङ्गो की तरह नही देखे जाते । ऐसे उदाहरण जिनमे ज्ञान की किसी विशेष व्यवस्था के निर्माण के लिये अन्तर्दृष्टियो का उपयोग किया गया हो, प्लैटो या शोपनहावर की दार्शनिक कृतियो मे मिलते है । जेसे ही वे अपनी व्यवस्थाओ का निर्माण करते है, वे अन्तर्दृष्टियो का अधिकता से प्रयोग करते है, परन्तु उनकी कृतियो मे से प्रत्येक का परिणाम उसी प्रकार प्रत्यय की सिद्धि है, जिस प्रकार किसी प्रत्ययपूर्ण करुण नाटक या महाकाव्य का परिणाम अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि होती है ।

अन्तर्दृष्टि की प्रत्ययो से स्वतन्त्रता स्थापित करना ही अन्तर्दृष्टि के ठीक बोध होने के लिये पर्याप्त नही है । बहुत से व्यक्ति यह जानते है कि अन्तर्दृष्टि प्रज्ञा (इण्टिलैक्ट) पर निर्भर नही है, फिर भी वे उसके उचित अर्थ को नही समझ पाते । कभी-कभी अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्षीकरण वा प्राकृतिक वस्तुओ का ज्ञान समझा जाता है । प्रत्यक्षीकरण अन्तर्दृष्टि अवश्य है । बस भेद इतना है कि प्रत्यक्षीकरण प्रकृत वस्तु का होता है और अन्तर्दृष्टि प्रकृत और अप्रकृत दोनो प्रकार की वस्तुओ की होती है । यदि किसी कारण से मनुष्य का मन अपने सब अनुभवो को बिल्कुल भूल जाय और इसके परिणामस्वरूप प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओ के पहचानने की क्षमता उसमे नष्ट हो जाय, तो उसके सब प्रत्यक्षीकरण अन्तर्दृष्टियाँ होगे । अन्तर्दृष्टि मे हम बतौर अननुभवशील पुरुष के अपने सस्कारो का विषयीकरण करते है । अगली भ्रान्ति यह समझने की है कि अन्तर्दृष्टि की क्रिया मे हम अपने सवेदनो को देश (स्पेस) और काल (टाइम) से व्यवस्थित करते है । ऐसी

एस्थैटिक्स अँगरेजी मे अब कलामीमांसा के अर्थ मे प्रयुक्त होता जा रहा है । इस शब्द का अनुवाद सौन्दर्यशास्त्र हो सकता है परन्तु हमे यह अनुवाद बिल्कुल ठीक न मालूम हुआ । इसीलिये हमने इसका अनुवाद कलामीमासा किया । एस्थैटिक्स सज्ञा भी है और विशेषण भी । जहाँ एस्थैटिक्स विशेषण के अर्थ मे आया है वहाँ अनुवाद कलामीमासा-सम्बन्धी अथवा कलामीमासा-विषयक है । अँगरेजी एस्थैटिक्स कभी-कभी कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति के लिये भी आता है । जहाँ एस्थैटिक्स इस अर्थ मे प्रयुक्त है वहाँ उसका अनुवाद कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति है । हमारी समझ मे एस्थैटिक्स शब्द को अपना लेना चाहिये। हमने जहाँ-तहाँ एस्थैटिक्स शब्द का प्रयोग किया भी है । सौन्दर्य कला ही मे होता है । प्राकृतिक सौन्दर्य मे प्रकृति कलाकार का स्थान ले लेती है और सौन्दर्य के अनुभव मे मानसिक प्रतिक्रिया वही होती है जो कलात्मक सौन्दर्य के अनुभव मे ।

अन्तर्दृष्टियो मे जैसी कि किसी फूल के रङ्ग की अथवा किसी शोक की आह की न हम देशीयता करते है न कालिकता। हमारी जिन अन्तर्दृष्टियो मे देश अथवा काल का समावेश होता है, उनमे देश अथवा काल वस्तु सदृश होता है, रूपात्मक लक्षण की तरह नही होता। जब हम कोई सुन्दर चित्र देखते है, तो हमे देश की चेतना नही होती, जब हम कोई सुन्दर कहानी सुनते है, तो हमे कला की चेतना नही होती। अन्तर्दृष्टि स्वभाव का निरूपण करती है, देशीयता अथवा कालिकता का नही। अन्तर्दृष्टि को हमे सवेदना से भी अलग पहचानना चाहिये। सवेदना प्रकृति है। जब अन्त करण (स्पिरिट) सवेदना पर क्रियाशील होता है और उसे रूप प्रदान करता है, तब वह स्पष्ट अन्तर्दृष्टि हो जाती है। प्रत्यक्ष है कि अन्तर्दृष्टि मे प्रकृति और अन्त करण का योग होता है। कभी-कभी भ्रान्ति से अन्तर्दृष्टि सवेदनाओ का साहचर्य (एसोसियेशन) समझी जाती है। अन्तर्दृष्टि सवेदनाओ का साहचर्य अवश्य है, परन्तु स्मृति मे प्राप्त सवेदनाओ का नही या ऐसी सवेदनाओ का नही जो स्वत खिची आये। अन्तर्दृष्टि उत्पादक (प्रोडक्टिव) साहचर्य है जो वास्तव मे अन्त करण की क्रियाशीलता से सश्लेषण के रूप मे उपस्थित होता है। अन्त मे हमे अन्तर्दृष्टि को प्रतिरूप अथवा प्रतिमूर्ति (रेप्रेजेण्टेशन) से अलग पहचानना चाहिये। यदि प्रतिरूप को सवेदनाओ का ऐसा चेतन विस्तार समझा जाय जो मानसिक दृष्टि को सवेदनाओ से कटा हुआ अलग दिखाई दे तो ऐसा प्रतिरूप अन्तर्दृष्टि है। यदि प्रतिरूप को केवल जटिल सवेदनाएँ समझा जाय तो वह अन्तर्दृष्टि नही है। यदि सवेदनाओ को हम पहले दर्जे का मनोत्पादन माने तो उनके सम्बन्ध मे हम प्रतिरूप को सीमित अर्थ मे ही दूसरे दर्जे का मनोत्पादन कह सकते हैं। यदि दूसरे दर्जे के आशय मे रूपात्मक भेद का समावेश है, तो प्रत्येक प्रतिरूप, क्योकि वह सवेदनाओ से विस्तृत है, अन्तर्दृष्टि है। परन्तु यदि दूसरे दर्जे के आशय मे मात्रा सम्बन्धी भेद है तो प्रतिरूप अन्तर्दृष्टि नही है। और फिर, यदि दूसरे दर्जे से मतलब अधिक जटिलता का हो तो प्रतिरूप ऐसे अर्थ मे केवल प्रकृति है, अत सवेदना है अन्तर्दृष्टि नही है। क्योकि प्रत्येक अन्तर्दृष्टि का विषयीकरण मानसिक अभिव्यक्ति मे होता है, अन्तर्दृष्टि आन्तरिक अभिव्यक्ति है। जिस सवेदना का विषयीकरण नही हो पाता वह कोरी सवेदना है। अन्त करण अभिव्यक्त करने मे ही अन्तर्दृष्टि करता है। अत जानना अभिव्यक्त करना है। कभी-कभी यह सुनने मे आता है कि अमुक व्यक्ति जानता बहुत कुछ है परन्तु वह अपने ज्ञान को अभिव्यक्त नही कर सकता। यह मनोवैज्ञानिक रीति से अयुक्त है। यदि किसी को अपने सञ्चित द्रव्य के विषय मे भ्रम हो तो हम उससे कह सकते है कि उसे गिनो। हिसाब लगते ही भ्रम दूर हो जायगा। इसी प्रकार यदि किसी को अपने विचारो और प्रतिमाओ के विषय मे भ्रम हो तो हम उससे कह सकते है कि उसे अभिव्यक्त करो। अभिव्यक्ति की कसौटी पर चढते ही उसके ज्ञान की परीक्षा हो जायगी कि उसका इतना ज्ञान खरा है इतना खोटा।

कला अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है। अन्तर्दृष्टि ऐसे सस्कारो की विस्तृति है जिनका अन्त करण द्वारा एकीकरण हो चुका है। कला वाह्य अभिव्यक्ति है, क्योकि कला का उद्भव उस मूल प्रवृति मे है जो अन्तर्दृष्टि को बहिस्थ करने मे तत्पर होती है। कला अपनी सम्पूर्णता को तब प्राप्त होती है, जब वह अन्तर्दृष्टि को ज्यो की त्यो अभिव्यक्त करने मे समर्थ होती है, जब वह आभ्यन्तर दर्शन का अपने माध्यम मे फोटोग्राफ होती है। यह निश्चय रूप से असम्भव है। कला आध्यात्मिक अनुभवो की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे प्रतीको का प्रयोग करती है जो अनाध्यात्मिक है। किसी भी अनाध्यात्मिक माध्यम मे आध्यात्मिक वस्तु को व्यक्त करने मे उस वस्तु की हानि अवश्य होगी। स्पष्ट है कि समस्त कला सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव को निवेदन करने की दशा तक पहुँचने का प्रयास करती है। क्रोचे कला को शुद्ध अन्तर्दृष्टि से सीमित करता है। वह अन्तर्दृष्टि की वाह्य अभिव्यक्ति को कला मानने से इनकार करता है, क्योकि वाह्य अभिव्यक्ति तो उसके मतानुसार व्यावहारिक इच्छा (प्रैक्टीकल विल) का फल है, उस इच्छा का जिसकी पूर्ति के द्वारा हम अपनी अन्तर्दृष्टियो को अपने और दूसरो के लिये सदा सुरक्षित रखना चाहते है। क्रोचे का यह मत इस तथ्य का साक्षी है कि कला की सम्पूर्णता स्वय अन्तर्दृष्टि है। उसका यह मत पेटर के इस कथन की भी पुष्टि करता है कि सर्व सौन्दर्य अन्त मे सत्य की सूक्ष्मता है, जिसे हम अभिव्यक्ति कह सकते है, अथवा जिसे हम आभ्यन्तर दर्शन के हित मे भाषा की सूक्ष्मतर उपयुक्तता कह सकते है। कला के विषय मे यह मत कि वह अन्तर्दृष्टि की विस्तृति है वा अन्तर्दृष्टि की अन्तर्दृष्टि है, गलत है। कलात्मक प्रतिभा तो अनुभव की आध्यात्मिक व्यवस्थिति है। विविध प्रकार के अनुभवो की एकीकृत व्यवस्थिति से उत्पन्न हुई मन की जितनी जटिल स्थितियो को कलात्मक प्रतिभा अभिव्यक्त करेगी, उतनी ही उत्कृष्ट होगी। साधारण पुरुष अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी भ्रमणक्षेत्र मे ही नही वरन् अन्तर्दृष्टियो को सुगमता से व्यक्त करने की क्षमता मे भी असमर्थ होता है। इस विचार से कलाकार और साधारण पुरुष मे भेद केवल मात्रा सम्बन्धी (क्वाण्टिटेटिव) है, गुणसम्बन्धी (क्वालिटेटिव) नही और यह उक्ति कि कवि जन्म से होता है, यो समझनी चाहिये कि कुछ मनुष्य जन्म से बडे कवि होते है और कुछ मनुष्य छोटे कवि। यदि कवि को जाति मे भिन्न माना जाय तो उसे कोई मनुष्य न समझ सकेगा, और यदि वह ऐसे बने जैसे कि आरम्भ की उन्नीसवी शताब्दी के रोमान्सिक कवि बनते थे तो वह उपहास्य होगा।

सर्व ज्ञान कला और विज्ञान या तत्त्वज्ञान के भीतर आ जाता है। इनके साथ इतिहास की गणना भी हो सकती है। प्रकृत ससार घटित वस्तुओ का ससार है, मूर्त्तता का ससार है, ऐतिहासिक तथ्य का ससार है। प्रकृत सज्ञा मे भौतिक तथ्य और आध्यात्मिक अथवा मानुषिक तथ्य दोनो का समावेश है। समस्त प्रकृत ससार अन्तर्दृष्टि है, वह ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि है यदि उसे ऐसे प्रकट किया जाय जैसे वह यथार्थ मे है।

वह कलात्मक अन्तर्दृष्टि है यदि उसे सम्भाव्य के रूप मे प्रकट किया जाय अर्थात् कल्पना के विषय के रूप मे। जब कि कला व्यक्तिश अन्तर्दृष्टि है, विज्ञान सर्वश प्रत्यय है। विज्ञान आत्मा का है, अर्थात् उस वास्तविकता का है जो व्यापक है। विज्ञान, तत्त्वज्ञान है। भौतिक विज्ञान सम्पूर्ण नही है क्योकि वे उन प्रतिपत्तियो की राशियाँ है जिनका समाहरण स्वेच्छा से हुआ है और जो स्थिर हो गई है। वे मापती है, गिनती है, वर्गीकरण करती है, एकरूपताओ की स्थापना करती है, नियमो का प्रतिपादन करती है, और उत्पत्तियो की खोज करती है, परन्तु यह सब करती हुई वे निरन्तर उन तथ्यो मे प्रवेश करती है जिनका ज्ञान अन्तर्दृष्टि अथवा इतिहास द्वारा होता है। ये अन्तर्दृष्टि अथवा इतिहास द्वारा ज्ञात तथ्य विज्ञानो के प्रतिबन्धक हे। इन्ही की प्रतिबन्धकता के कारण विज्ञान द्वारा खोजा हुआ सत्य सदा के लिये अमर सत्य नही होता। एक समय का प्रामाणिक सत्य आगे चलकर पौराणिक विश्वास अथवा स्वच्छन्द मिथ्यामति के स्तर पर आ जाता है। वैज्ञानिक लोग स्वय कहते हे कि उनकी उपपत्ति के आधार पौराणिक तथ्य, शाब्दिक हितोपाय अथवा रूढियाँ है। गणितविषयक विज्ञान तो स्पष्टतया कल्पनाओ पर आधारित है। भौतिक विज्ञानो मे जो कुछ सच है वह या तो तत्त्वज्ञान है या ऐतिहासिक तथ्य है। यह सिद्ध है कि ज्ञान के दो प्रधान रूप अन्तर्दृष्टि और प्रत्यय है—कला और विज्ञान या तत्त्वज्ञान। इतिहास प्रत्यय के सम्पर्क मे आई हुई अन्तर्दृष्टि की उत्पादित वस्तु है अर्थात् मूर्त्त और व्यक्तिगत होता हुआ इतिहास दार्शनिक विशेषता पाई हुई कला से उत्पादित है। अन्तर्दृष्टि हमे भौतिक ससार का ज्ञान देती है और प्रत्यय हमे आध्यात्मिक ससार का ज्ञान देता हे, और दोनो के अन्तर्गत आत्मा का समस्त औपपत्तिक (थ्यौरैटिक) ज्ञान आता है।

अब औपपत्तिक वृत्ति का व्यावहारिक वृत्ति से सम्बन्ध स्थापित करना शेष है। व्यवहार का स्रोत इच्छा अथवा क्रियात्मक शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति के औपपत्तिक धर्म से हम वस्तुओ को समझते है और उसी शक्ति के व्यावहारिक धर्म से हम उन्हे परिवर्तित करते है। परन्तु पहला धर्म दूसरे धर्म का प्रारम्भपद है। जैसे अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यय द्वारा प्राप्त ज्ञान का उपकारक है, वैसे ही औपपत्तिक ज्ञान व्यावहारिक क्रियाशीलता का उपकारक है। एक एक करके सब वस्तुओ और वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध को जाने बिना सङ्कल्प करना सम्भव नही है। यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक मनुष्यो की वृत्ति उपपत्ति करने की नही होती है, कि उनकी समस्त शक्ति एकदम क्रिया मे लग जाती है। यह गलत है। व्यावहारिक मनुष्य को चाहे किसी दार्शनिक व्यवस्था का कोई ज्ञान न हो, परन्तु जिस क्षेत्र मे वह काम करता है उसमे उसके प्रत्यक्षीकरण और उसके प्रत्यय बिल्कुल साफ होते है। यदि ऐसा न हो तो वह सङ्कलप करने मे असमर्थ होगा। जहाँ वस्तुओ का ज्ञान और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अपूर्ण होता है वहाँ या तो क्रिया होती ही नही और यदि होती है तो रुक जाती है।

सफल क्रियाशील मनुष्य के व्यवहार मे औपपत्तिक क्षण का ध्यान ही नही हो पाता, समस्त कार्यक्रम शीघ्रता से होता है । जब औपपत्तिक क्षण दीर्घ हो जाता है, तब व्यावहारिक मनुष्य करुण पात्र बन जाता है। हैम्लैट की तरह कर्म की इच्छा और परिस्थिति के विषय मे स्पष्टता के बीच वह अकर्मण्य हो जाता है। और यदि उसकी रुचि शुद्ध मनन की ओर हो या वह अन्वेषण के आनन्द मे तुष्टि पाता हो तो वह कलाकार या तत्त्ववेत्ता हो जाता है, दोनो ही कर्मण्यता मे असद् अथवा न्यून होते है। यह प्रत्यक्ष सत्य इस बात को साबित करता है कि कला व्यवहार से बिल्कुल स्वतन्त्र है। व्यवहार एस्थैटिक्स अथवा कलामीमासाविषयक नही है। सस्कारो के सार्थक विस्तार मे एस्थैटिक व्यापार समाप्त हो जाता है। सस्कारो के सार्थक विस्तार से परे कोई वस्तु एस्थैटिक नही है। यदि कलात्मक अभिव्यक्ति स्वयप्रवर्तित न हो बल्कि एस्थैटिक अनुभव को स्थिर करने का चेतन प्रयास हो तो ऐसी कला भी कला नही है। एस्थैटिक व्यापार अर्थात् आन्तरिक अभिव्यक्ति के एकदम वाह्य अभिव्यक्ति मे अनूदित होने से कलात्मक तथ्य की सिद्धि होती है। इस विचार से कला के प्रयोजन की खोज उपहास्य हो जाती है। अभिव्यक्ति मुक्त अन्तर्प्रेरणा है। कलाकार किसी विशेष प्रकार की अथवा किमी विशेष मूल्य की विषयवस्तु की खोज मे नही रहता। यदि कोई आलोचक किमी कलाकृति की इस विचार से निन्दा करता है कि उसकी विषयवस्तु हानिकारक अथवा अनीतिक है तो उसका विचार कलामीमासाविषयक नही माना जायगा, अयोग्य माना जायगा। यदि कुरूपता, दुराचार, अथवा दुराग्रह की अभिव्यक्ति सुनिपुण हो, तो कला उत्तम मानी जायगी और आलोचक अपना निर्णय उस कला के अनुकूल देगा। कलाकार जीवन के अनुभव मे किसी प्रकार का निरोध नही दिखाता, ऊँच-नीच, भला-बुरा, मफलता-विफलता सब उसको ग्राह्य है और सब को व्यवस्थित करके वह सुन्दर बना देता है। कुरूपता, बुराई और विफलता, सुन्दरता, भलाई और सफलता की तरह गोकि सापेक्ष है पर जेसे सुन्दरता, भलाई, और सफलता की प्रतीति होती है वैसे ही कुरूपता, बुराई और विफलता की भी प्रतीति होती हे और यदि कोई कलाकार इनसे प्रेरित होता है और उनकी अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाता है तो कला की दृष्टि से वह कोई दुराग्रह का प्रदर्शन नही करता। यदि इसे कोई बुरी कला का समर्थन समझे तो वह भ्रान्ति मे है। कला बुरी तभी कही जायगी जब विषयवस्तु अभिव्यक्ति के पद को नही पहुँच पाती, और कला अनुष्ण और असार कही जायगी यदि उसकी विषयवस्तु सम्पूर्णता से नही समझी गई और अभिव्यक्ति मे सुव्यवस्थित नही है। कलाकार को एक ही नैतिक बन्धन है, निष्कपटता का, आन्तरिक दर्शन के प्रति अभिव्यक्ति मे अन्त तक सच्चा रहे आने का। तत्त्वत कला विज्ञान से, उपयोगिता से, नैतिकता से युक्त है। कला अनेकदा विज्ञान के, उपयोगिता के, और नैतिकता के सानुकुल होती है—यह अनत्त्वत है। इस सानुकूलता मे कोई अनिवार्यता नही है, कला मे और विज्ञान या उपयोगिता या नैतिकता मे कोई तादात्म्य नही।

औपपत्तिक क्रियाशीलता द्विगुण है, एस्थैटिक और तार्किक। इसी प्रकार व्यावहारिक

क्रियाशीलता द्विगुण है, आर्थिक (एकौनौमिक) और नैतिक। हम कह सकते है कि अर्थ व्यावहारिक जीवन की एस्थैटिक्स है और नीति उसका तर्क है। जब हम किसी प्रयोजन की सिद्धि का सङ्कल्प नैतिक धर्म से पूर्णतया उदासीन होकर करते है, तब हमार। सङ्कल्प आर्थिक होता है, जब हम किसी उपपन्न (रैशनल) प्रयोजन की सिद्धि का सङ्कल्प करते है, तब हमारा सङ्कल्प नैतिक होता है। नैतिकता से सङ्कल्प करना आर्थिकता से सङ्कल्प करना भी है, गोकि आर्थिकता से सङ्कल्प करना अनिवार्यत नैतिकता से सङ्कल्प करना नही है। मैकीएवैली का सीजर बोर्जिया, शेक्सपिअर का इआगो और बुकैशियो का सर साइपैलैटो अपने प्रयोजनो की सिद्धि मे बडे प्रबल सङ्कल्प से सलग्न होते है। उनकी क्रियाशीलता आर्थिक है, नैतिक नही। नैतिक मनुष्य मे आर्थिक मनुष्य का-सा साहस और अभिनिवेश तो होता है ही, उसमे इन गुणो के साथ-साथ सन्त या वीर की-सी धर्मपरायणता भी होती है। यदि आर्थिक मनुष्य विफल होता है, तो उसका पछतावा आर्थिक ही होता है, परन्तु यदि नैतिक मनुष्य विफल होता है, तो उसका पछतावा नैतिक भी होता है और आर्थिक भी होता है। नैतिक मनुष्य मे आर्थिक मनुष्य का भी समावेश होता है। जैसे विज्ञान का आधिपत्य एस्थैटिक अन्तर्दृष्टियो पर है, ठीक वैसे ही नीति का आधिपत्य सङ्कल्प प्रवृत्तियो पर है। हम प्रत्यय पर तब पहुँचते है जब प्रज्ञा बहुत से एस्थैटिक कलामीमासा-सम्बन्धी तथ्यो मे कोई सामान्य गुण का निरीक्षण करती है, इसी प्रकार हम किसी नैतिक नियम तक तब पहुँचते है जब प्रज्ञा बहुत से आर्थिक कार्यो मे किसी सामान्य गुण का निरीक्षण करती है। जैसे प्रत्येक तार्किक कथन का कलामीमासा-सम्बन्धी पहलू होता है वैसे ही प्रत्येक नैतिक कार्य का उपयोगी पहलू होता है। जैसे कलामीमासा-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि प्रतिबोध विषय या प्रकृति को जानती है और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रत्यय प्रतिबोधाधार (नौमिनॉन) या अन्त करण को जानता है, ऐसे ही आर्थिक क्रियाशीलता प्रतिबोध विषय या प्रकृनि का सङ्कल्प करती है और नैतिक क्रियाशीलता प्रतिबोधाधार या अन्त करण का सङ्कल्प करती है। नैतिकता का सार अपने ही का सङ्कल्प करना है।

कलामीमासा-सम्बन्धी, तार्किक, आर्थिक, और नैतिक—ये चारो वृत्तियाँ एक-दूसरे पर आलम्बित है। तार्किक वृत्ति का आलम्ब कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति पर है, आर्थिक वृत्ति का आलम्ब तार्किक वृत्ति पर है, और नैतिक वृत्ति का आलम्ब उसी तरह आर्थिक वृत्ति पर है जिस तरह समस्त व्यावहारिक वृत्ति का आलम्ब समस्त औपपत्तिक वृत्ति पर है। कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति सबसे अधिक स्वतन्त्र है और नैतिक वृत्ति सबसे कम। मानुषिक क्रियाशीलता की इन चारो वृत्तियो के अनुरूप प्रतिभा के चार रूप होते है—कलाकार यानी ऐसे मनुष्य जो अपनी एस्थैटिक अन्तर्दृष्टियो के लिये प्रख्यात होते हैं, जो एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न तत्त्वो मे ऐक्य स्थापित कर देते हैं, तत्त्ववेत्ता या वैज्ञानिक मनुष्य जो तार्किक प्रत्ययो के लिये प्रख्यात होते है, जो प्रत्ययो की सम्पादित

व्यवस्था से उच्चतम प्रत्यय तक पहुँच सकते है, आर्थिक मनुष्य नैतिक विरक्ति के लिये प्रख्यात होते है, जो अपने प्रयोजन की सिद्धि मे विस्मय दिलाने वाली सलग्नता से कार्य करते है, और अन्त मे वीर पुरुष जो अपने नैतिक सङ्कल्प के लिये प्रख्यात होते है, जो अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी अपने आदर्श के लिये त्याग सकते है। पॉचवी प्रकार की प्रतिभा अस्तित्व मे ही नही है क्योकि पॉचवी प्रकार की मानुषिक क्रियाशीलता सम्भव नही है। उदाहरण के तौर पर कानून सम्बन्धी तथ्य आर्थिक और तार्किक क्रियाशीलताओ का सम्मिश्रण है, क्योकि कानून ऐसे सूत्र (फॉरम्यूला) के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नही है जिसमे किसी विशेष व्यक्ति अथवा जाति द्वारा सङ्कल्प किया हुआ आर्थिक सम्बन्ध स्थिर किया जाता है। समाजशास्त्र तार्किक और नैतिक क्रियाशीलताओ का सम्मिश्रण माना जा सकता है। धर्म (रिलिजन) क्या है ? वह भी ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नही है, या तो वह व्यावहारिक आकाक्षाओ और आदर्शो की व्याहृति है या वह ऐतिहासिक कथाओ की शृङ्खला है या ऐसा विज्ञान है जो माने हुए प्रत्ययो पर आधारित है। धर्म की जगह को अब तत्त्वज्ञान ले रहा है। पुरानी चाल का धर्म, विज्ञान की प्रगति के साथ अब गायब हो रहा है। हेतुप्राधान्यवादी धर्म अनुपपत्ति भी साफ जाहिर है, वह परस्पर-विरुद्ध बातो को मिलाने का प्रयत्न करता है। तत्त्वज्ञान, धर्म को किसी विशेष समय की सस्कृति के चिह्न की तरह समझता है, वह उसे ऐसी नश्वर ऐतिहासिक वस्तु मानता है, जो समय पर आती है और समय पर चली जाती है, वह उसे ऐसी मानसिक अवस्था मानता है, जो अगली मानसिक अवस्था को चिह्नित करती है। तत्त्वज्ञान कला, इतिहास और भौतिक विज्ञानो के साथ-साथ ज्ञान का भागधर है। जो व्यापक और रूपात्मक नही है, उसका तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विज्ञान नही हो सकता। अत अध्यात्मविद्या (मेटाफिजिक्स) और गूढतत्त्ववाद (मिस्टीसिज्म) असम्भव है। अन्त करण की चारो प्रकार की वृत्तियो मे से एस्थैटिक, तार्किक और नैतिक वृत्तियो की प्रतिपत्ति सब ने की है, क्योकि वे यथादर्श है। शुद्ध आर्थिकता असाधारण है, काव्य अथवा इतिहास मे उल्लिखित ऐसे मनुष्यो की सख्या बहुत कम है जिन्होने बिना किसी नैतिक आदर्श के सफलता से काम किया हो। आर्थिक क्रियाशीलता मानुषिक व्यवहार मे सदा नैतिक क्रियाशीलता से मिली रहती है, क्योकि मनुष्य तत्त्वत नैतिक जीव है, उसका अर्थ नैतिक प्रयोजनो का अर्थ है। यह अर्थशास्त्र के विकास से भी स्पष्ट है जो पहले ऐतिहासिक था, फिर गणितविषयक हुआ, और अब उपयोगी क्रियात्मकता के प्रत्यय के स्तर को पहुँच रहा है।

कलामीमासा का यह विवेचन क्रोचे के ऊपर आधारित है। उसने ही योरुप और अमेरिका की आधुनिक आलोचना पर प्रभाव डाला है। आई० ए० रिचार्ड्स अपनी 'प्रिन्सीपिल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटीसिज्म' मे उस पुराने सिद्धान्त को त्यागता है, जो कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति को और रुचि अथवा भाव की अवधारणा (जजमेण्ट) को एकरूप करता है। दोनो की एकरूपता का विचार उसके मतानुसार कैण्ट से शुरू हुआ। कैण्ट ने जैसे ही सत्य, सुन्दर, और शिव का विचार किया उसने सत्य को औपपत्तिक

बुद्धि से, सुन्दर को भावात्मक मनोवृत्ति से, और शिव को क्रियात्मक मनोवृत्ति से सम्बन्धित किया। आई० ए० रिचार्ड्स को मान्य है कि सत्य का सम्बन्ध औपपत्तिक बुद्धि अथवा विचार (थॉट) से है और शिव और इच्छा (विल) मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु उसे यह मान्य नही कि सुन्दर और भाव मे कोई सम्बन्ध है। उसका कहना है कि सुन्दर को भाव से सम्बन्धित करने के प्रयास मे सारे विषय का विवेचन गडबडा गया है। यह प्रयास आजकल आमतौर से छोड दिया गया है। जैसे ही यह बात स्पष्ट हो गई कि सुन्दर को भाव से सम्बन्धित नही किया जा सकता, तत्त्ववेत्ताओ को इस बात की फिक्र हुई कि मानसिक क्रियाशीलता की कोई ऐसी वृत्ति ढूँढी जाय जो सुन्दर के अनुभव को स्पष्ट करे। इसी वृत्ति को उन्होने कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति कहा। सत्य तो ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र मे आया, शिव क्रियात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र मे पडा, सुन्दर को तत्त्ववेत्ताओ ने कलामीमासा-सम्बन्धी अथवा ध्यानात्मक मनोवृत्ति को दिया। क्योकि एस्थैटिक (कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति) सज्ञा की अन्वेषणा ऐसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुई, इस निष्कर्ष का साक्ष्य एस्थैटिक्स (कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति) की उस प्रचलित परिभाषा मे मिलता है जिसके अनुसार एस्थैटिक वस्तुओ के साथ व्यापार का वह ढङ्ग है जो न तो उनके स्वभाव की खोज करता हे, कि वस्तु का सत्य क्या है, और न उनको इच्छा पूर्ति का साधन मानता है कि वस्तु किस प्रकार हमे उपयोगी हो सकती है। कलामीमासा-सम्बन्धी वृत्ति (एस्थैटिक) इस प्रकार आदर्शवाद का अङ्ग निश्चित की गई और कलामीमासा-सम्बन्धी (एस्थैटिक्स) अनुभव को असम्बन्धित कहा गया। कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव का विशिष्ट स्वभाव दो तरीको से स्थिर किया गया। कुछ मनुष्यो की यह मति हुई कि एक विचित्र प्रकार का मानसिक तत्त्व अर्थात् एस्थैटिक अन्तर्वेग हमारे कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव को निर्दिष्ट करता है, और कुछ दूसरे मनुष्यो की यह मति हुई कि कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव का विशेष लक्षण आत्मप्रेषण (एम्पैथी) है। परन्तु मनोविज्ञान मे कलामीमासा-सम्बन्धी (एस्थैटिक) अन्तर्वेग जैसे मानसिक तत्त्व का कोई स्थान नही है और आत्मप्रेषण और बहुत से मानसिक अनुभवो की विशेषता है, एस्थैटिक अनुभव की ही नही। क्रोचे की तरह आई० ए० रिचार्ड्स का एस्थैटिक का प्रतिपादन बिल्कुल औपपत्तिक है। एस्थैटिक अनुभव साधारण औपपत्तिक अनुभव जैसा है, बस उसका रूप एक विशेष प्रकार का होता है। रूप की विशेषता ऐसे गुणो से कोई सम्बन्ध नही रखती जैसे उदासीनता (डिसइण्टरेस्टैडनैस), वियोग (डिटैचमैण्ट), फैसला, अवैयक्तिकता, और आन्यिक व्यापकता (सबजैक्टि यूनीवर्सैलिटी) जो अक्सर अनुभव के खास गुण माने जाते है। यह गुण तो आई० ए० रिचार्ड्स के मतानुसार अनुभव के निपात से सम्बन्धित है, निवेदन की दशा या उसके असर की विशेषताएँ है। यही गुण ऐसे मानसिक अनुभव को परिभाषित करते हैं जिसका तात्त्विक रूप उसके विशेष मूल्य पर अवलम्बित है। जो मूल्य सीधे

जीवन से ही अनुभव मे आता है वही अनुभव को उसकी /कलामीमासा-सम्बन्धी (एस्थैटिक) विशेषता देता है। कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव मे प्रकार-प्रकार की प्रेरणाएँ समतोलन (बैलैन्स) पा जाती हैं। जो मनुष्य कलामीमासा-सम्बन्धी वृति से जीवन का अनुभव करता है उसके अनुभव मे निरोध (इन्हिबिशन) नही होता। वह अपनी शारीरिक और मानसिक व्यवस्था मे ऐसे स्थान बना लेता है, जहाँ तरह-तरह की प्रेरणाओ के विभिन्न हक एकताल हो जाते है। ऐसे अनुभव जिनमे या तो अनुरूप प्रेरणाओ की तुष्टि होती है या थोडी बहुत प्रेरणाओ की तुष्टि होती है— निम्नश्रेणी के अनुभव है। उच्चतम श्रेणी के अनुभव वे है जिनमे विरुद्ध प्रेरणाओ का सन्तुलन हो जाता है। ऐसे अनुभवो मे रूढि और अन्धविश्वास जो हमारी प्रेरणाओ के अटोक साहाय्य मे बाधा लाते है, प्रभावहीन हो जाते है। ऐसे अनुभवो मे ऐसी प्रेरणाओ की साथ-साथ तुष्टि होती है जिनका साथ-साथ होना साधारण पुरुष को विस्मय ही नही वरन् अकाण्डक्षोभ देता है। कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव मे हमारी मानसिक क्रियशीलता मूलत विभिन्न नही होती, बस मन प्रेरणाओ के साहाय्य मे रूढिगत काम करने से मुक्त हो जाता है। कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव ही सौन्दर्य के अनुभव कहे जाते है। जैसा स्पष्ट है, यह अनुभव साधारण अनुभव से बढे-चढे होते है, उनमे और एस्थैटिक अनुभवो मे जटिलता का और निर्मायक तत्त्वो के सम्बन्ध मे घनिष्ठता का अन्तर होता हे। जितने अधिक मूल्य या सुन्दरता का अनुभव होगा उसमे उतनी ही जटिलता होगी और उसके निर्मायक तत्त्वो मे उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध होगा। जटिलता का अर्थ यहाँ एक साथ तुष्टि पाने वाली प्रेरणाओ की विभिन्नता और उनकी सख्या से है।

यहाँ तक तो आई०ए० रिचार्ड्स क्रोचे से सहमत है परन्तु निवेदन (कम्यूनीकेशन) के विषय मे दोनो मे बडा मतभेद है। क्रोचे के मत से निवेदन एक व्यावहारिक तथ्य है, वह क्रियात्मक मनोवृत्ति का व्यापार है, वह किसी अनुभव को सुरक्षित रखने अथवा उसे फैलाने की इच्छा से निष्पन्न होता है, और इन्ही कारणो से वह कला से वाह्य है, इसके विरुद्ध आई० ए० रिचार्ड्स का कहना है कि निवेदन कला का तात्त्विक धर्म है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य ने सामाजिक मन विकसित किया है। जो कुछ वह करता है, चेतन रूप से या अचेतन रूप से, सब दूसरो से निवेदित करता है। चलने की क्रिया, पहनने की क्रिया, खाने की क्रिया, रहने-सहने की क्रिया, सब दूसरो से निवेदित होती हैं। एस्थैटिक-क्रिया भी इन्ही के अनुरूप निवेदित होती है। वही एस्थैटिक अनुभव ठीक माना जाता है जो निवेदन मे सफल होता है। अत कलामीमासा-सम्बन्धी अनुभव के प्रत्यय मे ही निवेदन की आवश्यकता समाविष्ट है जैसे नाटकीय अनुभव के प्रत्यय मे रङ्गमञ्च का विचार समाविष्ट है। बौसाङ्के कला के लिये निवेदन की अनिवार्य आवश्यकता का दार्शनिक समर्थन करता है। हम किसी एस्थैटिक आकार (सैम्बलैन्स) से उसकी आत्मा को इसीलिये खीच ले जाते है कि उसे किसी दूसरे आकार मे प्रविष्ट करे, क्योकि आत्मा का

शरीर मे प्रवेश करने का स्वभाव है। परन्तु क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स एस्थैटिक्स को अनात्मिक प्रकृति (ऑब्जैक्टिव रियैलिटी) से सम्बद्ध करने मे सहमत है और मन की इच्छा के अनुसार प्रकृति का आदर्शीकरण एस्थैटिक्स के लिए गलत समझते है। दोनो ही को भाव का रचनात्मक धर्म मान्य नही है, क्रोचे भाव को आर्थिकता से एक कर देता है और आई० ए० रिचार्ड्स जो भाव को सुख-दुःख से सीमित करता है, भाव को केवल इस बात का द्योतक मानता है कि अभिवेयक्तिक क्रियाशीलता किस प्रकार आगे बढ रही है, सफलता की ओर या विफलता की ओर। यदि कलाकार अपने अनुभव को सफलता से अभिव्यक्त कर पाता है तो उसे सुख की अनुभूति होती है और यदि वह अपने अनुभव को अभिव्यक्त करने मे विफल होता है तो उसे दुःख की अनुभूति होती है। यह अनुभूति जो अभिव्यक्ति की क्रिया के बाद मे पूरी मात्रा मे स्फुट होती है, कलाकार को बतला देती है कि कलासृजन मे वह सफल हुआ या विफल। आई० ए० रिचार्ड्स का सिद्धान्त स्टाउट के सिद्धान्त के अनुरूप है जो सुख को ईहन के ठीक-ठीक अग्रसर होने की क्रिया का सहवर्ती मानता है। आई० ए० रिचार्ड्स बहुत से पाश्चात्य और प्राच्य साहित्यशास्त्रज्ञो की तरह सुख की अनुभूति को अलग से कला का अन्तिम प्रयोजन नही मानता। उसके मतानुसार कला सुख के हेतु नही है, केवल अभिव्यक्ति अथवा निवेदन के हेतु है। क्रोचे के मतानुसार कला आन्तरिक अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्दृष्टि के हेतु है। आई० ए० रिचार्ड्स का मत इस विषय मे ठीक है। क्रोचे तो कला को आन्तरिक अभिव्यक्ति से सीमित करके उसका वास्तविक अस्तित्व ही मेट देता है।

क्रोचे ने जो कला की परिभाषा दी है कि वह अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है, वह तभी ठीक मानी जा सकती है जब हम अन्तर्दृष्टि को मन अथवा माध्यम मे रूप का प्रत्यक्षीकरण समझे। यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक कला का आदर्श मन मे प्रत्यक्षीकृत रूप का माध्यम मे ठीक-ठीक व्यक्त करना है। रूप के समझने मे आलोचना बडी विभिन्नता दिखाती है। कोई कलाकार उसे किसी अर्थ मे लेता है और कोई कलाकार किसी और अर्थ मे और एक ही कलाकार भिन्न-भिन्न अवसरो पर उसे भिन्न-भिन्न अर्थों मे लेता है।

पहले, रूप शास्त्रीय अथवा परम्परागत हो सकता है, आकृति, रूपरेखा, या साधारण विधि। ऐसे रूप का निर्धारण कलाकृतियो के निरीक्षण और अध्ययन से होता है और कलाकार निर्धारित रूप को नमूने या ढाँचे की तरह ग्रहण करके नई रचनाओ की सृष्टि करते है। वह रूप पूर्वनिश्चित होता है और कलावस्तु को उसके वश मे आना होता है। महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, गीति, इन सबके रूप पूर्वनिश्चित रूप है और लेखको को इच्छित काव्य के उत्पादन के लिए अपनी वस्तु को उसी काव्य का पूर्वनिस्चित रूप देना होता है।

दूसरे, रूप से किसी वस्तु का वास्तविक सार अथवा उसके अस्तित्व की पूर्ति का नियम भी समझा जाता है। जब कला का लक्ष्य ऐसे रूप का प्रत्यक्ष निरूपण होता है तो कला के ससार और तथ्य के ससार मे कोई अन्तर नही रह जाता। कला वास्तविक ससार का शुद्ध सत्य हमारे सम्मुख लाती है। हमे वस्तुओ और अपनी अन्तरात्माओ के व्यक्तित्वो का ठीक-ठीक ज्ञान देती है। हमे अपने और वस्तुओ के व्यक्तित्वो की सुधि नही हो पाती, क्योकि हमारे मन औपपत्तिक अथवा व्यावहारिक क्रियाशीलता मे निमग्न रहते है। यही निमग्नता एक परदे की तरह प्रकृति और हमारे बीच मे तथा हमारे और हमारी चेतना के बीच मे आ जाती है और प्रकृति के और अपने वास्तविक रूप को देखने से हमे वञ्चित रखती है। हमारा जीवन वस्तुओ के उपयोगी पहलू को ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाता है और वस्तुओ के दूसरे पहलुओ के सस्कार धीमे, अस्पष्ट, और धुँधले हो जाते हैं। किसी वस्तु का हमारा ज्ञान उस वस्तु की प्रकृति का केवल व्यावहारिक पहलू है। वाह्य वस्तुओ का सार ही नही वरन् हमारी मानसिक अवस्थाओ का सार भी हम से छिपा रहता है। उनके आन्तरिक सत्य से, उनकी वैयक्तिक विशेषता से, उनके वास्तविक जीवन से हम बिल्कुल अपरिचित रहते हैं। जब हम किसी को प्रेम करते हैं और कहते हैं कि अमुक को हम प्रेम करते हैं, जब हम किसी से घृणा करते है और कहते हैं कि अमुक से हम घृणा करते हैं, दोनो सूरतो मे हमारे वास्तविक अनुभव को प्रेम और घृणा व्यक्त नही करते। स्वयम् शब्द ही हमको धोखा देते है। वस्तुओ के नाम पर उन्हे किसी हेतु से अनुभव करने की छाप लगी रहती है। व्यक्तिवाचक सज्ञाओ को छोडकर बाकी सब सज्ञाएँ जाति-धर्म की द्योतक है और वस्तुओ के बहुत ही साधारण व्यापारो और उनके बडे सामान्य पहलुओ को व्यक्त करती है। साधारणत हम अपने भावो के केवल अवैयक्तिक पहलू ही समझ पाते हैं, उन्ही पहलुओ को जिन्हे भाषा ने अन्तिम रूप मे हमेशा के लिए व्यक्त कर दिया है, क्योकि भाव सब मनुष्यो के लिए एक सी दशाओ मे एक सा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार, हम जातित्वो और प्रतीको के घेरे मे भ्रमण करते रहते हैं, और अपने और वस्तुओ के मध्यवर्त्ती मण्डल मे जीवन व्यतीत करते हैं। वस्तुओ के प्रति ही नही, अपने प्रति भी पारदेशिक होते है। कभी-कभी मानो शून्यमानसता की अवस्था मे, प्रकृति ऐसी आत्मा को जन्म देती है, जो जीवन से अधिक से अधिक मात्रा मे विरक्त होती है। वैराग्य ऐसी आत्मा की इन्द्रिय और चेतना की निर्मिति मे ही अन्तर्जात होता है। ऐसी आत्मा का वैराग्य जीवन का शुद्ध रूप मे अनुभव करने से प्रकट होता है। यदि आत्मा मे यह वैराग्य पूर्ण हो तो वह आत्मा एक ऐसे कलाकार की आत्मा होगी, जो ससार मे पहले कभी उत्पन्न नही हुआ। ऐसा कलाकार सब वस्तुओ को उनके तात्त्विक रूप मे देखेगा, भौतिक ससार के शब्दो, रङ्गो और रूपो का और आन्तरिक जीवन की सूक्ष्मतम गतियो का असली रहस्य वह साक्षात् देखेगा। तथ्य की पूर्ण निर्मिति का निरीक्षण और उपयुक्त माध्यम मे उसका पुनरुत्पादन—यही कला की निष्पत्ति है। इस व्यापार मे कला हमे

सत्य का ज्यादा सरल दर्शन देती है और प्रकृति एव मानव जीवन के हमारे ज्ञान को दृढ करती है।

तीसरे, रूप से मतलब आदर्श रूप से भी होता है। इस रूप के प्रत्यक्षीकरण मे कला यथार्थत्त्व से आगे बढ जाती है। कोलरिज ने कहा था कि यदि कलाकार यथार्थ का अनुकरण करे तो यह व्यर्थ की प्रतिस्पर्द्धा होगी, क्योकि नकल असल को कभी पहुँच ही नही सकती। कलाकार प्रकृति को अधिक सुन्दर रूप मे हमारे सामने उपस्थित करता है। कला एक दूसरे परिवर्तित ससार की सृष्टि करती है जिसका प्रयोजन एक ऐसी तुष्टि होती है जो निर्णीत तथ्य की तुष्टि से भिन्न होती है। परिवर्तित ससार जिसकी सृष्टि कला करती है, परिचित ससार के आधार पर रचा जा सकता है, किसी वस्तु के अपूर्ण उदाहरणो से कलाकार उस वस्तु की पूर्णता के प्रत्यय को पहुँच जाता है। इस प्रत्यय के पहुँचने मे वह वस्तु के कुछ ब्योरो को त्याग देता है, कुछ ब्योरो को ग्रहण कर लेता है, कुछ ब्योरे और शामिल कर देता है। इस प्रत्यय के अनुरूप वस्तु का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप कल्पित करना ही आदर्शीकरण कहलाता है। आदर्शीकरण कल्पना द्वारा हो सकता है और आदर्शीकरण अनुमानात्मक बुद्धि द्वारा भी हो सकता है। अनुमानात्मक बुद्धि द्वारा कला किसी वस्तु के नियम तक पहुँच जाती है, उस साधारणीकृत सामान्य तत्त्व को पहुँच जाती है जिसके आधार पर वह वस्तु अपने वर्ग की दूसरी वस्तुओ के सदृश होती है। वस्तु के पाये हुए नियम की सिद्धि उस वर्ग की किसी देखी हुई वस्तु मे नही मिलती। वस्तु के प्रत्यय की प्राप्ति चाहे कल्पना द्वारा हुई हो चाहे आगमनात्मबुद्धि द्वारा हुई हो, कला का उद्देश्य प्रत्यय को मूर्त्तिमय करना है। कला मे आदर्शीकरण की शुरूआत प्लैटो से ही समझनी चाहिये। प्लैटो प्रत्यय को ही सारभूत तथ्य मानता था। प्रत्येक वस्तु का, चाहे वह मूर्त्त हो चाहे अमूर्त्त, प्रत्य्य होता है। प्लैटो के प्रत्यय वे ही है जिन्हे आधुनिक तत्त्वविद्या नियम कहती है, जिन्हे अरिस्टॉटल कैटैगरीज अथवा ऐसे व्यापक रूप कहता था जिन के द्वारा हम वस्तुओ का ध्यान करते है, जिन्हे भौतिक विज्ञान प्रकार (टाइप) अथवा जाति (स्पीशीज) कहता है। प्रत्ययो का एक अलग ससार है जिसका इन्द्रिय का ससार अनुकरण है। जैसे इन्द्रिय के ससार मे वस्तुओ की श्रेणी बद्धता है वैसे ही प्रत्ययो के ससार मे प्रत्ययो की श्रेणी-बद्धता है। जैसे दृश्यजगत् मे अस्तित्त्वो का उच्चतम से निम्नतम तक अनुक्रम है, वैसे ही उसके आदर्श अदृश्य जगत् मे प्रत्ययो का उच्चतम से निम्नतम प्रत्ययो का तथावत् अनुक्रम है। यह अदृश्य जगत् स्वय अमूर्त्त परब्रह्म है। परब्रह्म उसी प्रकार प्रत्ययो की समष्टि है जिस प्रकार विश्व या दृश्य जगत् वस्तुओ की समष्टि है। प्राकृतिक वस्तुएँ अपने आदर्श प्रत्ययो के प्रतिरूप हैं उनका अपने आदर्श प्रत्ययो से वही सम्बन्ध है जो आहार्य्यधर्म का तात्त्विक धर्म से सम्बन्ध है। प्रत्यय को अपने अनुरूप प्राकृतिक वस्तु से मिलाने वाला कारण दैविक कल्याण (डिवाइन गुडनेस) है। गोकि प्रकृति प्रत्यय को किसी प्रकार रोक नही सकती, क्योकि प्रत्यय सर्वथा

अप्रतिबद्ध है, फिर भी वह प्रत्यय की क्रियाशीलता मे बाधा डालती है। प्रकृति, प्रत्यय की क्रिया का आवश्यक साधन भी है और उसकी क्रिया की नित्य रुकावट भी है। प्रकृति की सहकारिता प्रतिरोध है। वह उस शक्ति का विरोध करती है जो सम्पूर्ण है और इसी कारण असद्, परिवर्तन और असम्पूर्णता का आद्य कारण है। कलाकार वैराग्य के कारण उस शक्ति को प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा वह निसीम प्रत्यय का अन्तर्दर्शन कर सकता है और उस अन्तर्दर्शन को अपने माध्यम मे यथाशक्ति व्यक्त कर सकता है। आदर्श रूप की यह पहुँच आध्यात्मिक है।

चौथे और अन्त मे, रूप से मतलब कलात्मक रूप का हो सकता है। यही वास्तविक रूप है जो कलाकार के उस इन्द्रियार्थ माध्यम से प्रतिबद्ध होता है जिसमे वह काम करता है। कलाकार का प्रकृति और जीवन-विषयक दर्शन उसी प्रकार अपने को उसके माध्यम से उपयुक्त कर लेता है जिस प्रकार हमारे अनुभव का प्रत्यक्षीकरण अपने को हमारी भाषा से उपयुक्त कर लेता है। यह कहना गलत न होगा कि प्रत्येक कलाकार जीवन का अनुभव अपने माध्यम द्वारा करता है। मान लो कि किसी सामुद्रिक तूफान के अनुभव को सङ्गीत और चित्रकला मे अलग-अलग व्यक्त किया गया है। सङ्गीतकलाकार प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायु के शब्द पर और वज्रध्वनि पर जोर देता है और चित्रकार बिजली की चमक और उठती हुई और गिरती हुई लहर पर जोर देता है, बिजली की चमक और ऊँची उठती हुई और नीची गिरती हुई लहर की अभिव्यक्ति मे सङ्गीतकलाकार वैसे ही असफल रहता है जैसे प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायु के शब्द और वज्रध्वनि की अभिव्यक्ति मे चित्रकार असफल रहता है। सङ्गीतकलाकार के और चित्रकलाकार के तूफानविषयक अनुभव की विशेषताएँ उनके माध्यमो से निश्चित होती है। सब कलाओ की अलग-अलग सीमाएँ है। हीगल कला को भाव या विचार (आइडिया) की प्रकृति (मैटर) पर प्रवेक्षित विजय के रूप मे परिभाषित करता है। यह परिभाषा कला के स्वभाव, उदय और विकास को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है और क्रोचे की परिभाषा की तरह कला को मनुष्य के मन से ही सीमित नही कर देती। कला ऐसा भाव है जो प्रकृत वस्तु मे प्रवेश कर के उसे अपने अनुरूप परिवर्तित कर देता है। परन्तु, क्योकि प्रकृत वस्तु जिसका कला प्रयोग करती है प्रयोग मे वश्य या दुर्दम होती है, उसकी वश्यता या दुर्दमनीयता की मात्राओ के अनुसार कलाओ के भेद हो जाते हैं। वास्तुकला मे भाव, प्रकृति पर विजय पाने मे करीब-करीब असफल रहता है। वास्तुकला का आधार मूर्त्त होता है और भाव के लिये अदम्य पडता है। इसी से वास्तुकला ऐसी लाक्षणिक कला है जिसमे भाव सीधे व्यक्त हुए बिना रूप द्वारा प्रतीयमान होता है। वास्तुकला मूर्त्ताधार मे रेखा, आकाश (स्पेस) और पिण्ड द्वारा भाव व्यक्त करती है। यूनानी मन्दिर जिसमे सम छत और साधने वाले खम्भे होते हैं, परिच्छिन्नत्व की व्यञ्जना करता है और गौथिक अधिमन्दिर जिसमे मेहराबदार छत और बडी ऊँची-ऊँची पुश्तो से सधी हुई दीवारे, कलश, गुम्बज, मीनारे और रोशनी के लिए झरोखे होते हैं, अपरिच्छिन्नत्व की

व्यञ्जना करता है। यूनानियो के देवता ससीम होते थे, अत उनके मन्दिर का निर्माण ससीमता का द्योतक होता था, और गौथिक खुदा असीम था, अत उनका मन्दिर असीमता का द्योतक होता था। वास्तुकला गाम्भीर्य, तपस्या और आत्मा की उच्चाकाक्षाओ को व्यक्त कर सकती है, परन्तु भौतिक ससार के जीवन की असख्य गतियाँ और भौतिक ससार की शोभा की असख्य झलके व्यक्त करने मे वास्तुकला सदा असमर्थ रहेगी। मूर्तिकला भी वास्तुकला की तरह पत्थर, मिट्टी, धातु आदि निकृष्ट आधार का प्रयोग करती है, परन्तु उसमे इस आधार द्वारा अभीष्ट रूप, रङ्ग, आकार और विशेष प्रकार के भाव भी व्यक्त करने की शक्ति होती है। केवल गति देना उसकी शक्ति के बाहर है। लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई, तीनो मानो के उपयोग करने के कारण कभी-कभी वह जीवधारियो की प्रतिच्छाया बडी सफलता मे सङ्कुटित कर सकती है। हीगल एथैना प्रोमेकस की फीडिया की मूर्ति के विषय मे जिक्र करता है कि जब वह खोली गई तो एथैन्स निवासियो ने चिल्ला कर कहा, यह तो महाप्रभा सजीव देवी है। मूर्तिकला, वास्तुकला से अधिक श्रेष्ठ है जबकि वास्तुकला मे बहुत से ब्योरे व्यर्थ होते है, मूर्तिकला मे सब ब्योरे भाव के साधक होते है। मूर्तिकला मे भाव एकदम स्पष्ट हो जाता है, परन्तु जीवन और ससार की विचित्र शोभाओ के व्यक्त करने मे मूर्तिकला वास्तुकला से बहुत कम आगे बढती है। इस कमी को चित्रकला काफी मात्रा मे पूरी करती है। यह कला तीन मानो की जगह दो मान अर्थात् लम्बाई और चौडाई ही इस्तेमाल करती है। अत इसमे मूर्त्तता कम हो जाने के कारण काल्पनिकता के लिए अधिक अवकाश होता है। एक मान अर्थात् गहराई या ऊँचाई इस कला मे पूर्णतया मानसिक हो जाती है। जीवन की प्रावाहिकता से चित्रकला सार्थक क्षण छाँट लेती है और उन्हे भौतिक रूप प्रदान करती है। भाव इस कला मे भी प्रकृति और विस्तार से बँधा हुआ है। परन्तु मूर्तिकला की तरह चित्रकला उन्ही वस्तुओ को पुनरुपस्थित कर सकती है जो सन्निकर्ष मे है। घटनाओं की गति को वह घटनाओ के बहुत से चित्रो द्वारा प्रदर्शित करती है जैसे सिनेमा मे। एक पूर्ण चित्र मे गति का प्रदर्शन करने मे चित्रकला असमर्थ है। सङ्गीत आध्यात्मिक कला है। इस कला का प्रकृत आधार नाद है। नियम से संयोजित नादो की गति से सङ्गीतकलाकार भाव प्रकट करता है। सङ्गीतकला मानव हृदय के अन्तिम सार को व्यक्त कर सकती है और उसकी भावनाओ की अनन्त विचित्रताओ को हमे महसूस करा सकती है। नाद निरर्थक होने के कारण अन्तर्वेगो को अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर सकता है, परन्तु इसी कारण से उन मानसिक भावो को जिन्हे वह उन निरर्थक नादो द्वारा व्यक्त करती है, अस्पष्ट और अनिश्चित छोड देती है। यह अस्पष्टता और अनिश्चितता कविता मे दूर हो जाती है। क्योकि कविता सार्थक नादो का प्रयोग करती है और उनको ऐसा क्रम देती है जिससे सङ्गीतात्मक लय पैदा हो जाती है। कविता मे विचार और सम्बन्धित भाव अथवा अन्तर्वेग दोनो सार्थक शब्दो और लयो द्वारा ठीक-ठीक अनूदित हो जाते है। कविता दूसरी और कलाओ से

अधिक व्यञ्जक है। इसमे शक नही कि कविता ऐसी वस्तुओ के अनुकरण मे चित्रकला से पिछड जाती है जिनके भाग और रूप आकाश मे फैले हुए है, क्योकि उसके प्रतीक क्रमिक होते है और समय मे प्रगति करते है। परन्तु जैसे कि चित्रकार किसी शरीर की क्रिया को उसकी प्रगति मे से सबसे अधिक व्यञ्जक क्षण को छाँट कर दिखाता है, वैसे ही कवि किसी शरीरको उसके उस लक्षण को छाँट कर दिखाता है जो उस शरीर का स्पष्टतम चित्र सामने ले आता है। परन्तु यदि कवि किसी शरीर के स्पष्टतम लक्षण को न छाँट सके और उस शरीर का हमे सुस्पष्ट दर्शन देने मे असफल रहे, तो भी वह अपने ऐसे प्रतीको द्वारा जो उसके वाञ्छित अर्थ के द्योतक हो, हमे उस शरीर का प्रशसनीय वर्णन दे सकता है। फिर भी कविता कृत्यो के वर्णन करने मे ही फलीभूत होती है, कारण यह है कि काव्यात्मक अभिव्यञ्जना मे शब्द अनुक्रम मे चलते है और क्रिया मे शरीर अनुक्रम मे चलता है। और, क्योकि कविता मे शरीर और कृत्यो दोनो का अनुकरण करने की प्रशसनीय क्षमता है, कविता सब कलाओ मे श्रेष्ठ कला है। इसी कला मे भाव और प्रकृति के सङ्केन्द्रण की वह सिद्धि सम्भव है जो कि कलात्मक यथार्थ का रहस्य है। विभिन्न कलाओ का तुलनात्मक वर्णन लैसिङ्ग ने अपने 'लाओकून' नामक रोचक निबन्ध मे किया है। इस निबन्ध मे साहित्यिक शोभा और आलोचनात्मक निपुणता दोनो अच्छी तरह दीख पडती है। निबन्ध का नाम तीन मूर्तिकलाकारो के उस प्रसिद्ध मूर्त्त समुदाय से आता है, जो सोलहवी शताब्दी मे रोम मे खोदा गया था। निबन्ध उस समय के ऊपर बहस करता हुआ शुरू होता है जिस समय पर वह मूर्त्त समुदाय गढा गया था। लैसिङ्ग सब तरह के साक्ष्यो की छान-बीन करता है। वह पुरातत्त्वज्ञो और शास्त्रीय पण्डितो के लेखो का अध्ययन करता है। परन्तु उसकी धारणा है कि कलात्मक साक्ष्य भी इस प्रश्न को ठीक-ठीक सुलझा सकती है। इस दृश्य को मूर्तिकलाकारो ने तो मूर्त्त समुदाय मे दिया ही है, उसका वर्णन वर्जिल मे भी मिलता है। गोकि उसका यह निष्कर्ष कि वे मूर्तिकलाकार जिन्होने इस मूर्त्तसमुदाय को गढा था, शुरू के सीज़रो के समय मे रहते थे, ऐतिहासिक प्रमाणो से पुष्ट नही हो पाया, फिर भी समय सम्बन्धी बहस इस बात पर बडा प्रकाश डालती है कि किस प्रकार माध्यम की विभिन्नता रूप को परिवर्तित कर देती है। कहानी का शास्त्रीय वर्णन यह है—ट्रोय का लाओकून नामक पुरोहित नेपच्यून देवता पर एक साड को बलि चढा रहा था। देवार्पण के लिये साड का बध करते समय दो बृहत्काय सर्प समुद्र से निकले। उन्होने लाओकून के दोनो लडको पर जो वेदी के निकट खडे थे, आक्रमण किया। लडको का पिता अपने पुत्रो की रक्षा के लिये जल्दी से झपटा, परन्तु सर्प उसकी ओर बढे और अपने जटिल चपेटो मे लेकर उसे ऐसा मसल डाला कि वह अतिव्यथित होकर मर गया। वर्जिल और मूर्तिकलाकारो, दोनो ने इस वर्णन को परिवर्तित किया है। दोनो लाओकून और उसके दोनो बेटो को सर्पो के चपेटो मे मसले हुए प्रदर्शित करते है। यह सादृश्य इस अनुमान को दृढ़ करता है कि या तो कवि ने मूर्तिकलाकारो का अनुकरण

किया या मूर्तिकलारो ने कवि का अनुकरण किया। पिछला अनुमान अधिक सही मालूम होता है। यदि ब्योरो की आलोचनात्मक परीक्षा की जाय तो पहले, वर्जिल मे लाओकून भयानक चीखे मारता है, परन्तु मूर्त्त समुदाय के चेहरे बिल्कुल शान्त है। इससे स्पष्ट है कि मूर्तिकलाकारो ने कवि का अनुकरण किया। मूर्तिकला मे चीखता हुआ चेहरा कुरूप हो जाता है और जुगुप्सित प्रतीत होता है, इसके अतिरिक्त कविता मे चीखता चेहरा क्लेश का व्यञ्जक होता है। कलाकार चीखो को आहो मे परिवर्तित करने के लिये अपने माध्यम के कारण विवश हो गये। यदि कवि कलाकारो का अनुकरण करता तो वह बडी सुगमता और रमणीयता से आहो को वर्णित कर सकता था। दूसरे, वर्जिल मे सर्प दो बार लाओकून की कमर और दो बार उसकी गर्दन के चपेटे लेते है, इसके अतिरिक्त मूर्त्त समुदाय मे चपेटे शरीर और गर्दन से जाघो और पैरो की ओर बदल दिये गये है। इससे फिर यह सिद्ध होता है कि कलाकारो ने कवि का अनुकरण किया। शरीर के प्रमुख और अवदात भागो के सम्पीडन के वर्णन से कवि हमारी कल्पना को एकदम जाग्रत करता है, परन्तु कलाकारो की कृति मे इन भागो का प्रच्छादन सारे प्रभाव को नष्ट कर डालता है। जैसी कृति है उसमे पीडा की आह दिखाती हुई गर्दन की समवृत्ति कितनी व्यञ्जक है और पेट का दु सह आकुञ्चन कितना व्यञ्जक है, वे कलाकार जिन्होने इन भागो को नग्न दिखाया वे अपनी कला मे वास्तव मे प्रवीण थे। फिर सूच्यग्रस्तूप के रूप मे कृति का ऊपर उठना कितना सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। यदि चपेट गर्दन की ओर होती तो कृति सौष्ठवहीन हो जाती और जॉघ और पैरो के चपेट रुके हुए पलायन और गतिहीनता का द्योतन करते है और आकुञ्चन का प्रभाव भी वैसा ही रहा आता है जैसा कि कवि के वर्णन मे। यदि कवि कलाकारो का अनुकरण करता तो वह पिता और पुत्रो के एक गॉठ मे जकड जाने को बडी स्पष्टता से दिखा सकता था। परन्तु कवि ने जकड कर वर्णन को दबा दिया है और इसके प्रत्यक्षीकरण के लिये कल्पना पर भरोसा किया है। तीसरे, वर्जिल मे लाओकून अपने माथे की याजकीय माला पहने है और इसके अतिरिक्त मूर्त्त समुदाय मे पुरोहित का माथा नङ्गा है। यदि कवि कलाकारो का अनुकरण करता तो वह माथे मे प्रदर्शित पीडा का वर्णन करता। परन्तु कवि पुरोहित को याजकीय माला पहनाता है, क्योंकि काव्यात्मक वर्णन मे पीडावह माथे की कल्पना माला के नीचे की भी जा सकती है। एक ही विषय पर दो भिन्न माध्यमो मे उत्पादित कृतियो की तुलना से यह बात अच्छी तरह देखी जा सकती है कि किस प्रकार रूप, माध्यम की विभिन्नता से परिवर्तित हो जाता है। इसी कारण कलात्मक रूप का प्रत्यक्ष निरूपण और स्पष्ट प्रणयन एक ही विषय है। हमे ज्ञात है कि आन्तरिक दर्शन प्रकृत माध्यम मे कभी ज्यो का त्यो नही आ सकता, इसीलिये कला की मुख्य समस्या यही है कि माध्यम को ऐसे नियन्त्रित किया जाय कि उसमे भाव स्पष्ट चमक पडे।

पहले अर्थ मे रूप, खाका, आकृति, अथवा मान्य विधि है। इस अर्थ मे रूप

ऊपरी साधारण और रेखा चित्रवत् है, और किसी वस्तु के हृदय और उसकी अन्तरात्मा का विरोधी है, उन सब गुणो के विपरीत है जो तात्विक और महत्त्वपूर्ण होते है। कला और काव्य मे इस रूप का अनुसरण करना प्रतिभाहीनता का द्योतक है। ऐसे कलाकारो और कवियो को यान्त्रिक नैपुण्य मिल सकता है, परन्तु ये कलात्मक अथवा काव्यात्मक उत्कटता से सदा वञ्चित रहेगे। ऐसे रूप का अनुसरण करना कलासम्बन्धी तत्त्वज्ञान के भी विरुद्ध है। मनुष्य का अनुभव परिवर्तनशील है, न सब मनुष्य एक-सा अनुभव करते है और न एक मनुष्य ही किसी विशिष्ट वस्तु के बारे मे सदा एक-सा अनुभव करता है। क्योकि कलात्मक रूप अनुभव के रूप का फोटो है और अनुभव सदा बदलता रहता है, कलात्मक रूप सदा बदलना चाहिये। कलात्मक रूप को स्थिर कर देना कला को फैक्टरी की उत्पादित वस्तु बना देता है। समस्या-पूर्ति मे कविता लिखने और उससे कवि-सम्मेलनो और मुशायरो मे वाह-वाह की आवाजो से तुष्टि पाने से कवियो को शाब्दिक और छान्दिक पटुता सम्बन्धी लाभ हो सकता है, परन्तु उनकी काव्यात्मक शक्ति का आविर्भाव नही हो सकता। इस प्रकार के सम्मेलनो और मुशायरो को नवयुवको तक सीमित कर देना चाहिये और कवियो की प्रारम्भिक शिक्षा का ही साधन मानना चाहिये। इन्हे इससे अधिक महत्त्व देना काव्य के हित मे नही है। काव्य के आलोचक को भी किसी कृति के मूल्य निर्धारण करने मे ऐसे रूप को महत्त्व न देना चाहिये।

दूसरे अर्थ मे रूप की धारणा कला को मूलतथ्य और मानसिक अनुभव से सीमित कर देना है जैसा कि क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स करते है। क्रोचे तो कला को मन से बाहर आने ही नही देता, और आई० ए० रिचार्ड्स कलात्मक अनुभव को साधारण अनुभव का विकसित रूप समझता है, साधारण अनुभव का विकसित रूप होने के कारण कलात्मक अनुभव अधिक मूल्यवान् होता है। आई० ए० रिचार्ड्स निवेदन को कलात्मक क्रियाशीलता के लिए तात्विक समझता है। इस अर्थ मे रूप को समझना किसी वस्तु के वास्तविक सार को ग्रहण करना है, उसके भौतिक और मानसिक रहस्य तक पहुँचना है। प्रत्येक वस्तु ससार मे द्विधुवस्थ है, उसे अमूर्त प्रत्यय समझ सकते है और उसे मूर्त पदार्थ समझ सकते है। आर० जी० कौलिङ्गवुड की वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति है कि कोई चित्रकार किसी स्त्री के घनत्व मे अनुरक्त हो सकता है या उसके स्त्रीत्व मे। किसी शरीर के अवयवो का सम्बन्ध समझना और उन सम्बन्धो की समस्त व्यवस्था को समझना, तथा इस व्यवस्था से मन का नैसर्गिक स्वभाव निर्दिष्ट करना और मन की गति को स्पष्ट देखना—शरीर को मन मे और मन को शरीर मे देखना, भौतिक और मानसिक अस्तित्वो का समन्वय, यही वस्तु का सार है। इस सार के जानने के लिये मन की औपपत्तिक और व्यावहारिक वृत्तियो को रोक कर उसकी सारी शक्तियो को वस्तु पर केन्द्रित करना होता है। इस प्रकार ज्ञान-सार की मानसिक अभिव्यक्ति क्रोचे के मतानुसार कला है और इस प्रकार ज्ञान-सार की किसी बाह्य माध्यम मे अभिव्यक्ति आई० ए० रिचार्ड्स के मतानुसार कला है। परन्तु कला की ये दोनो धारणाएँ ठीक नही हैं। इस प्रकार की कला वास्तविक

ससार का भाग हो जाती है और कला की दुनिया और साधारण दुनिया मे कोई अन्तर नही रह जाता है। कला की दुनिया एक दूसरी दुनिया है जो इसी दुनिया के आधार पर अवश्य बनी हुई है परन्तु उसकी रीति और उसका उद्देश्य दूसरा होता है, वह दुनिया एक विशेष प्रकार की तुष्टि का साधन है जो तुष्टि ज्ञान-तथ्य की तुष्टि से भिन्न होती है। ज्ञान-सार की मानसिक अथवा प्राकृतिक अभिव्यक्ति कलाकार को ऋषि बना देती है और उसे कला के क्षेत्र से पृथक् कर देती है। कलाकार वास्तविक तथ्य की स्पष्टता को अपने व्यक्तित्त्व और माध्यम के मिश्रण द्वारा व्यक्त कर उसे रमणीय और रोचक बनाता है। कला का आलोचक कला को व्यक्तवस्तु के सार के मानदण्ड से ही नही जाँचता, वरन् वस्तु का सार व्यक्त करते हुए जब कला सौन्दर्य की अनुभूति दे, तब ही वह कला को ठीक कला समझता है।

कला की तीसरी धारणा तत्वज्ञान सम्बन्धी या अनुभवातीत है। वस्तु के आदर्श सत्य को वस्तु मे देखना और ऐसे अनुभव को माध्यम द्वारा व्यक्त करना कला है। यही प्लैटोवाद है। सिड्नी, स्पैन्सर, शेक्सपिअर, ड्रायडन, डेवनैण्ट, वर्ड्सवर्थ और शैली सब प्लैटोवाद से प्रभावित रहे है। शेली अपने 'डिफैन्स ऑफ पोयट्री' नामक निबन्ध मे लिखता है, "दैविक मन कवि को सहज गान के लिये उत्तेजित करता है और उसे जीवन की ऐसी प्रतिमाओ की रचना के लिये अग्रसर करता है, जो नित्य सत्य का दर्शन देती हैं।' कविता मानव-प्रकृति के ऐसे अपरिवर्तशील रूपो के अनुसार कार्यों की रचना हो, जो रचयिता के मन मे विद्यमान् होते है, और जो मन (रचयिता का) दूसरे सब मनो का प्रतिरूप होता है।" इस पिछले उद्धृत वाक्य मे प्लैटोवाद तो व्यक्त है ही, दो और कलासम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्त है—कला की व्यापकता और उसकी सामाजिक झङ्कार। कला व्यापक सत्य देती है और उसका सत्य सब मनुष्यो के मन मे प्रतिध्वनि पाता है। जो कला की दूसरी धारणा के विषय मे कहा जा चुका है, वही इस धारणा के विषय मे कहा जा सकता है। यह धारणा भी कला के सार को नही पहुँचती। वस्तु सुन्दर है, जब उनमे नित्य सत्य की झलक है, और कला सुन्दर है, जब वह नित्य सत्य की झलक को प्रदर्शित करती है। नित्य सत्य या ऐकान्तिक सौन्दर्य पहले विद्यमान् है और कला उसके पीछे आती है। फिर, यह ऐकान्तिक सौदर्न्य न परिभाषित है और न कथनीय है। और, यह भी विचार है कि ऐकान्तिक सौन्दर्य की धारणा समस्त कला को सौन्दर्यहीन बना देती है। कला के ससार मे प्रवेश करना नित्य सत्य या सौन्दर्य के दर्शन से निराश होना है, क्योकि अव्यक्त होते हुए वह कला मे मिल ही नही सकते। कला तब ही कला है जब उसमे सौन्दर्य का अनुभव हो। कलात्मक सौन्दर्य ऐसी तुष्टि है जो उस प्रत्यक्षानुभव से होती है जिसमे कलाकार की विषय-वस्तु भावनामय हो माध्यम द्वारा रूप मे विकसित होती है। यह सौन्दर्य कला का सत्य सौन्दर्य है और इसी से कला की समीक्षा हो सकती है। नित्य सौन्दर्य तत्त्वज्ञान की चीज है, वह अनुभवातीत है, और उसकी आलोचनात्मक सार्थकता

कोई नही। जब उस सत्य और सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण ही नही तो उसके अनुसरण मे विषय-वस्तु को रूप देना असम्भव ही है। उसमे केवल श्रद्धा होना प्लैटो की तरह समस्त कला का बहिष्कार करना है।

चौथे अर्थ मे रूप ठीक कलात्मक रूप है। यह रूप माध्यम मे धीरे-धीरे कलाकार के मानसिक अनुभव को विकसित करता है। मन और प्राकृतिक माध्यम दोनो से यह निकलता है। रूप की इस धारणा के अनुसार—और यही ठीक धारणा है—कला द्विलिङ्गीय उत्पादन है। न अकेले मन से और न अकेले प्राकृतिक माध्यम से कला का सृजन हो सकता है। जैसे बच्चा पिता और माता से पैदा होता है और पिता और माता दोनो के सदृश होता है तथा उनसे पृथक् स्वतन्त्र और भिन्न सत्ता भी रखता है वैसे ही कला भी मन और माध्यम से उत्पन्न होकर उनके सदृश भी होती है और उनसे अलग स्वतन्त्र और भिन्न सत्ता भी रखती है। मन को पुरुष और प्राकृतिक माध्यम को स्त्री समझना चाहिए। जैसे बच्चो के सृजन मे पिता और माता दोनो को उत्ताप होता है इसी प्रकार कला के सृजन मे मन को उत्ताप होता है और माध्यम भी एक प्रकार से उत्ताप की दशा मे होना है। वह अपने उन गुणो को कलाकार के सम्मुख खोलता है जिनके प्रयोग से कलाकार अपने मन को माध्यम मे प्रविष्ट कर देता है। कलाकार के अनुभव का रूप तो आन्तरिक अथवा वाह्य जीवन से निर्दिष्ट होता ही है, परन्तु वह माध्यम मे व्यक्त होते समय धीरे-धीरे परिवर्त्तित होता जाता है। उत्ताप की दशा मे अभिव्यक्ति के लिये एक विचार दूसरे विचार को, एक भाव दूसरे भाव को, एक प्रतिमा दूसरी प्रतिमा को, एक शब्द दूसरे शब्द को, और एक वाक्याश दूसरे वाक्याश को सुझाता है। इस प्रकार कला रचनात्मक परिक्रिया मे अपना रूप निकालती है। उत्पादन के विचार से हम कला को रचनात्मक आविर्भाव कह सकते है और कलाकार के विचार से उसे रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि कला के लिए भाव या अन्तर्वेग अनिवार्यत आवश्यक है। भाव और अन्तर्वेग के लिए क्रोचे और आई० ए० रिचार्ड्स कोई स्थान नही देते। वे भूल जाते हैं कि समस्त मानसिकता ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनो एक साथ हैं। कला-सृजन मे मन मे उत्ताप और अन्तर्वेग आविर्भूत होते हैं जिनकी शान्ति और तृप्ति वाह्य रचना से होती है। मन विषयवस्तु पर लगा हुआ उन मानसिक वृत्तियो का प्रयोग करता है जो विषय से सम्बन्धित होती है और निर्माण के कार्य को अग्रसर करती हैं। कला उत्पादन भावो और अन्तर्वेगो से प्रभावित रहती है। यह कहना कि कला भाव या अन्तर्वेग की अभिव्यक्ति है, ज़्यादा ठीक नही है। कला की विषयवस्तु भाव या अन्तर्वेग के अतिरिक्त और बहुत-सी मानसिक और सासारिक जीवन की वस्तुएँ हो सकती हैं। कला मे व्यक्त भाव या अन्तर्वेग वह भाव या अन्तर्वेग है जो कला की वस्तु से या उसके माध्यम की प्रकृति से उठता है। विषयवस्तु से उठा हुआ भाव या अन्तर्वेग माध्यम से उठे हुए भाव या

अन्तर्वेग का विरोधी हो सकता है या सहायक हो सकता है। सहायक है, तो ठीक है ही; और यदि विरोधी है, तो कलाकार उचित साधन से उन्हे एक-दूसरे के उपयुक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार शनै-शनै कलाकार अपने मन के विचारो, भावो, और अन्तर्वेगो को अपने माध्यम मे प्रविष्ट करता है। इसी क्रिया को आरोपण (इम्प्यूटेशन) कहते हैं। आरोपण द्वारा निर्जीव कलाधार सजीव हो जाता है और वह उन गुणो को प्रदर्शित करता है जो उसकी प्रकृति के बाहर है। मन और आधार के आवेशमय सम्मिश्रण से आधार को सजीव, व्यञ्जक, और अर्थपूर्ण रूप देना ही कला है। इसी से कलाकार ऐसे विषय छाँटता है जो रूप पा सकते है। असीम, अनन्त इसमे रूप है ही नही और न इनका व्यक्तिकरण हो सकता है और न इन्हे मूर्त्त रूप दिया जा सकता है। ये धारणाएँ कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र से बाहर है। सौन्दर्य के लिए किसी न किसी प्रकार की जटिलता आवश्यक है। जब भिन्न प्रकार के बहुत से अवयवो मे एकत्व आता है, तो सौन्दर्य आ जाता है। एकत्व इस ढङ्ग से आये कि समस्त मे भागो को भूल जाये, जैसे, मनुष्य के रूप मे इतने भाग है पर जब हम मनुष्य को देखते है तो भागो को नही देखते प्रतीत होते, समस्त मनुष्य को ही देखते प्रतीत होते है। जहाँ जितने अवयव एकीकृत होगे वहाँ उतनी ही अधिक सुन्दरता का प्रदर्शन होगा। ऐकान्तिक सौन्दर्य अनेकत्व मे एकत्व है। रेखागणित सम्बन्धी विन्दु मे कोई सौन्दर्य नही। रेखा सौन्दर्य की ओर अग्रसर होती है। त्रिभुज, आयत, और वर्ग, सौन्दर्य की ओर और भी अग्रसर होते हैं।

जिस कलामीमासा-सम्बन्धी क्रियाशीलता मे कलाकार अपने को अपने माध्यम मे मिलाकर उसे व्यञ्जक रूप प्रदान करता है, उसकी बहुत-सी विशेषताएँ है। इस क्रियाशीलता मे कलाकार का मन ध्यान योग की अवस्था मे होता है। वह वस्तु के व्यावहारिक और औपपत्तिक मूल्यो से उदासीन होता है। वह उसी के आन्तरिक गुणो से उसी के ब्यौरो से पूर्णतया सीमित रहता है। इन गुणो और ब्योरो को काट-छाँट कर उसका मन अभिव्यञ्जना के हित मे उपयोग करता है। आधार के वाह्य गुणो और प्रयोगो से भी उसका मन कोई प्रयोजन नही रखता, उसके केवल मूर्तिसाधक और नम्य गुणो का अभिव्यञ्जना के हित मे उपयोग करता है। मन सोचता अवश्य है परन्तु उसका सोचना वस्तु और माध्यम के व्यञ्जक गुणो से बाहर नही जाता। मन की यही शक्ति कल्पना है। कल्पना नियन्त्रित विचार शक्ति है। वह साधारण विचारशक्ति के बन्धनो से मुक्त होती है, ऐसे बन्धनो से जैसे निर्धारण, विश्वास और तथ्यो से अनुरूपता। कल्पना मे अपनी ही व्यवस्था और सङ्गतता होती है। यह सङ्गतता बाहर की किसी दूसरी वस्तु से निर्दिष्ट नही होती वरन् कलाकृति की आन्तरिक बनावट से ही निर्दिष्ट होती है। कल्पनात्मक सङ्गतता ही कला को स्वप्न और ख्याली पुलाव अथवा मनमोदकता से पृथक् करती है वरना तो मन की इन क्रियाओ मे भी न औपपत्तिक निमग्नता है और न व्यावहारिक। बहुत से सौन्दर्यशास्त्रज्ञ मन की उन सब क्रियाशीलताओ को एस्थैटिक

कहते है जो अनौपपत्तिक और अव्यावहारिक होते हुए स्वत आनन्दक होती है, चाहे वे सार्थक व्यञ्जकता मे सिद्ध न हो। हम सार्थक व्यञ्जकता को जो कल्पना द्वारा निष्पन्न होती है, एस्थैटिक क्रियाशीलता के लिये आवश्यक समझते है।

कलामीमासा-सम्बन्धी एस्थैटिक अनुभव मे सौन्दर्य की अनुभूति होती है। सौन्दर्य, प्रज्ञावादियो (इण्टिलैक्चुअलिस्ट्स) के मतानुसार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का निर्धारण है, जैसे सत्य सम्पूर्ण प्रकृतता का निर्धारण है और शिव सम्पूर्ण कल्याण का निर्धारण है। अन्तर्वेगवादियो (इमोशनलिस्ट्स) के मतानुसार सौन्दर्य, सत्य और शिव मूल्य है। यही मत हमे मान्य है। मूल्य दो वस्तुओ मे ऐसा परस्पर सम्बन्ध है जिसमे आने से एक वस्तु दूसरी वस्तु के लिए महत्त्व पा जाती है, जैसे चुम्बक के लिये लोहा, और प्राणी के लिए वायु मूल्यवान् है। कला मनुष्य के लिए मूल्यवान् है क्योकि वह उसकी निर्मायिक अर्थात् रूप देने की प्रेरणा की तुष्टि करती है, जैसे, सत्य मनुष्य के लिए मूल्यवान् है क्योकि वह उसकी जिज्ञासाविषयक प्रेरणा की तुष्टि करता है, और शिव मनुष्य के लिये मूल्यवान् है क्योकि वह उसकी सामाजिकताविषयक प्रेरणा की तुष्टि करता है। सौन्दर्य कलाकार की अनात्मिक अवस्था मे उसकी एस्थैटिक प्रेरणा की तुष्टि करता है। सौन्दर्य वस्तु का गुण नही है और न वह मन की किसी विशिष्ट शक्ति का उत्पादन है। मन मे कोई ऐसी शक्ति नही जो केवल अपनी क्रिया से ही वस्तु को सौन्दर्य दे दे, जैसे वह वस्तुओ को रङ्ग दे देती है। केवल एस्थैटिक प्रेरणा है जो मन को कुछ क्रियात्मक दिशाओ मे चालू कर देती है, जो भेद मे ऐक्य स्थापित कर देती हे, जो रूपहीन वस्तु को रूप दे देती है। मनुष्य की सवेदनशीलता मे रूप एक स्थायी तत्त्व है। मनुष्य रूप के लिये अन्दर से ही रुचि रखता है। उसके विचार, उसके अन्तर्वेग, उसके आदर्श, उसके विश्वास और उसका समस्त आन्तरिक जीवन रूप द्वारा व्यक्त होकर सिद्ध होता है। हमारे बाह्य कार्य हमारे आन्तरिक जीवन के रूप है। वह आन्तरिक नियन्त्रण है जिसे वस्तु व्यक्त होने मे अपने ऊपर स्थापित करती है। रूप निरर्थक प्रकृति को सार्थक बनाता है। कलाकार की रचना रूप ही है। रूप ही मे सौन्दर्य है। विषयवस्तु की सूक्ष्मता सौन्दर्य की आभा को और उज्ज्वल कर देनी है परन्तु सौन्दर्य रूप ही मे है, कृति के अङ्गो के विन्यास मे है। कला दो प्रकार की होनी है— रूपात्मक (फौर्मल) और प्रतिनिध्यात्मक (रैप्रीजेण्टेटिव), क्योकि माध्यम की वस्तु विषयवस्तु से पृथक् है। कला रूपात्मक तब होती है जब उसमे कला के माध्यम सम्बन्धी सामग्री से पृथक कोई विषयवस्तु नही होती, जैसे शुद्ध सङ्गीत। नही तो कला प्रतिनिध्यात्मक होनी है। रूपात्मक कृति और प्रतिनिध्यात्मक कृति दोनो सार्थक होती हैं। सङ्गीत और वस्तुकलाएँ रूपात्मक हैं, यद्यपि वास्तुकला मे उपयोगिता का तत्त्व भी आ जाना है। काव्य प्रतिनिध्यात्मक कला है। कला कोरे रूप मे सौन्दर्य की अनुभूति देती है, परन्तु जब कला की सामग्री के अवयवो के सम्बन्ध विषयवस्तु के अवयवो के सम्बन्ध के सूचक होते है तो सौन्दर्य की अनुभूति और भी बढ जाती है। कला की आधार विषयक सामग्री के सम्बन्धो से निकला रूप सुन्दर है और विषयवस्तु

विषयक सामग्री के सम्बन्धो से निकला हुआ रूप सुन्दर है तथा दोनो रूपो का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध सुन्दर है। सुन्दरता रूप मे है। विषयवस्तु के महत्त्व से कला मे उत्कटता आती हैं, सौन्दर्य रूप के अनुभव तक ही सीमित है। रूपात्मक और प्रतिनिध्यात्मक मानदण्डो से हम गद्य और कविता की पहचान कर सकते है। जहाँ विषयवस्तु रूप को नियन्त्रित रखे, वहाँ गद्य है, जहाँ रूप विषय को नियन्त्रित रखे वहाँ कविता है। रूप से नियन्त्रित वस्तु हमे सौन्दर्य की अनुभूति देती है और कला की सामग्री मे रूप का आरोपण ही एस्थैटिक क्रियाशीलता का सार है। कला मे हमारी निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की क्षमता अथवा सौन्दर्य सदा विद्यमान् है। प्रकृति मे वे ही दृश्य सुन्दर है जिनके देखने से मनुष्य को अपनी निर्मायिक प्रेरणा की तुष्टि की प्रतीति होती है। सौन्दर्य प्रकृति के कुछ दृश्यो अथवा कलाकृतियो और हमारे मन के मध्य एक विशिष्ट सम्बन्ध का द्योतक नाम है।

सौन्दर्य की अनुभूति मे आनन्द की अनुभूति भी होती है। कलाकार का अन्तर्वेग ध्याननिमग्न कलाग्राही की चेतना मे प्रतिबिम्बित होता है। जब यह प्रतिबिम्बित अन्तर्वेग एक ओर तो मन का समतोलन ले आये और दूसरी ओर अपना आस्वादन दे, तब ही कला मे सौन्दर्य की अनुभूति होती है। कला का आनन्द आत्मसग्रह के साथ होता है, जब आत्मा व्यावहारिक और औपपत्तिक वासनाओ से मुक्त होती है। यह आनन्द किसी बाहरी और दूर के उद्देश्य से सम्बन्धित नही है। यह आनन्द अनौपपत्तिक और अव्यावहारिक होते हुए अलौकिक है और इसीलिये दीर्घकालीन है जैसा कीट्स के पद—'ए थिंग ऑफ् ब्यूटी इज ए ज्वाय फार एवर' से विदित है। परन्तु इस आनन्द मे दो कमियाँ हैं। एक तो यह कि यह आनन्द निरन्तर नही है क्योकि वह कला-विषयो के अनुभव से होता है और कला-विषय बदलते रहते है। दीर्घकालीन इस अर्थ मे है कि जब कलाकृति का अनुभव होगा तभी आनन्द होगा। दूसरी कमी यह है कि यह आनन्द इन्द्रियो द्वारा होता है, अन्तरात्मा से नही, जैसे रहस्यवादी (मिस्टिक) का आनन्द। कला हमे इन्द्रियो और कल्पना के स्तर पर प्रभावित करती है। कला मे अनुभव आध्यात्मिक नही होता है। कलाकार अपने को वाह्य वस्तुओ मे व्यक्त करता है, वह अपने को अपने जीवन मे व्यक्त नही करता। उसे अपनी आत्मा का प्रत्यक्षीकरण सिद्ध नही होता। असली आनन्द कलाकार को तब प्राप्त हो सकता है जब वह उसी विरक्तता, उसी निःस्वार्थता और उसी समतोलन से रहे जिस विरक्तता, निःस्वार्थता और समतोलन को कला चाहती है, सक्षेप मे जब वह अपने जीवन को कला बनाले।

अन्त मे, एस्थैटिक अनुभव मे व्यापकता और निवेदनीयता (कम्यूनीकेबिलिटी) होती है। सौन्दर्य निजी अनुभव नही है। शारीरिक सवेदनाएँ निजी हैं, क्योकि वे अपने शरीर से उठती है। मानसिक स्थितियाँ निजी है, मानसिक प्रक्रियाओ की चेतना निजी है। सौन्दर्य सार्वजनिक है जैसे सत्य सार्वजनिक है और शिला सार्वजनिक है। सौन्दर्य को हम

निर्मायक प्रेरणा की तुष्टि बता चुके है। यह निर्मायक प्रेरणा सब मनुष्यो मे होती है। कला मूर्त्त रूप उपस्थित करती है। यह मूर्त्त रूप कलाकार के मन से बाहर भौतिक ससार मे उपस्थित होता है। जिस किसी मे निर्मायक प्रेरणा जागृत होती है, और वह सभी मे जागृत होती है—ऐसे मनुष्यो को छोड दिया जाय जो रात-दिन पशुओ की तरह इन्द्रिय-भोग के उपकरणो को एकत्रित करने मे जीवन व्यतीत करते है, वही कला को देख कर अपनी निर्मायक प्रेरणा की तुष्टि कर सकता है और सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। सौन्दर्य तात्त्विक रूप से सार्वजनिक है, वह बहुत मनुष्यो के निर्मायक अनुराग को उत्तेजित करता है। रूप देना और उसका अनुभव करना सब सस्कृत मनुष्यो की प्रेरणा है। इसी से कला के मूल्याङ्कन का मानदण्ड अनात्मिक है, आत्मिक नही। कला वही कला कहलाई जा सकती है जो सब को निवेदनीय हो। जो कलाकार अपनी कला के विषय मे यह कहता है कि वह चाहे दूसरो के लिये सुन्दर न हो, उसके लिये सुन्दर है, वह अपने मुँह से अपनी कला की असफलता को घोषित करता है—यह दूसरी बात है कि वह इतना बढा चढा कलाग्राही है कि जो उसको सुन्दर है, वह दूसरो को भी सुन्दर है। सुन्दर वही है जो सस्कृत सहृदयो को सुन्दर है, जेसे अरिस्टॉटल के कथनानुसार शिव वही है जो नीतिपरायण मनुष्यो को शिव हो। कलाकार मे निवेदन की चेतन प्रवृत्ति नही होती जैसा कि अक्सर समझा जाता है और जैसा कि कभी-कभी मिल्टन, वर्ड्सवर्थ और शैली जैसे कवियो की उक्तियो से प्रतीत होता है कि वह जानबूझ कर दूसरो के लिये सौन्दर्य उत्पादित करता है, आशङ्कनीय है। वह तो अपने अनुभव को अपने माध्यम मे व्यक्त करने मे सलग्न रहता है। मनुष्य सामाजिक जीव है और उसकी अधिकाश क्रियाएँ सामाजिक सार्थकता रखती है। जैसे वह नित्य अपना कार्य करता है, जैसे वह अपने को कपडो से आभूषित करता है, जैसे वह चलता फिरता है, उसकी सब क्रियाएँ दूसरे को चेतन या अचेतन रूप से निवेदित होती है। अपने अनुभव की सामाग्री को रूप देना ही अचेतन रूप से दूसरो के निवेदनार्थ होता है। वही अनुभव सफल कला मे आविर्भूत होता है जो सब को ग्राह्य होता है। कलात्मक उत्पादन का वाह्य वस्तु होना, जिसे सब कोई देख सकते है, सुन सकते है, और ग्रहण कर सकते है, भी इस बात का द्योतक है कि कला सार्वजनिक वस्तु है। निजी कलाकृतियाँ नही होती। इस विवेचन से सिद्ध है कि निवेदन कला का आवश्यक उद्देश्य है, यद्यपि वह प्राय अचेतन रूप मे ही रहता है। अपने यहाँ के रसास्वादन और ध्वनि के सिद्धान्त रसिक और सहृदय की उपस्थिति मान कर निवेदनीयता के सिद्धान्त को दृढ करते है।

निवेदन क्या है? कुछ लोगो का मत है कि निवेदन अनुभवो का वास्तविक हस्तान्तरकरण है। ब्लेक का विश्वास मालूम होता है कि मन की स्थितियाँ शक्तियाँ है जो अब इस मन मे और फिर उस मन मे या बहुत से मनो मे प्रवेश कर जाती है। निवेदन के और दूसरे व्याख्याता भी ऐसी ही परासम्बन्धी व्याख्याओ का सहारा लेते हैं। उनका कहना है कि

मानव मन जैसा हम उन्हे समझते है, उनसे कही वृहद् है, कि किसी मन के भाग दूसरे मन के भाग बनने के लिये जा सकते है, कि मन एक दूसरे मे प्रवेश कर जाते है और आपस मे मिल जाते है, कि विशिष्ट मन केवल मायिक आभास है, कि सब मनो के अन्तर्गत एक ही मन है जिसके दूसरे मन बहुत से पहलू है। परन्तु इस प्रकार की व्याख्याओ का समर्थन अनुभव नही करता। निवेदन मे एक अनुभव ज्यो का त्यो दूसरे के पास नही जाता। जो होता है वह यह है कि किन्ही निर्दिष्ट दशाओ मे दो पृथक् मनो मे बहुत कुछ समान अनुभव उपस्थित होते है। अन्यचित्तज्ञान (टैलीपैथी), मोहन (हिप्नौटिज्म), और अप्रत्यक्षदर्शन (क्लेअरवोयेन्स) की बात जाने दीजिये। वैधिक रीति से हमे मनो की पृथकता माननी पडती है। बहुत अनुकूल परिस्थिति मे उनके अनुभव, यदि हम कडी दृष्टि से जाँच न करे तो, समान हो सकते है। निवेदन तब होता है जब हम वाह्य उपकरणो पर इस प्रकार क्रियाशील होते है कि उस क्रियाशीलता से परिवर्तित उपकरण दूसरे मन को प्रभावित करने मे सफल होते हैं और उस मन मे एक ऐसा अनुभव होता है जो हमारे अनुभव के समान होता है तथा किसी कदर हमारे अनुभव से निश्चित होता है। ऐसे अनुभव को जो दो आदमियो के प्रत्यक्ष हो, एक आदमी दूसरे आदमी से आसानी से निवेदित कर सकता है। मानो, एक आदमी ने बाजीगर देखा है और दूसरे ने नही देखा है और बाजीगर दोनो के सम्मुख उपस्थित है, तो जिसने पहले बाजीगर देखा है वह दूसरे से कह सकता है कि यह बाजीगर है और दूसरा समझ लेता है कि वह बाजीगर है। परन्तु यदि वही आदमी दूसरे आदमी से बाजीगर की अनुपस्थिति मे बाजीगर का अनुभव निवेदित करे तो तभी वह दूसरे आदमी को अपना अनुभव निवेदन करने मे सफल होगा जब वह वर्णनकला मे प्रवीण हो और दूसरे मे बडी सवेदनशीलता और ग्रहणक्षमता हो। साधारणतौर से निवेदन ऐसे दो आदमियो मे ही आसान होता है जिनमे बडी घनिष्ठता हो, जो बहुत दिनो तक साथ-साथ एक ही परिस्थिति मे रहे हो, जिनके अनुभवो की पुञ्जि बहुत कुछ एक-सी हो। ऐसे आदमियो के लिये भी इस बात की और आवश्यकता है कि वे अपने पुराने अनुभवो को उचित विवेक के साथ याद ला सके। यदि ऐसी समानताएँ नही तो निवेदन सम्भव नही। कठिन उदाहरण वे है जिनमे निवेदन करने वाला ही सुनने वाले के अनुभव के कारणो को बहुत कुछ स्वय देता और नियन्त्रित करता है, जिनमे सुनने वाला अपने पुराने अनुभवो के तत्त्वो को समाविष्ट हो जाने से कठिनाई से रोक पाता है। ऐसे कठिन उदाहरणो मे निवेदन का माध्यम नानाशक होना चाहिये। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को सन्दर्भ मे सार्थक कर देता है। इसी से तो गद्य की जगह पद्य ही काव्य के अनुभवो के निवेदन के लिये श्रेष्ठ हैं। निवेदन की कठिनाई विषय-वस्तु की कठिनाई नही समझनी चाहिये। कठिन बषय, जैसे गणित और भौतिक विज्ञान के, बडी सुगमता से निवेदित हो सकते है। जहाँ निवेदन करने वाला सुनने वाले के प्रत्युतर (रैस्पौन्स) को नियन्त्रित करता है वहाँ तो निवेदन कठिन होता ही है। कठिनाई वहाँ भी होती है, जहाँ निर्देशो से सूचित बातों के

लिये नही, जैसे विज्ञान मे, वरन् प्रवृत्तियो को उत्तेजित करने के लिये जैसे काव्य मे, निवेदन किया जाता है। ऐसे निवेदन को गहरा निवेदन कह सकते है।

निवेदन की सुगमता तीन बातो पर निर्भर है। पहली बात यह है कि कलाकार का पुराना अनुभव उसे प्राप्य हो, ज्यो का त्यो प्राप्य नही, वरन् विवेकपूर्ण। ज्यो का त्यो अनुभव तो पागलो को प्राप्य होता है। मौलिक अनुभव कुछ प्रेरणाओ पर आधारित था। यदि उन प्रेरणाओ के समान कुछ प्रेरणाएँ फिर दुबारा न उपस्थित हो तो वह अनुभव फिर जागृत नही हो सकता। किसी अनुभव मे थोडी प्रेरणाएँ हो सकती है और किसी मे बहुत सी प्रेरणाएँ हो सकती हैं। जिस अनुभव मे थोडी प्रेरणाएँ होती है उसकी जागृति के मौके कम होते है। जब तक कि वे प्रेरणाएँ फिर प्रबल न हो, अनुभव की जागृति असम्भव है। जिस अनुभव मे बहुत सी प्रेरणाएँ होती है उस अनुभव की जागृति के मौके बहुत होते है। ऐसे अनुभव की प्रेरणाओ मे कुछ प्रेरणाएं एक व्यवस्था पा जाती हैं, दूसरी प्रेरणाएँ दूसरी व्यवस्था पा जाती है, तीसरी प्रेरणाएँ तीसरी व्यवस्था पा जाती हैं और इस प्रकार वह अनुभव इन सयुक्त प्रेरणाओ से नानाशक हो जाता है। यदि प्रेरणाओ की कोई एक व्यवस्था फिर दुबारा लक्षित हो जाय तो सारा अनुभव जागृत हो जाता है। नानाशक अनुभव भी वह जल्दी जागृत होता है जिसकी प्रेरणाओ अथवा प्रेरणाओ की नाना व्यवस्थाओ मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सुव्यवस्थित अनुभव, चाहे भागो मे, चाहे समस्त सङ्गत मौको पर, आसानी से प्राप्त होता है। अनुभव शिराविषयक प्राबल्य से आई हुई जागरुकता की अवस्था मे अच्छी तरह व्यवस्थित होता है। स्वभाव से हीन जागरुकता की अवस्थाएँ साधारण मनुष्यो की अपेक्षा कलाकार को अधिक सख्या में सुलभ होती है। इसीलिये कलाकार के अनुभव सुव्यवस्थित होते है और वह अपने पहले अनुभवो को आसानी से जगा लेता है। उसका नया अनुभव भी जागरुकता की अवस्था मे सुव्यवस्थित होता है और यदि कलाग्राही भी जागरुकता की अवस्था मे हो और कलाकार के अनुभव की प्रेरणाएँ पर्याप्त मात्रा मे उसकी भी रही हो तो कलाकार का अनुभव उसके लिये सुगमता से निवेदित हो जाता है। दूसरी बात जिससे निवेदन सुगम हो जाता है, वह निवेदित अनुभव की विशिष्टता है। यह विशिष्टता रोग, उत्केन्द्रता, या नियमातिरिक्तता के कारण नही होती। यह विशिष्टता ऐसे अनुभवो के नियमित दिशाओ मे सूक्ष्म विकास से आती है जो मानव जाति के आम रास्ते मे होते हैं और जो सबकी पहुँच के भीतर होते हैं। व्यवस्था मे ये अनुभव समकालीन बहुत से मनुष्यो के अनुभवो से बढे-चढे होते हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती है पर रूढ़ियाँ, रिवाज, और नियम आसानी से नही बदलते है। कवि अपनी अधिक सवेदनशीलता के कारण यह देख लेता है कि उसके समय की रूढियाँ, रिवाज, और नियम उस काल के जीवन के अनुकूल नही है और साधारण मनुष्यो से पहले अपने को पुनर्व्यवस्थित कर लेता है। उसके मन का विकास औरो से पहले होता है। यह विकास मन के उन नये, सुनम्य, और अस्थिर भागो की ओर से होता है जिनके लिये पुनर्व्यवस्था आसान होती

है। पुनर्व्यवस्था भी ऐसी होती है जो समस्त शरीर और मन के हित मे होती है। ऐसी पुनर्व्यवस्था से आतान (स्ट्रेन) कम हो जाता है और प्राणी को सुख मिलता है। पुनर्व्यवस्था मे आतान का कम होना इस बात का प्रमाण है कि विकास हितकारी है। शैली ने अपने को आदर्श सौन्दर्य को स्त्रियो के रूप मे पाने के आधार पर पुनर्व्यवस्थित किया। इस पुनर्व्यवस्था से उसका जीवन दिन पर दिन दु खमय होता गया और वह अकाल मृत्यु का शिकार हुआ। इस प्रकार का विशिष्ट अनुभव व्यापक रूप से निवेदनीय नही होता है। शैली के 'एलास्टर' पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अनुभव की वही विशिष्टता निवेदनीय होती है जो नियमित दिशा मे है। इसका उदाहरण शेक्सपिअर है और कीट्स भी होता यदि वह बहुत दिनो तक जीवित रहता। अनुभव की प्राप्यता और व्यवस्थित अनुभव भी नियमित दिशा मे विशिष्टता के बाद तीसरी बात जिससे निवेदन सुगम हो जाता है, वह अनुभव की उपयुक्त माध्यम मे अभिव्यक्ति है। इसके लिए कलाकार को रचनाकौशल मे अभ्यस्त होना चाहिए।

रचनाकौशल (टैक्नीक) आन्तरिक धारणा की प्रतीको मे अभिव्यक्ति है। इसीलिए जो लक्षण आन्तरिक धारणा के होगे वही लक्षण रचनकौशल के होगे। आन्तरिक धारणा के दो लक्षण होते है—पहले तो भावमय विचार, और दूसरे उनका ऐक्य। आन्तरिक धारणा की वस्तु टुकड़ो-टुकडो मे व्यक्त की जाती है, परन्तु जब वह इस तरह व्यक्त की जा रही है, अन्त में वह ऐक्य मे स्थापित होने की क्षमता भी व्यक्त करती जा रही है। और जब समस्त वस्तु व्यक्त हो जाती है तो वह वास्तव मे विन्यस्त ऐक्य है। रचनाकौशल मे भावमय विचारो के अनुरूप वाक्सरणि और ऐक्य के अनुरूप रूप होता है। वाक्सारणि आन्तरिक धारणा की वस्तु का प्रतीक है और रूप उसके ऐक्य का प्रतीक है। इस प्रकार रचनाकौशल के भी दो लक्षण हुए—पहले तो वाक्सरणि और दूसरे रूप। वाक्सरणि मे शब्दो के अर्थ और उनकी आवाज, दोनो निर्दिष्ट है। सङ्केतित अर्थ और उच्चरित शब्द दोनो मिलकर अभिव्यक्त अनुभव अथवा कलाकृति के वस्तु हुए और वे दोनो शारीरिक विकास प्राप्त कर ,रूप का आविर्भाव करते हैं। वस्तु और रूप मे केवल प्रत्ययात्मक पार्थक्य है। वस्तु और रूप एक हैं यह कहना ठीक है, परन्तु जब दोनो एक हैं तो दोनो लोप हो जाते हैं और केवल कलाकृति ही रह जाती है। परन्तु जब हम कहते है कि अमुक कृति का रूप है तभी हम टेढे तरीके से यह कहते समझे जाते हैं कि उस कृति की विषय-वस्तु है। वास्तव मे वस्तु और रूप एक ही चीज के दो पहलू हैं और जब हम दोनो पहलुओ पर विचार करते है तो यह कहने मे कोई सार्थकता नही कि वे एक हैं। वस्तु और रूप दोनो पहलुओ पर विचार करने से कला के रचनाकौशल सम्बन्धी विषय के मीमासन मे बड़ी सहायता मिलती है। यदि मनुष्य अपने अनुभव को ज्यो का त्यो सीधे निवेदित कर सकता तो इन विचारो की आवश्यकता न होती। परन्तु, क्योकि अनुभव टेढे तरीके से प्रतीकपद्धति, द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसकी अभिव्यक्ति

की पहली अवस्था उसको टुकडो मे तोडना होता है, और जैसे ही कि टुकडो को क्रम से व्यक्त करने के लिये उपयुक्त प्रतीको का प्रयोग किया जा रहा है, कलाकार इस बात को भी पूरी तरह से ध्यान मे रखता है कि पीछे से टूटा हुआ समस्त अनुभव फिर से एक हो जाय। वास्तव मे अनुभव का कोई विशेष ब्योरा तब तक ठीक व्यक्त नही हो सकता जब तक कि वह इस प्रकार व्यक्त नही किया जाता कि वह आखिरी समस्त अभिव्यक्ति से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित न हो। इस प्रकार रूप को कोई वाह्य चीज न समझना चाहिए जिसको पीछे से कलावस्तु पर आरोपित किया जाता है, कला के रूप का अन्तिम स्थापन कलाकृति के अस्तित्व की समस्त परिक्रिया मे निहित होता है। रचनाकौशल का सिद्धान्त है कि कार्यसाधक ही व्यञ्जक है और इसी सिद्धान्त पर आधारित कला मे रूप-सौष्ठव होता है।

प्रत्येक कला की आधाररूपी वस्तु होती है जिसे साध कर उसे रूप देता हुआ कलाकार उसके रूप मे अपने अनुभव के रूप को व्यक्त करता है। उसका अनुभव कलाधार के उपयोग से पहले ही रूप पा गया हो, यह सम्भव है, परन्तु यह रूप कलाधार के उपयोग के साथ-साथ भी विकसित हो सकता है और कलाधार के उपयोग से पहले वाला रूप परिवर्तित भी हो सकता है। पिछली दोनो बाते ज्यादा होती हैं। काव्य के आधार शब्द है। काव्य शब्दो को इस तरह इस्तेमाल करता है कि हमारे भाव और विचार हमारी कल्पना मे इन्द्रियोत्तेजक अनुभवो के रूप नाट्य करने लगते है और वे अन्त मे अपने को रूप मे व्यवस्थित कर लेते है। रचनाकौशल द्वारा काव्य भाषा को आन्तरिक अनुभव के समतुल्य होने के लिए विवश कर देता है। काव्य की यह शक्ति कविता मे अधिक दृष्टिगोचर है। कविता भाषामे आन्तरिक अनुभव का फोटो देने मे उद्यत होती है, और इस उद्देश्य को वह शब्दो के अर्थविषयक और आवाज़विषयक दोनो धर्मों का उपयोग करके पाती है।

शब्दों के दो तरह के अर्थ होते हैं—सरल और प्रतीयमान। किसी शब्द का सरल अर्थ वही है जिसे हम शब्दकोष में पाते है, जो वाक्य निर्माण की प्रक्रिया मे सहायक होता है, जो विचार की व्यवस्था को निश्चित करता है। किसी शब्द का सरल अर्थ इस शब्द की परिभाषित अथवा तार्किक विशेषता है। शब्द का सरल अर्थ वह अर्थ है जो उसके मूल्य की समस्त सम्भव विभिन्नताओ मे व्यापक होता है, वह प्रत्येक शब्द के शक्य मूल्य का आसन्न और सिद्ध सूत्र है, वह उसका खरा और स्पष्ट दर्शन है। कविता शब्दो का उनके सरल अर्थों मे प्रयोग करती है, परन्तु शब्दो के असरल मूल्यो पर अधिक एकाग्र होती है। शब्दो का असरल या काव्यात्मक मूल्य उनके अर्थ की असामान्य योग्यता के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ नही है। यह असामान्य योग्यता विशिष्ट साहचर्यों मे सदर्भ से व्यञ्जित उत्कटता के कारण आती है। शब्द को मूल्य देने मे कवि उस शब्द को उसके सरल अर्थ से हटाकर उसे ऐसे अर्थ का व्यञ्जक करता है जिससे वह शब्द वैयक्तिक शक्ति और विशिष्ट जान पा

जाता है। शब्दो मूल्य का स्रोत अनुभव है। किसी शब्द का मूल्य जीवन के व्यापारो के सम्बन्ध मे उसके प्रयोग से आता है। जीवन के कोई दो व्यापर एक से नही होते परन्तु उनको व्यक्त करने के लिए शब्द एक से हो सकते हैं। जीवन का कोई कार्य या व्यापार अपने को नही दुहराता परन्तु भाषा को अपने को दुहराना पडता है। इसी कारण थोडे-थोडे भिन्न कार्यो और व्यापारो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होते-होते शब्द अनेक विभिन्न अर्थों का सूचक हो जाता है, और जितने समय तक वह शब्द भाषा मे जीवित रहता है उतने समय तक ही वह विभिन्न कार्यों और कार्यों की विभिन्न विशेषताओ का सूचक हो जाता है। फिर, किसी शब्द से चिह्नित कोई जीवन-कार्य दूसरे अनुभूत कार्यों मे फँसा हुआ पुनरुपस्थित हो सकता है। इस प्रकार किसी शब्द की विभिन्न व्यञ्जकता एक ही कार्य से सीमित नही रहती, वरन् दूसरे अनुभवो से सम्बन्धित अवस्थाओ और परिस्थितियो तक बढ जाती है, और धीरे-धीरे उस शब्द मे व्यञ्जकता की एक अद्भुत राशि इकट्ठी हो जाती है। ऐसे समृद्ध शब्दो ही मे सौन्दर्य की अनुभूति होती है। सुन्दर शब्द, जैसा कि यूनानी-आलोचक लॉन्जायनस ने कहा था, भावो और विचारो के प्रकाश हैं। यो तो कवि को सभी शब्द प्रिय होते हैं पर सुन्दर शब्द विशेष रूप से प्रिय होते हैं। ये उनके घनिष्ठ सम्बन्धी, सखा और मित्र होते है। इस प्रसङ्ग मे हमे एक सच्ची कहानी याद आ जाती है। रामानुजम् जो प्रोफेसर हार्डी के साथ गणित मे अनुसन्धान करते थे, एक बार बीमार हो गये। उन्हे देखने के लिए प्रोफेसर हार्डी एक बस मे आये जिसका नम्बर सत्तरहसौ उन्तीस था। प्रोफेसर हार्डी ने बातो मे कहा, "रामानुजम्, मैं एक ऐसी गाडी मे आया जिसका नम्बर बडा मनहूस है।" रामानुजम् ने पूछा, "वह क्या है ?" प्रोफेसर हार्डी ने कहा, "सत्तरहसौ उन्तीस।" रामानुजम् ने एकदम कहा, "नही, नही प्रोफेसर हार्डी। यह नम्बर मनहूस नही बल्कि बडा चित्ताकर्षक है।" प्रोफेसर हार्डी ने पूछा, "कैसे ?" रामानुजम् ने कहा, "सत्तरहसौ उन्तीस अंकगणित की पहली ही वह अभाज्य संख्या है जो भिन्न-भिन्न दो संख्याओ के घनो का योग होती है। देखिये, बारह का घन और एक का घन भी जुड-कर सत्तरहसौ उन्तीस होता है और दस का घन और नौ का घन भी जुडकर सत्तरहसौ उन्तीस होता है।" प्रोफेसर हार्डी सुनकर चकित रह गये। उन्होने रामानुजम् का जीवन चरित्र लिखते समय इस घटना के विषय मे लिखा है कि रामानुजम् अङ्कगणित की अभाज्य संख्याओ के साथ इस प्रकार रहता था जैसे कोई अपने घनिष्ठ मित्रो के साथ रहता है। बस, ऐसे ही कवि सुन्दर शब्दो के साथ रहता है। वह उनके आन्तरिक और वाह्य गुणो से पूर्णतया परिचित होता है। अतिशयोक्ति मे हम यह कह सकते हैं कि कवि का जीवन-आनन्द ही शब्दमयी अभिव्यञ्जना है। ऐसे प्रचलित शब्द जो जीवन के विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित होकर समृद्ध हो जाते हैं, पाठक को काव्य-रस का आस्वादन देते है। कवि कभी-कभी शब्दो को उन्हे थोडे से बदले हुए अर्थ मे प्रयोग करके ऊपर उठा देता है। एरिस्टॉटल ने यह मति कवियो को दी थी, "तुम्हे अपने वाक्यांश

को पारदेशिक (फॉरेन) रूप देना चाहिये, क्योंकि शैली के सम्बन्ध मे मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं जैसे वे दूसरे देश के नागरिको से प्रभावित होते है।" इसी कारण कवियो को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वे पुराने शब्दो को पुनर्जीवन दे दें, उपभाषाओ के शब्दो का प्रयोग कर ले, और नये शब्द गढ लें। बहुत से शब्द ऐसे हैं जो कविता मे सदियो से प्रयुक्त होते-होते काव्यात्मक वाक्सरणि हो गये है जैसे अग्रेजी मे मॉर्न, क्लाइम, और दूसरे शब्द। इन शब्दो मे व्यञ्जकता नही रह जाती और इनका उपयोग करना अच्छी रुचि के मुआफिक नही है।

प्राच्य साहित्यशास्त्र मे रचनाकौशल पर बडा ध्यान दिया गया है। शब्द का जैसा सूक्ष्म अध्ययन यहाँ हुआ है, वैसा योरुप मे नही हुआ। 'विष्णुपुराण' मे शब्द को विष्णु का अंश माना गया है और 'महाभाष्य' मे लिखा है कि एक शब्द का यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय और उसका सुन्दर रूप मे प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक दोनो मे अभिमत फल का दाता होता है। शब्द का शास्त्रो मे बडा महत्त्व है और उसके अर्थज्ञान के हेतु उसके व्यापारो का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन करीब-करीब सब साहित्यशास्त्रो मे मिलता है। शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई है—अभिधा, लक्षणा, और व्यञ्जना। शक्ति से अभिप्राय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का है। साक्षात् सङ्केतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अभिधा शक्ति से पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का रूप खडा होता है। उदाहरण के लिये, 'गधा एक जानवर है,' इस वाक्य मे गधा शब्द का अपने अर्थ मे साक्षात् सङ्केत है और इस अर्थ का ज्ञान हमे गधा शब्द की अभिधा शक्ति से होता है। शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा है। मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'यह नौकर गधा है,' यहाँ गधे का अर्थ साक्षात् सङ्केतित नही होता। इस वाक्य मे अभीष्ट अभिप्राय-सिद्धि के लिए सादृश्य के आधार पर अप्रसिद्ध अर्थ बेवकूफ से इसका अर्थ जोडा गया। अत गधे से बेवकूफ अर्थ का ज्ञान होना उस शब्द की लक्षणा शक्ति द्वारा है। शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना है। अभिधा और लक्षणा के अपना-अपना अर्थबोध करा के विरत—शान्त—हो जाने के बाद जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। उदाहरण के लिए, 'मैं हूँ पतित, पतिततारन तुम,' यहाँ वाच्यार्थ है, 'मैं पापी हूँ, तुम पापियो का उद्धार करने वाले हो'। परन्तु इस वाक्य का यह अर्थ भी निकलता है, जब तुम पतितो के उद्धार करने वाले हो, तो मुझ पतित का भी उद्धार करोगे। 'गङ्गा पर गाँव है,' इस उदाहरण मे अभिधा शक्ति कोई अर्थ नही देती, गाँव गङ्गा के ऊपर नही हो सकता। लक्षणा शक्ति से गङ्गा पर का अर्थ 'गङ्गा के किनारे पर' लक्षित होता है, और व्यञ्जना शक्ति से 'गाँव के शीतल और पावन होने की अधिकता' का ज्ञान होता है। पाश्चात्य रचनाकौशल के विषय मे ऊपर हम कह चुके है कि कविता, व्यञ्जक-शब्दो को अधिक पसन्द करती है। शुक्ल जी का मत है कि काव्य की रमणीयता

वाच्यार्थ मे होती है किन्तु यह ज्यादा ठीक नही है। पाश्चात्य आलोचना की एक उक्ति है कि रूपक सूक्ष्माकार कविता है। यदि अपने जीवन मे कोई कवि एक नये व्यञ्जक रूपक का आविष्कार करे तो वह कवियो मे बडी ऊँची पदवी का हकदार है। हम यहाँ शास्त्रीय मत का समर्थन करते है कि कविता की जान व्यञ्जकता ही मे है, व्यञ्जना चाहे रस-भाव की हो चाहे वस्त्वलङ्कार की। इस विषय पर वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की आलोचनात्मक बहस बडी शिक्षाप्रद होगी।

कविता, भाषा को भावो और विचारो का यान नही बनाती बल्कि वह भाषा को उनका प्रतिनिधि बनाने का प्रयास करती है। इसी प्रयास मे वह उन सब गुणो का एक साथ प्रयोग करती है जो भाषा मे होते है। भाषा का मौलिक रूप तो बोली है, लिखित रूप तो पीछे की चीज है। बोला हुआ शब्द प्राथमिक है, वही विचार का प्रतीक है। लिखा हुआ शब्द बोले हुए शब्द का प्रतीक है और इस तरह प्रतीक का प्रतीक है। मन-मन मे पढने की वृत्ति ने लिखित शब्द को ही विचारो का सीधा प्रतीक बना दिया है। परन्तु बात यह है कि भाषा विचारो की निवेदनीय प्रतीक पद्धति होने की हैसियत से दो तरह का अस्तित्व रखती है—दृश्यमान चिह्न और श्रोतव्य चिह्न। कविता मे भाषा का अस्तित्व बतौर श्रोतव्य चिह्न है। जब हम कविता को मन मे पढते है तब भी हम उसे मन मे सुनते है, और कविता को सदा आवाज से पढना चाहिये, क्योकि आवाज द्वारा भी कवि अपने अनुभव का कुछ भाग व्यक्त करता है। फिर भी भाषा की दृश्यमान हैसियत को कम महत्त्व नही देना चाहिये। श्रोतव्य चिह्नो से हमारी अन्तर्वेगीय ग्रहणशीलता उन्नत होती है, परन्तु लिखी हुई या छपी हुई भाषा मे आँख के सहारे विचारो के सूक्ष्म साहचर्य या सार्थकता के आनुक्रमिक विकास का जैसा ग्रहण होता है वैसा सुनी हुई भाषा मे नही होता। फिर भी काव्यात्मक भाषा की प्रेरणा आँखो और कानो दोनो को साथ-साथ होती है और काव्य-प्रणयन मे श्रोतव्य रचनाकौशल की समस्या उठ खडी होती है।

श्रोतव्य रचनाकौशल के लिये कवि को श्रवणेन्द्रियमूलक मन को सस्कृत करना चाहिये। वह स्वरशास्त्र मे प्रवीण हो। स्वर और व्यञ्जनो के सक्रमण से वह मनोवाञ्छित प्रभाव पैदा कर सके। अनुप्रास ध्वन्यनुकरण, तुक, और पुनरावृत्ति से भाषा को चमत्कृत करने की उसमे क्षमता हो।

स्वर और व्यञ्जनो के सक्रमण के विषय मे साधारण सिद्धान्त यह है कि लघु स्वरो का बाहुल्य पद्याश मे गति का वेग लाता है और ऐसे विचारो का व्यञ्जक होता है जिनमे क्षिप्रता, वेग, कोमलत्व, तुच्छता, और चापल्य का सम्बन्ध हो। इसके विरुद्ध दीर्घस्वरो का बाहुल्य पद्याश को मन्द गति देता है और ऐसे विचारो का व्यञ्जक होता है जिनमे दीर्घता, अवकाश, समय, दूरी, दौर्बल्य, थकावट, विश्राम, गाम्भीर्य और गौरव का सम्बन्ध हो। मिल्टन का 'लैलैग्रो' और टैनीसन का 'द बुक' लघुस्वरो के बाहुल्य के उदाहरण हैं और मिल्टन का 'इल पैन्सरोसो' दीर्घस्वरो के बाहुल्य का उदाहरण हैं।

दीर्घस्वरो मे ओ-स्वर विशेषतया सुस्वर है। हुड के इस पद्यांश को आवाज से पढिये—

गोल्ड ! गोल्ड ! गोल्ड ! गोल्ड !
ब्राइट एण्ड यलो, हार्ड एण्ड कोल्ड,
मोल्टेन, ग्रेवेन, हैमर्ड एण्ड रोल्ड,
हैवी टु गेट एण्ड लाइट टु होल्ड;
होर्डेड, बार्टर्ड, बॉट एण्ड सोल्ड,
स्टोलेन, बारोड, स्क्वैण्डर्ड, डोल्ड,
स्पर्ण्ड बाइ द यग बट हग्ड बाई द ओल्ड
टु द वैरी वर्ज आफ द चर्च-यार्ड मोल्ड,
प्राइस आफ मेनी ए क्राइम अनटोल्ड।[1]

व्यञ्जनो मे ल, म, न, और र सुस्वर है तथा ट ठ, ग और क कुस्वर है। ऐसे शब्द जिनमे कई व्यञ्जनो के साथ एक स्वर हो, खास तौर से परुष होते हैं, जैसे, स्ट्रैच्ड और स्क्रीच्ड। सुस्वरता का उदाहरण यह है —

मेम्नोनियन लिप्स !
स्मिटेन विद सिंगिग फ्राम दाई मदर्स ईस्ट,
एण्ड मर्मरस विद म्यूज़िक, नॉट देयर ओन।[2]

कुस्वरता का यह उदाहरण है —

इर्क्स केयर द क्रापफुल बर्ड ? फ्रेट्स डाउट
द मॉ-क्रैम्ड बीस्ट।[3]

निकटस्थित शब्दो के एक या दो शुरू के व्यञ्जनो की समानता या ऐसे शब्दो के

---

[1] Gold ! gold ! gold ! gold !
Bright and yellow, hard and cold,
Molten, graven, hammered and rolled,
Heavy to get, and light to hold,
Hoarded, bartered, bought and sold,
Stolen, borrowed, squandered, doled ·
Spurned by the young but hugged by the old
To the very verge of the church-yard mould,
Price of many a crime untold.

[2] Memnonian lips !
Smitten with singing from the mother's east !
And murmurous with music, not their own

[3] Irks care the cropful bird ? Frets doubt
the maw-crammed beast

स्वराघात से उच्चरित अक्षरो की समानता को अनुप्रास कहते है, जैसे डीप डैम्नेशन और लव्ज़ डिलाइट। अनुप्रास भाषा का सुन्दर गहना है। कभी-कभी वह अर्थ को भी दोप्त कर देता है, जैसे कार्डीनल वोल्ज़ी के विषय मे ये प्रसिद्ध पद—

बिगॉट बाइ बुचर्स, बट बाइ बिशप्स ब्रेड,
हाउ हाइ हिज़ ऑनर होल्ड्स हिज़ हॉटी हेड।[1]

ज्यादा अनुप्रास बुरा हो जाता है, जैसे

ओ विण्ड, ओ विङ्गलेस विण्ड दैट वाक्स्ट द सी,
वीक विण्ड, विङ्ग-ब्रोकेन वीयरियर विण्ड दैन वी।[2]

ध्वन्यनुकरण की रमणीयता इन पदो मे देखिये —

द मोन ऑफ डव्ज़ इन इम्मेमोरियल एल्म्स,
एण्ड मर्मरिङ्ग ऑफ इन्यूमरेबिल बीज़।[3]

या इन पदो मे देखिये —

द ब्राड एम्ब्रोज़ियल एइल्स ऑफ लॉफ्टी लाइन,
मेड न्वायज़ विद बीज़ एण्ड ब्रीज़ फ्राम एण्ड टु एण्ड।[4]

तुक तो प्राय सभी भाषाओ मे कवित्व का महत्त्वपूर्ण आधार है। वह भाषा को छन्द भी अधिक ऊपर उठा लेती है और कवित्व के वातावरण को घोषित कर देती है। तुक या दो अक्षरो पर अच्छी लगती है। ज्यादा अक्षरो पर या तो बुरा हो जाती है या हास्य हो जाती है, जैसे—

टिज़ पिटी लर्नेड वर्जिन्स एवर वेड
विद परसन्स ऑफ नो सार्ट ऑफ एजुकेशन,
ऑर जेण्टिलमेन, हू, दो वेल बोर्न एण्ड ब्रेड,
ग्रोज़ टायर्ड ऑफ साइण्टिफिक कनवर्सेशन,
आई डोण्ट चूज़ टु से मच अपॉन दिस हेड
आइम ए प्लेन मैन एण्ड इन ए सिंगिल स्टेशन

---

1 Begot by butchers, but by bishops bred,
How high his honour holds his haughty head.

2 O wind, O wingless wind that walk'st the sea,
Weak wind, wing broken wearier wind than we.

3 The moan of doves in immemorial elms,
And murmuring of innumerable bees.

4 The broad ambrosial aisles of lofty line,
Made noise with bees and breeze from end to end.

बट-ओह ! यी लार्ड्स ऑफ लेडीज इण्टेलेक्चुअल
इन्फार्म अस ट्रूली, हैव दे नॉट हेनपेक्ड यू आल ?[१]

पद्य मे शब्दो की पुनरावृत्ति बडी मनोहर होती है। उसकी शोभा स्विनबर्न के इन पदो मे देखिये —

आई हैव पुट माई डेज एण्ड ड्रीम्स आउट ऑफ माइण्ड
डेज दैट आर ओवर, ड्रीम्स दैट आर डन।[२]

या इन पदो मे देखिये —

डिलाइट, द रूटलैस फ्लावर,
एण्ड लव, द ब्लूमलैस बावर,
डिलाइट, दैट लिव्ज ऐन आवर,
एण्ड लव दैट लिव्ज ए डे।[३]

श्रोतव्य रचनाकौशल मे सुस्वरता से भी अधिक व्यञ्जकता लय और छन्द की है। पद्य मे दो तत्त्व होते है, प्रज्ञात्मक और अन्तर्वेगीय। प्रज्ञात्मक तत्त्व तो शब्दो मे व्यक्त हो और अन्तर्वेगीय तत्त्व लय मे। प्रत्येक लय का अलग धर्म होता है और वह मन की विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होती है। आइम्बिक लय वर्णन और ध्यानात्मक विषयो की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। ट्रौकेक लय आइम्बिक लय से अधिक त्वरित और उल्लसित है और उल्लास के विषयो अथवा वेगमय वर्णनो की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। एनैपेस्टिक लय एकस्वरता के दोष मे पड जाती है। डैक्टिलिक लय मे साग्रामिक अनुवाद है और उल्लसित और सोत्साह विषयो की अभिव्यञ्जना के लिए उपयुक्त है। लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित

---

१ 'Tis pity learned virgins ever wed
With persons of no sort of education,
Or gentleman, who, though well born and bred,
Grows tired of scientific conversation;
I don't choose to say much upon this head,
I'm a plain man and in a single station
But—Oh ! ye lords of ladies intellectual
Inform us truly, have they not henpecked you all ?

२ I have put my days and dreams out of mind
Days that are over, dreams that are done,

३ Delight the rootless flower,
And love the bloomless bower,
Delight that lives an hour,
And love that lives a day,

करने की उसमे विशेष क्षमता है। लय हमे हँसा सकती है, लय हमे रुला सकती है, लय हमे अपकृष्ट कर सकती है, लय हमे उत्कृष्ट कर सकती है, लय हमे सुला सकती है, लय हमे जगा सकती है, लय हमे शान्त कर सकती है, लय हमे उन्मत्त कर सकती है, लय हमे ससार मे अनुरक्त कर सकती है, लय हमे उदासीन कर सकती है, लय हमे हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है, लय हमे ब्रह्मप्राप्ति की ओर उन्नत कर सकती है। लय हमारे शरीर मे हरकत कर देती है, हम ताल देने लगते है, हम नाचने लगते है। लय हमारे हृदय, हमारे फेफडे, हमारी नाड़ियो को प्रभावित कर देती है। लय के प्रभाव के हेतु लय का विवेकपूर्ण उपयोग होना चाहिये। भाव की जहाँ जैसी गति हो वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिये। नीचे के प्रत्येक पद्यांशो मे लय किस उपयुक्ता से बदल जाती है —

नाउ परसूइङ्ग, नाउ रिट्रीटिङ्ग,
नाउ इन सर्कलिङ्ग ट्रूप्स दे मीट
टु ब्रिस्क नोट्स इन केडेंस बीटिङ्ग
ग्लास देयर मैनी ट्विकलिङ्ग फीट,
स्लो मीटिङ्ग स्ट्रेन्स देयर क्वीन्स ऐप्रोच डिक्लेयर;
इन ग्लाइडिङ्ग स्टेट शी विन्स हर ईजी वे।[१]

पहली चार लाइनो मे लय ट्रौकेक है और आखिरी दोनो लाइनो मे लय आइम्बिक है।

विद मैनी ए वीयरी स्टेप, एण्ड मैनी ए ग्रोन,
अप द हाई हिल दी हीव्स ए ह्यूज राउण्ड स्टोन;
द ह्यूज राउण्ड स्टोन रेजेल्टिङ्ग विद ए बाउण्ड,
थण्डर्स इम्पेचुअस डाउन, एण्ड स्मोक्स एलाङ्ग द ग्राउण्ड।[२]

इस पद्यांश में तीसरी लाइन के मध्य तक श्रमसूचक मन्द गति है और उसके बाद पत्थर के लुढकने के वेग दिखाने के लिए गति मे वेग आ जाता है और इस परिवर्तन को दिखाने के लिए कवि आइम्बिक लय को छोड कर ट्रौकेक लय का प्रयोग करता है।

---

[१] Now pursuing, now retreating
Now in circling troops they meet
To brisk notes in cadence beating
Glance their many twinkling feet
Slow meeting strains their queen's approach declare;
In gliding state she wins her easy way.

[२] With many a weary step, and many a groan,
Up the high hill he heaves a huge round stone,
The huge round stone resulting with a bound,
Thunders impetuous down, and smokes along the ground.

अंग्रेजी मे स्वराघात होने के कारण गद्य मे भी लय होती है। गद्य तार्किक वाक्याशो मे विभक्त होती है और प्रत्येक वाक्याश मे एक स्वराघात होता है। कोई शब्द दो या अधिक टुकडो मे विभक्त नही होता। गद्य की लय का सिद्धान्त अनेकरूपता और अनियमितता है। पद्य की लय मे एकरूपता और नियमितता होती है। उसमे लय और पद का ढाँचा भी होता है। ऐसा व्यवस्थित ढाचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द, प्रवेक्षण (एण्टिसीपेशन) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दो का एक दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ट कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहननिद्रा-सी ले आता है और सुविकारता, सूचकता, और सवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ-प्रकाशन करता है। यदि अतर्वेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि अंतर्वेग अति मन्द हो, तो छद उसको उत्कृष्ट कर देता है। छद कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभव को छद साधारण जीवन के रागो से पृथक कर देना है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द, कल्पना को प्रज्वलित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और श्रोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।

भारतीय साहित्यशास्त्रियो ने श्रोतव्य रचनाकौशल का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। माधुर्य, ओज, और प्रसाद तीनो गुणो की उत्पत्ति के लिये अलग-अलग अक्षर और शब्दो की बनावट निर्दिष्ट की है। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, ङ, ञ, ण, न, म, संयुक्त वर्ण, ह्रस्व र और ण, समास का अभाव या अल्प समास के पद माधुर्य गुण के मूल हैं। यह गुण वैदर्भी रीति के अन्तर्गत है और उपनागरिका वृत्ति मे अधिकता से होता है। इसका सम्बन्ध श्रृङ्गार, करुण, और शान्त रस के साथ है। टवर्गी अक्षर, सयुक्ताक्षरो की बहुतायत और समासयुक्त शब्द ओज गुण के मूल हैं। यह गुण गौडी रीति के अन्तर्गत है और परुषा वृत्ति मे अधिकता से होता है। इसका सम्बन्ध वीर और रौद्र रस से है। स्वच्छ और साधु भाषा, समस्त पदो की कमी और जटिल और ग्रामीण शब्दो का अभाव प्रसाद गुण के मूल हैं। इस गुण वाली भाषा मे सुनने मात्र से ही अर्थप्रतीति हो जाती है। यह गुण सभी रसो और रचनाओ मे व्याप्त रह सकता है।

श्रोतव्य रचनाकौशल के नियमो मे वास्तविकता पूरी नही है। किसी शब्द अथवा लय का स्वारस्य उसके भाव से अक्सर प्रभावित हो जाता है। मैलेरिया शब्द बडा सरस है। उसमे स्वरों के साथ म, ल, और र का प्रयोग है। एक हब्शी की स्त्री अपने बच्चे को मैलेरिया कह कर पुकारा करती थी। परन्तु बुखार का सूचक होने के कारण यह शब्द हमे सरस नही प्रतीत होता। इसी प्रकार आई० ए० रिचार्ड्स के दिये हुए नीचे के दो उदाहरणो से स्पष्ट है कि एक ही लय विषयो की विभिन्नता के कारण दो भिन्न रसो का आस्वादन देती है—

(क) डीप इएटु ए ग्लूमी ग्रॉट
(ख) डीप इएटु ए रूमी कॉट

कला के एस्थैटिक विवेचन से ये सिद्धान्त निश्चित होते है—

१. कलाकृति में व्यक्तित्व हो।

२. कलाकृति का अनुभव मूल्यवान् हो। अनुभव के एकीकृत तत्त्वों में जितनी विभिन्नता हो, कृति उतनी ही मूल्यवान् होगी।

३. ध्यान-योग की अवस्था में कलाकृति का रूप कलाकार और माध्यम के सम्मिश्रण द्वारा बिना किसी प्रकार की रुकावट की सफलता से निकला हो। कलाकृति से हमें सौन्दर्य की अनुभूति हो, अर्थात्, कलाकृति के अनुभव में हमें अपनी निर्मायक प्रवृत्ति की तुष्टि प्रतीत हो।

४. कलाकृति में व्यापकता हो। उसमें सामाजिक झङ्कार हो और सब संस्कृत सहृदयों को उसकी प्रेरणा हो।

५. कलाकार को रचनाकौशल पर पूरा अधिकार हो। वह रूपात्मक तत्वों को विषयात्मक तत्वों से ऐसा उपयुक्त करे कि दोनों का पार्थक्य नष्ट हो जाय।

ये एस्थैटिक मानदण्ड ही स्थायी मूल्य के सिद्धान्त हैं। इन्ही के अनुसार कलाकार को कलासृष्टि करनी चाहिये और इन्ही के अनुसार आलोचक को कलाकृति की जाँच करनी चाहिये।

६

ज्ञान हेतु ज्ञान (नौलिज फॉर द सेक ऑफ़ नौलिज) क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता तत्त्ववेता का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता मे प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नही है। ज्ञान जीवन के हेतु हो सकता है, आत्मा के प्रत्यक्षीकरण-हेतु हो सकता है, ब्रह्म के प्रत्यक्षीकरणहेतु हो सकता है। इन क्रियाशीलताओ मे प्रयोजन क्रिया के बाहर है और साधन से पृथक् है। जीवन हेतु जीवन (लाइफ फॉर लाइफस सेक) शुद्ध क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता अनुभवनिष्ठ मनुष्य का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता मे भी प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नही है। जीवन कुटुम्बियो और मित्रो के लिये हो सकता है, जाति के लिये हो सकता है, देश के लिये हो सकता है, ससार के लिये हो सकता है, प्राणीमात्र के लिये हो सकता है। इन क्रियाशीलताओ मे प्रयोजन साधन के बाहर है और साधन से पृथक् है। इसी प्रकार कला

हेतु कला (आर्ट फॉर आर्ट्स सेक) शुद्ध क्रियाशीलता है। यही क्रियाशीलता कलाकार का उच्चतम आदर्श है। इस क्रियाशीलता मे भी प्रयोजन आन्तरिक है और साधन से पृथक् नही है। कला सुख के लिये हो सकती है, सत्य और नैतिकता के उपदेश के लिये हो सकती है। इन क्रियाशीलताओ मे प्रयोजन साधन के बाहर है और साधन से पृथक् है। कला के इन्ही तीनो प्रयोजनो पर हमे यहाँ विचार करना है।

कलाहेतुकला शुद्ध क्रियाशीलता है। शुद्धता कैसी ? एम० ब्रैमोण्ड का कहना है कि शुद्ध कला प्रभाव से मालूम हो सकती है। कविता के विषय मे उसका कहना है कि शुद्ध कविता सुसस्कृत पाठक के मन मे ध्यान की ऐसी शान्त अवस्था ले आती है जो प्रार्थना का उच्चतम रूप है। इसका अर्थ उसके अनुसार यह है कि भक्त की तरह अलौकिक आनन्द से भरी हुई शान्त अवस्था ध्यानस्थ कवि की भी होती है और कवि शब्दो की शक्तियो का प्रयोग करके इस अवस्था को पाठको के मन मे पैदा कर देता है। इस मत की आलोचना करता हुआ मिडिल्टन मरे कहता है कि प्रत्येक अनुभव का एक प्रज्ञात्मक तत्त्व होता है और एक अन्तर्वेगीय तत्त्व होता है। दोनो तत्त्व अनुभव के अवियोज्य पहलू है। शुद्ध कविता समस्त अनुभव को, प्रज्ञात्मक और अन्तर्वेगीय पहलुओ सहित उसकी शारीरिक समग्रता मे, उपयुक्त शब्दो द्वारा इस प्रकार निवेदिन करती है कि कवि का अनुभव ज्यो का त्यो पाठक के मन मे उपस्थित होता है। शुद्धता की यह व्याख्या कलाहेतुकला के सिद्धान्त के अनुसार नही है। लैस्लीज एबरक्रोम्बी का कहना है कि शुद्ध कविता वही है जो शुद्ध अनुभव की अभिव्यक्ति करे। शुद्ध अनुभव क्या है ? शुद्ध अनुभव वही है जिसका हेतु स्वयं अनुभव हो, जिसका मूल्याङ्कन सत्य, नैतिकता और उपयोगिता के वाह्य मानदण्डो से न हो। फूलो से आच्छादित गुलाब का पौधा, किसी बालिका का नृत्य, कोई पहाडी दृश्य, लहरो की गति, सूर्योदय और सूर्यास्त, नदियो का सङ्गम—ये सब हमको शुद्ध अनुभव का आनन्द देते हैं और बाहर के किसी मानदण्ड से ऐसे अनुभवो का मूल्याङ्कन नही हो सकता। पर आगे बढकर एबरक्रोम्बी प्रश्न करता है, कि इस अनुभव की सीमा कहाँ है ? वह स्वय जवाब देता है—कही नही। सब प्रकार के अनुभव, संसार की वस्तुओ के और मन की अवस्थाओ के शुद्ध अनुभव हो सकते हैं यदि उनका निर्देश उन्ही तक रहे। शुद्धता की यह व्याख्या भी कलाहेतुकला के सिद्धान्त के अनुसार नही है। ये व्याख्याएँ तो कला का वास्तविक रूप दिखाती हैं। मैलार्मे का कहना है कि शुद्ध कविता उदासीन विषयो को शब्दो के आनन्दप्रद सङ्गीतात्मक प्रतिरूप मे व्यक्त करती है। इस अर्थ मे कविता की शुद्धता विषय-वस्तु के गुण से पूर्णतया स्वतन्त्र है शुद्ध कविता केवल शाब्दिक सङ्गीत है। शुद्धता की यह व्याख्या कलाहेतुकला के सिद्धान्त से सङ्गत है। कलाहेतुकला का सिद्धान्त विषय-वस्तु की छाँट के विमुख है। चाहे जैसा विषय हो—असत्य हो, अनैतिक हो, अश्लील हो, हानिकारक हो—यदि कलाकार विषय को ऐसा रूप देने मे समर्थ होता है कि उसमे निर्मायक प्रेरणा की तुष्टि की, अर्थात् सौन्दर्य की, अनुभूति होती है, तो वह कला का उत्पादन करता है। कला रचनाकौशल से ही

होती है, उसकी सिद्धि किसी बाहर के उद्देश्य तक नही जाती, उपकरणो को कौशल से रूप देना ही कला का प्रयोजन है। कलाकार अपनी रचना मे कोई ऐसा तत्व प्रविष्ट न करे जो विषय की अभिव्यक्ति मे बाधक हो, पेटर के शब्दो मे, कलाकार की समस्या उद्वर्त अशो को हटाना है। थ्योफाइल गौटिअर ने कलाहेतुकलावाद का आदर्श इस प्रकार उपस्थित किया है, "शैली की विशुद्ध सम्पूर्णता, उपयुक्त एक अनिवार्य शब्द की खोज, अपने सुख के लिए लिखना, किसी अन्य व्यक्ति की परवाह न करना, कभी-कभी जानबूझ कर सासारिक भद्र पुरुषो की चेतना को क्षोभ देना—कलाकार की यही चेष्टा होनी चाहिये।" कलाहेतुकलावादी, क्योकि विषय के गुण को निरर्थक समझता है, निवेदनीयता को भी अनावश्यक मानता है।

कलाहेतुकलावादी दो भ्रान्तियो मे पड जाता है। पहली भ्रान्ति यह है कि वह इस बात को भूल जाता है कि सब प्रकार की कला अपनी जड यथार्थ मे रखती है। पेटर, जिस पर कलाहेतुकलावाद का प्रभाव था, अपने 'शैली' नामक निबन्ध के अन्त मे लिखता है कि वह कला भी महान् होगी जो रचनाकौशल-सम्बन्धी गुण रखती हुई मनुष्य के आनन्द की वृद्धि करे, जो दुखियो का दुख-निवारण करे, जो हमारी पारस्परिक सहानुभूति को विस्तृत करे, जो पुराने और नये सत्यो को इस प्रकार उपस्थित करे कि वे ससार मे हमारी जीवन-यात्रा को सुगम करें, जिनमे मानव-आत्मा का प्रकाश हो। ब्रैड्ले का भी यही कहना है कि कला का ससार वास्तविक ससार से स्वतन्त्र अवश्य है, परन्तु कही न कही, किसी निम्नस्तर मे दोनो मे सम्बन्ध है। दूसरी भ्रान्ति यह है कि कलाहेतुकलावादी कलात्मक क्रियाशीलता को कोई असम्बन्धित विचित्र क्रिया समझता है जिसके कारण उसकी यह धारणा होती है कि कला के लिए निवेदनीयता आवश्यक नही है। हम पिछले भाग मे कह चुके है कि कला सामाजिक है और निवेदनीय है। कलावस्तु को रूप देना ही उसे व्यापक सार्थकता देना है और फिर मनुष्य के सामाजिक होने के कारण उसकी सब मानसिक क्रियाओ मे सामाजिक निर्देश होता है। कला चेतन अथवा अचेतन रूप से ऐसे विषय की ओर झुकती है जिसका मनुष्य के लिए मूल्य होता है।

कला सुख के हेतु है। यह सिद्धान्त बडा प्राचीन है और तब तक इस सिद्धान्त का आदर रहा जब तक कलामीमासन ठीक प्रकार से न हो पाया। कलामीमासन व्यवस्थित रूप मे अठारहवी शताब्दी से पहले की चीज नही है, क्योंकि कल्पन। पुनरुपस्थिति और अभिव्यक्ति से प्रत्यय तब ही से स्पष्ट हुए है। पहला कलामीमासन चाहे एरिस्टॉटल और लॉन्जायनस के विचारो मे आलोचना के गहनतम प्रश्नो पर प्रकाश डालता है फिर भी वह कला का वैज्ञानिक अध्ययन नही कर पाया था। कलामीमासन के वैज्ञानिक होते ही सुख के सिद्धान्त की उपैक्षा होने लगी और आधुनिक काल की कलामीमासन मे उसे पाखण्डस्थ माना जाता है। आधुनिक विज्ञान निश्चित करता है कि सुख, न सवेदना का गुण है और न प्रेरणा की विशेषता।

वह प्रेरणा के भाग्य की विशेषता है। जब कोई प्रेरणा सफल क्रियाशीलता की ओर अग्रसर होती है तो सुख की अनुभूति होती है और जब कोई प्रेरणा असफल क्रियाशीलता की ओर बढती है तो असुख की अनुभूति होती है। क्योकि सुख की अनुभूति बडी वाञ्छनीय है, सुख की वाञ्छनीयता के कारण जीवन या कला का उद्देश्य मान लिया है। धार्मिक पुस्तको मे दु ख की निवृति और सुख प्राप्ति जीवन का साधारण उद्देश्य बनाया जाता है। परन्तु सुख सफल क्रियाशीलता का प्रभाव है, वह कारण कैसे बन सकता है ? जब कोई मनुष्य अपने जीवन के कार्यो मे सफल होता है तो वह सुख की अनुभूति करता है और जब वह अपने जीवन के कार्यो मे विफल होता है, वह असुख की अनुभूति करता है। इसी प्रकार जब कोई कलाकार अपनी निर्मायिक प्रेरणा को सफल क्रियाशीलता की ओर बढाता है वह सुख की अनुभूति करता है और जब वह अपनी निर्मायिक प्रेरणा को असफल क्रियाशीलता की ओर बढता पाता है तो वह असुख की अनुभूति करता है। पाठक के दृष्टिकोण से भी ऐसा ही है। जब कोई पाठक कृति से जागृत निर्मायिक प्रेरणा को सफल या असफल क्रियाशीलता की ओर जाता पाता है तभी उसे सुख या असुख की अनुभूति होती है। सुख सफल क्रियाशीलता की विशेषता है, अलग से किसी क्रियाशीलता का कारण नही।

कला शिक्षा के लिए हो सकती है। यह भी भ्रम है गोकि इसमे कुछ सार्थकता है। इस भ्रम ने भी रचना और आलोचना को बहुत कुछ पथभ्रष्ट किया है। यूनानी साहित्य यूनानियो के धर्म और व्यवहार से सम्बन्धित है, और होकर हिसोइड, सोलन, और दूसरे कवियो को वे अपने गुरु और शिक्षक मानते थे। वे अपने नैतिक और धार्मिक विश्वास उन्ही से पाते थे। जो यूनानियो की श्रद्धा होमर के प्रति थी वही श्रद्धा रोमियो की वर्जिल की ओर थी। यूनानी लोग सब प्रकार की समस्याओ को सुलझाने के लिए 'एनीड' का अध्ययन करते थे। 'एनीड' उनके लिए विद्या-दैविक-कोष था। पुनरुत्थान के समय मानवजाति को मध्यकालीन स्वमताभिमान और शुष्कता से बचाने के लिए आलोचको ने युनानी और रोमी साहित्य के अध्ययन का आदेश दिया। इस प्रवृति को मानववाद कहते है। इसके पहले प्रकाश पैट्रार्क और डाण्टे थे और बाद के स्कैलीगर, इरैस्पस, मौण्टेन थे। उनका उद्देश्य मानवबुद्धि को अन्धविश्वास से मुक्त करने का था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूनानियो का समृद्ध मानवता ही कृतकार्य हो सकती है। बस, रचना मे यूनानी वृत्ति का अनुकरण होने लगा और आलोचना इसी वृति की विशेषताओ से रचना की समीक्षा करने लगी। मानववाद का विकसित फूल शेक्सपिअर की इस अभिव्यक्ति मे देखा जा सकता है।— "ह्वाट ए पीस ऑफ़ वर्क इज़ मैन ! हाऊ नोबल इन रीजन ! हाऊ इनफाइनाइट इन फैकल्टी ! इन फार्म ऐण्ड मूविंग हाऊ एक्सप्रेस ऐण्ड ऐडमिरेबल ! ईन ऐक्शन हाऊ लाइक ऐन ऐंजिल ! इन ऐप्रीहेशन हाऊ लाइक ए गाड ! दि ब्यूटि आफ दि वर्ल्ड ! दि पैरागन ऑफ ऐनिमल ! ये विचार मध्यकालीन सस्कृति मे असम्भव थे। मानववाद के प्रसार के अतिरिक्त साहित्य

साम्प्रदायिक मतो का भी प्रचार करता रहा है। लूथर ने सदसद्विवेक बुद्धि को श्रद्धा के सिद्धान्त के समर्थन और बाइबिल के नियामक अधिकार के समर्थन द्वारा मुक्त किया। प्रोटैस्टैएट मत के प्योरीटन सम्प्रदाय का साहित्य पर सीधे और उल्टे दोनो ढङ्गो से बडा प्रभाव पडा। सत्तरहवी शताब्दी मे डन, हर्बर्ट, वोहन, और दूसरे प्योरीटन कवियो मे भक्ति का तत्त्व प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित है। डीइज्म और मैथौडिज्म ने अठारहवी शताब्दी के साहित्य को प्रभावित किया। कूपर, वर्डसवर्थ, टैनीसन और ब्राउनिङ्ग मे अपने-अपने ढङ्ग का ईश्वरवाद प्रधान है। इनके अतिरिक्त रोमी कैथलिक मत भी साहित्यकारो से गद्य और पद्य द्वारा अपने सिद्धान्तो का प्रसार करता रहा है। मध्यकालीन नाटको मे मानव-आत्मा के लिये शैतान और फरिश्तो का सङ्घर्ष दिखाना विषयवस्तु की मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवी शताब्दी मे कीब्ल, न्यूमैन, फ्रूड, और प्यूजी ने कविता और साहित्य द्वारा चर्च की स्थिति और कार्य का स्पष्टीकरण किया, कि चर्च मानव-सस्थाओ से ऊँची है और उसके अधिकार और सस्कार विशेष महत्त्व के हैं और उसके पादरियो को स्वय ईसा भगवान् की नियुक्ति प्राप्त है। फ्रान्सिस टोम्पसन की अभ्दुत रचना कैथलिक सस्कृति का कविता के लिये अद्वितीय उपयोग है। हाल मे नवीन मानववाद और मार्क्सवाद ने साहित्य को अपने-अपने विचारो के प्रसार के लिये इस्तेमाल किया है। नवीन मानववाद धर्म का स्थान ले लेना चाहता है। उसका मुख्य सिद्धान्त आत्म-नियन्त्रण है जिसे कभी उसका बैबिट आन्तरिकडाट भी कहता है। प्रजातन्त्रवाद मे आन्तरिक रोक वही काम करती है जो राजकीय अधिकार राजा के राज्य मे करता है। बाह्य नियन्त्रण को आन्तरिक-नियन्त्रण से पूरा करके नया मानववाद प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता प्रदान करता है। नये मानववाद का विश्वास मानव-सस्कृति मे है। सस्कृति नैतिक और आध्यात्मिक प्रत्ययो का उच्चतर स्तर पर समन्वय है। ऐसे मानववादी की धारणा व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति के निम्नतर स्तर पर नही, वरन् जाति उन्नति के उच्चतर स्तर पर केन्द्रित होती है। मानववादी साहित्यकार का आदर्श साहित्य को उच्चतम कल्याण का सहायक बनाना है। मार्क्सवाद समाजवादी मनुष्य को उसके तात्त्विक सम्बन्धो मे चित्रित करने के हित मे है। वह, नये मानववाद के विरुद्ध, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मनुष्य मे आत्मकेन्द्रण का दोष ले आती है। समाज मे रहकर मनुष्य सहयोग द्वारा अपने लिये आप स्वतन्त्रता पैदा करता है। प्रकृति के और मानसिक गतिशीलता के नियमो को जान कर सहयोग द्वारा ही वह प्रकृति पर आधिपत्य जमाता है। ऐसे सहयोग द्वारा मार्क्सवादी आर्थिक उत्पादन की वृद्धि से समस्त समाज को अर्थिक सङ्घर्ष का विनाश करके स्वतन्त्र बनाता है। मार्क्सवादी का विश्वास है कि मनुष्य के जीवन मे आर्थिक प्रेरणा ही मुख्य प्रेरणा है। इसी प्रेरणा के प्रभाव से मानव सस्कृति का विकास हुआ है। हमारे मत, हमारे दर्शन, हमारी सामाजिक व्यवस्था सब का निश्चय करने वाली है हमारी आर्थिक प्रेरणा। मार्क्सवादी इस प्रेरणा को व्यक्ति से लेकर समाज को प्रदाने करता है और इस प्रकार मानव स्वभाव के बहुत से दोषो को दूर करने की चेष्टा करता

है। उसका विचार है कि व्यवस्थित आर्थिक उत्पादन के द्वारा व्यतीत जीवन ही नैसर्गिक जीवन है और जब मनुष्य समाजवादी आदर्शों को पूर्णतया सामाजिक सहयोग मे सम्पादित कर लेगा तभी उसके नैसर्गिक स्वभाव का आविर्भाव होगा। जीवन मे सहयोगी निष्कपटता द्वारा एक अद्भुत आभा आ जायगी। ऐसे मानव-जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य बडी ऊँची कोटि का साहित्य होगा, जिसके सामने साम्राज्यवादी अथवा प्रजातन्त्रवादी साहित्य झूठ और धोखे का निर्माण प्रतीत होगा। मार्क्सवादी साहित्य को ऐस्थैटिक क्रियाशीलता तो मानता ही है, पर वह केवल रूप से सन्तुष्ट नही होता, विषय-वस्तु की विशेषता पर उसका अधिक ध्यान होता है। विकसित समाजवाद आने से पहले प्रचारक मार्क्सवादी साहित्य को दो कार्यो का साधन समझता है—श्रम की कीर्ति और धनिक सस्था की अपकीर्ति। वह साहित्य को सेवा का यन्त्र मानता है, पलायन का मन्दिर नही। उसके लिये साहित्य का सामाजिक निर्देश प्रधान है।

कलाकार का उद्देश्य शिक्षा और उपदेश है। यह सिद्धान्त भी सुख के सिद्धान्त की तरह कला का रूप न समझे जाने के कारण प्रचलित हुआ। प्लैटो ने यूनानी साहित्य का निरीक्षण करके यह निश्चित किया कि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बनाता है और इसी से उसका प्रभाव पाठको पर बुरा पडता है। दूसरे बहुत से पुराने सुधारक आलोचको का भी यही मत था। इस आलोचना से प्रभावित होकर आलोचको को सूझ हुई कि यदि साहित्य अनैतिक और असत्य को रोचक बना सकता है तो वह नैतिकता और सत्य को भी रोचक बना सकता है। फल यह हुआ कि आलोचना ने नैतिकता और सत्य की शिक्षा को साहित्य का उद्देश्य मान लिया। कला तो जीवन और प्रकृति के दृश्यो और घटनाओ और उनके सम्भाव्यो को कलात्मक रूप दे कर पुनरुपस्थित करती है। इससे परे उसका कोई कार्य नही। यदि कला मे नैतिकता और सत्य आता है तो दृश्यो और घटनाओ की विशेषता से। कला सीधे न तो नैतिकता का उपदेश देती है और न सत्य का।

कला का कोई चेतन उद्देश्य नही होता, वह स्वगत सम्भाषण के स्वभाव की है। कला की नैतिकता तो कलाकार का व्यक्तित्व का रङ्ग है। यदि कलाकार का व्यक्तित्व नैतिकता के रङ्ग मे रँगा हुआ है तो उसकी कला अवश्य नैतिक होगी, क्योकि कला पर व्यक्तित्त्व की छाप होती है। और कलाकार का व्यक्तित्त्व अवश्य नैतिक होना चाहिये, नही तो उसकी कला कलाग्राहियो को कोई मूल्य न रखेगी। मानव-जीवन का नैतिक पहलू सर्वोच्च महत्त्व का है। समाज का रूप परिवर्तित हो जायगा और मनुष्य जङ्गली अवस्था मे फिर से आ जायगा यदि हमारे व्यवहार मे अनैतिकता आ जाय। नैतिक मनुष्य ही मनुष्य है। इसी से नैतिकता का मानदण्ड सब आलोचको को ग्राह्य है, यद्यपि आधुनिक काल मे नवीनता और मौलिकता की ओर रुचि होने के कारण इसके विरुद्ध मत प्रकट किया जाता है। उत्कट शब्द उत्कट आत्माओ से

ही निकलते है, यह अटल नियम है। कवि का उत्पादन तभी अमर और चमत्कारी होगा जब उसकी आत्मा उदार और अत्युच्च होगी। यूनानी आलोचक लॉन्जायनस अपने समय मे अभ्युदात्त साहित्य के अभाव का कारण मनुष्य की द्रव्योपार्जन और अपव्यय की वृत्तियाँ बताता है, ये दोनो वृत्तियाँ बडा भयङ्कर है और इन्ही से गर्व, निर्लज्जता और आत्मसङ्कीर्णता के दोष आते हैं। डाण्टे अपनी 'डै वल्गैराई एलोक्विओ' मे काव्य के लिये प्रेम, नीति और युद्ध ही उपयुक्त विषय समझता है। सिड्नी सब कलाओ को सर्वोच्च ज्ञान आर्कीटैक्टोनिके की दासियाँ मानता है और आर्कीटैक्टोनिके का प्रयोजन सद्विवेक ही नही बल्कि सदाचरण भी निर्धारित करता है। बैन जॉन्सन का कहना है कि कविता का मुख्य उद्देश्य जीवन की श्रेष्ठ प्रणाली से सूचित करना है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किसी मनुष्य के लिये अच्छा कवि होना तब तक असम्भव है जब तक वह अच्छा मनुष्य न हो। इन्ही शब्दो की प्रतिध्वनि मिल्टन के 'स्मैक्टिम्नस' मे सुनाई पडती है, "जो कोई कवि होने की चेष्टा करता है उसे स्वय सच्चा काव्य होना चाहिये, और उसके हृदय मे न्याय, विवेक और कल्याण की सम्पूर्ण प्रतिमाएँ विराजमान होनी चाहिये।" वर्ड्सवर्थ कवि को उपदेशक मानता है। न्यूमैन हृदय की नैतिक गति को ही काव्यात्मक मन की वैधिक और वैज्ञानिक गति मानता है। आर्नल्ड का आग्रह है कि जिस कविता मे नीति के विरुद्ध विद्रोह है उसमे जीवन के विरुद्ध विद्रोह है और जो कविता नीति से उदासीन है वह जीवन से ही उदासीन है। रस्किन असन्दिग्ध शब्दो मे घोषित करता है कि कला की विशेषता और उसका व्यापार नीति के नियमो का निवेदन करना है। टॉलसटॉय के मतानुसार कला की वस्तु का मूल्य तत्कालीन धार्मिक चेतना से निर्धारण करना चाहिये और धार्मिक चेतना से टॉलसटॉय का अभिप्राय जीवन के उच्चतर अर्थ का बोध है और जीवन का वह उच्चतर अर्थ मनुष्यो का पारस्परिक ऐक्य और सब मनुष्यो का ईश्वर से ऐक्य निश्चय करता है। आई० ए० रिचार्ड्स ने शिराशास्त्र और मनोविश्लेषण का आलोचनात्मक प्रयोग करके आलोचको को वर्तमान काल मे बडे अनुराग से अपनी ओर आकृष्ट किया है। वह रूढ नैतिकता की जगह प्रकृतिवाद विषयक नैतिकता के पक्ष मे है। कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है और मूल्यवान् अनुभव वह है जिसमे विभिन्न अङ्गभूत प्रेरणाओ की इस प्रकार तुष्टि होती है कि यह तुष्टि किन्ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणाओ की तुष्टि के रास्ते मे नही आती। वह शान्त आनन्द जो किसी मूल्यवान् अनुभव मे अन्तरस्थ होता है, अनुभव को वह अनुभूति देता है कि उस अनुभव के द्वारा उसका व्यक्तिगत और सामाजिक व्यक्तिगत कल्याण है। इस प्रकार आई० ए० रिचार्ड्स नैतिकता को कलाकार के लिये स्वाभाविक बना देता है।

कलाकार नैतिक होता है, यद्यपि जानबूझ कर नही। यदि वह जानबूझ कर उद्देश्य से नैतिक हो तो वह उपदेशक हो जायगा, कलाकार नही रहेगा। कलाकार सत्यग्राही भी होता है, गोकि वह तथ्य के सत्य का ग्राही नही होता बल्कि होता है अत्यर्थ के

स य का। यदि वह तथ्य के सत्य का ग्राही हो, तो वह इतिहासकार या वैज्ञानिक हो जायगा, कलाकार नही रहेगा। एरिस्टॉटल ने प्लैटो को उसकी कविता पर झूठा आक्षेप लाने पर यह प्रत्युत्तर दिया था कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से अधिक गम्भीर होता है। कवि प्रत्यय के सत्य से नही डिगेगा, तथ्य के सत्य से उसका कोई सरोकार नही। वह अपने ही रचे हुए पात्रो और घटनाओ से प्रत्ययात्मक सत्य का निदर्शन करता है, और क्योकि उसके पात्र और उसकी घटनाएँ वास्तविक नही होती, उसे झूठा नही कहा जा सकता। एरिस्टॉटल के अनुरूप वर्ड्सवर्थ कहता है कि कविता का उद्देश्य व्यापक और सर्वदेशीय है, वैयक्तिक और स्थानीय नही। कविता, वस्तु के प्रत्यय पर केन्द्रित होती हैं। कवि, वस्तु के सत्य को अपनी अन्तर्दृष्टि से सीधे भी जान जाता है और साधारणीकरण से भी जान लेता है। किसी वस्तु का सारभूत प्रत्यय उस जाति की सब वस्तुओ मे प्रविष्ट होता है, परन्तु प्रकृति मे आविर्भूत होने के कारण किसी वस्तु मे वह पूरी तरह आविर्भूत नही होता। कवि एक जाति की बहुत सी वस्तुओ को देखकर कल्पना की उडान से वस्तु के सारभूत प्रत्यय को जान लेता है और फिर उसे अपनी स्वतन्त्र रचना मे स्थिर कर देता है। इस प्रकार कवि का प्रयोजन उच्चतर सत्य है। कोलरिज के मन मे यही धारणा होगी जब उसने यह कहा था कि तात्त्विक रूप से सुन्दर वही है जिसमे बहुत्व होते हुए भी एकत्व हो जाता है। कारलायल की भी यही धारणा है जब वह कहता है कि सब सच्ची कला तथ्य की आत्मा का बन्धनमुक्त होना है। गॉल्सवर्दी का भी यही विचार है कि कला मानव-स्फूर्ति की वह कल्पनात्मक अभिव्यञ्जना है जो भाव और प्रत्यक्षीकरण को रचनाकौशल द्वारा मूर्त्त रूप देकर व्यक्ति मे अनात्मिक अन्तर्वेग उत्तेजित कर उसे सर्वव्यापक से मिला देता है। वह आलोचक जो उच्चतर सत्य के मानदण्ड को न मान कर कविता को मिथ्या का घर निश्चित करता है, वही गलती करता है जो वह नीतिप्रचारक करता है जो कला और साहित्य को घृणार्ह घोषित करता है।

प्लैटो सौन्दर्य को ऐकान्तिक मानता था। आत्मा को सौन्दर्य की अनुभूति जन्म से पहले होती है और जीवन मे सौन्दर्य की अनुभूति स्मृति द्वारा होती है। वह सौन्दर्य को सत्य और शिव से अभिन्न समझता था। तीनो को वह ऐश्वर्य प्रकटन मानता था। इस विचार ने शताब्दियो तक सौन्दर्यशास्त्र और कला को प्रभावित किया। सौन्दर्य के ऐकान्तिक प्रत्यय की माध्यम मे पुनरुपस्थिति ही कला समझी जाती थी। यह सिद्धान्त प्लैटो के ईश्वरवाद और प्रत्ययो के तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित है।

इस विषय मे आधुनिक विचार मानसिक अनुभव से सम्बन्धित हैं। सत्य, शिव, और सुन्दर, तीनो मूल्य है और तीनो मे से प्रत्येक एक विशेष प्रकार की तुष्टि का द्योतक है। सत्य जिज्ञासा-प्रवृत्ति की तुष्टि है, शिव सामाजिक प्रवृत्ति की तुष्टि है और सुन्दर निर्मायक प्रवृत्ति की तुष्टि है। जब

वाह्य और आन्तरिक जगत् के प्रदत्तो मे सङ्गतता और ऐक्य की अनुभूति होती है और प्रदत्तो की असङ्गतता और अव्यवस्था से पैदा हुई मानसिक बेचैनी दूर हो जाती है तो सत्य की तुष्टि होती है। जैसे ही मनुष्य समाज मे रहना सीखता है, नैतिकता और शिव के भाव आविर्भूत होते है। समस्त नैतिकता मनुष्य की दो प्रतिक्रियाओ पर आधारित है। वे है रोष और कृतज्ञता। रोष और कृतज्ञता व्यावहारिक जीवन के अङ्ग है। ये हमारे अपने कार्यों के प्रति या दूसरो के कार्यो के प्रति असम्मति या सम्मति प्रकट करते है। जब ये प्रतिक्रियाएँ सामाजिक भाव से प्रभावित होती है अर्थात् परिवर्तित होकर नि स्वार्थ हो जाती है तब ये हमारे नैतिक निर्णय को सङ्केतित करती है। फलत वही हमारा या दूसरो का कार्य शिव होगा जिसके लिये नैतिक-निर्णय की सम्मति होगी, और वही कार्य अशिव होगा जिसके लिये नैतिक निर्णय की असम्मति होगी। इस प्रकार सामाजिक भाव, जिसे सदसद्विवेक बुद्धि कह देते है, की तुष्टि शिव है। सुन्दर निर्मायक, अर्थात् प्रकृत माध्यम को रूप देने की, प्रवृत्ति की तुष्टि है। सत्य मे सम्बन्ध व्यक्तित्व और वस्तु मे है, और व्यक्तित्व वस्तु का इतना पीछा करता है कि व्यक्तित्व वस्तु मे लुप्त हो जाता है। इस प्रकार सत्य मे वस्तु प्रधान और व्यक्तित्व गौण है। शिव इच्छाओ की पूर्ति से सम्बन्धित है। वाह्य जगत् मे हम अपनी इच्छाओ की पूर्ति करते है। इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति के लिये हमे अपने को इस प्रकार आदेश देना होता है कि हम अपनी प्रेरणा की तुष्टि मे सामाजिक सुसङ्गति को भङ्ग न करे। इस प्रकार शिव मे अपना व्यक्तित्व प्रधान होता है और वाह्य-जगत् का गौण। सुन्दर मे सम्बन्ध-माध्यम का सन्तुलन होता है। कलाकार अपने व्यक्तित्व को, अपने माध्यम मे इस प्रकार सम्मिश्रण करता है कि माध्यम को उसके प्रकृति के बाहर के गुण दे कर उसे रूप दे देता है। फलत सुन्दर मे व्यक्तित्व और प्रकृत के माध्यम समान महत्त्व के है, और इस विशेषता के कारण हम विज्ञान और नैतिकता को कला की इस ओर और उस ओर की सीमाएँ कह सकते है।

सत्य, शिव और सुन्दर, तीनो मूल्यो मे से प्रत्येक दूसरे दोनो को अपने मे शामिल किये हुए है और स्वयं दूसरो मे शामिल है। सत्य, सत्य है जब उससे अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है। सत्य, शिव है क्योकि वह एक विशिष्ट मानव-प्रेरणा की अपने अधिकार के अनुरूप तुष्टि है। सत्य, सुन्दर है जब वह जिज्ञासा-प्रवृत्ति से उत्तेजित ध्यानात्मक मनोवृति मे उपस्थित प्रदत्तो मे ज्ञानात्मक निष्कर्ष का साक्ष्य पाता है। शिव, शिव है जब वह अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति मे सदसद्विवेक बुद्धि की मर्यादाओ का उल्लङ्घन नही करता। शिव, मनुष्य स्वभाव का सत्य है जैसे अशिव, मनुष्य स्वभाव की भ्रान्ति है। शिव, सत्य का सहायक भी होता है क्योकि यदि वैज्ञानिक ईमानदार न हो तो सत्य के अन्वेषण मे वह अपने को और दूसरो को भी पथ-भ्रष्ट कर देगा। जैसे सत्य का एस्थैटिक पहलू है, वैसे ही शिव का एस्थैटिक पहलू है। शिव, सुन्दर है जब वह सामाजिक भाव से

उत्तेजित ध्यानात्मक मनोवृत्ति मे इच्छापूर्ति को सामाजिक समस्वरता के अनुरूप पाता है। सुन्दर, सुन्दर है जब वह ध्यानयोग की अवस्था मे किसी वस्तु की नानाङ्गो मे एकत्व अर्थात् रूप देखता है। सुन्दर, सत्य है क्योकि दोनो नि स्वार्थ है, क्योकि दोनो विभिन्नता मे एकता देखते है, क्योकि दोनो के अङ्गो मे सङ्गतता होती है। सुन्दर, शिव है क्योकि दोनो का निर्देश समाज से हैं और सुन्दर समस्वरता की अनुभूति देता है।

मूल्यो के इस मीमासन से हमारा प्रयोजन यह है कि सत्य और शिव दोनो मे सुन्दर की अपेक्षा है और कलाकार का नैतिकता और सत्य की ओर झुकाव स्वाभाविक है। बस, बात यह है कि कलाकार को नैतिकता और सत्य मे सुन्दर की अनुभूति अपनी कला मे उपस्थित करनी चाहिये, उनका उपदेश या प्रचार नही करना चहिये।



अनुक्रमणिका